







BIBLIOTHECA INDICA

## COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE  
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, NOS. 1201, 1202, 1213, 1237, 1255.

—o—

### THE CATAPATHA BRĀHMAṆA OF THE WHITE YAJURVEDA WITH THE COMMENTARY OF SĀYANA CR. YA

EDITED BY

ĀCHĀRYA SATYAVRATA SĀMASRAMĪ. F. A. S. B. (HON'Y.)

*Lecturer and M. A. Examiner of the Vedas in the University  
of Calcutta. Honourary Member and Member of the  
Philological Committee of the Asiatic Society  
of Bengal, Member and Moderator of the Vedic  
and the Philosophical Examinations of  
the Board of Sanskrit Examinations,  
Bengal, Behar & Orissa, Editor,  
Author, Commentator, Anno-  
tator, Compiler, Translator.  
& Publisher of different  
Vedic Works &c. &c.*

VOL. VII. KĀṆDA VII.

~~~~~  
CALCUTTA :

Printed by Hitavrata Chatterpādhyāya,  
at the Satya Press, 27, Ghose Lane,  
1910.







॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ शुक्लयजुर्वेदस्य माध्वन्दिनशाखीयम् ॥

श्रीमत्सायणाचार्यकृत-‘वेदार्थप्रकाश’-नामभाष्येण  
सहितम् ।



वङ्गदेशीयाख्यायितिककमितेरनुमत्या व्ययेन च,

सामग्र्यमीतियशोनामाचार्यसम्मतप्रश्नार्थेणा

यथासति संशोध्य सष्टीक्य च सम्पादितम् ।

॥ ७ भा० । ७ का० ॥

( सप्तमकाण्डात्मकः • दशमो भागः )



कलिकाता-राजन्वत्याम् ,

१८६७-संवत्समायं सत्ययज्ञेषु पठतो मुद्रितम् ॥

BI 145

## ॥ अथ सम्पादकोक्तिः ॥



अथेतस्य सप्तमकाण्डस्याभिधानं हस्तिघट इति । क्वचित् पुस्तके 'हस्तिघट'—इति च दृश्यते । त मनुस्मृत्य डा०-वेबर्-  
महादयेन स्वकृततत्काण्डीयस्य भूमिजायाष्टोपन्यां लिखितं हस्तिघटशब्दबोधनम्, तस्यथा—

"The name of this kánda is rather questionable the one above mentioned is taken from M. as the best authority. The other manuscripts in the Mādhyandina as well as the Kāṇva Cākhā call it Hastighata. Is hastin=one? hastishat=seven?"

परं न तत्र किं अपि प्रमाणं दर्शितम्, नापि किञ्चित् फलं तादृशपाठस्य प्रकाशितम् । षष्ठे काण्डे भस्मावहरणान्तं सुखासम्भरणं विहितम्, विधास्यति चाष्टमे सोमयागशेषभूतं चयनव्यापारम्, इह तु सप्तमे सन्ति व्युद्वहनादीनि चयन-पूर्वकत्वानि ।

तानीमानि 'तैत्तिरीयकसंहितायाः पञ्चमकाण्डीय-द्वितीय-प्रपाठकस्य द्वतीयाध्यायवाक्येषु द्रष्टव्यानि', 'तत्तद्वाक्येषु च विशेषतः ।

तस्येतस्य सप्तमकाण्डस्य पाठान्तरादिसम्पादनाय सङ्गृहीतानां मादर्शपुस्तकानां मेवं नामधेयानि कल्पितानि—

- क = संवत्-१६८०-लिखितं २५-पत्रात्मकं पुस्तकं पूर्णम् ।  
 ख = स्वात्मपुस्तकसमकाक्षिकम् हीनाम्यकतिपय मपरपुस्तकम् ।  
 ग = डा०-वेबर्-सम्पादितं ( ख० १८४८-सुद्रितम् ) पूर्णम् ।  
 घ = पाजमेर-प्रकाशितम् ( सं० १८५८-सुद्रितम् ) पूर्णम् ।  
 ङ = पा० स० पु०, १६८१-संवत्तिखितम्, १११-पत्रात्मकम् पूर्णम् ।  
 च = पा० स० पु०, ४८-पत्रात्मकम् , सं० १८६८-लि०, पूर्णम् ।  
 छ = पाश्चायतिकसमितिो लब्धं ( ग० ६० ) ८८-पत्रात्मकं पूर्णम् ।  
 ज = डा०-वेबर्-बाबिलुताक्षराणि विचित्र ग-पुस्तके समाहृतम् ।  
 एषष्टस्त्रादर्यपुस्तकेषु प्रथमचतुष्कं मूलस्यापरचतुष्कं भाष्येति  
 विवेकः ॥

कालीकोटा-राजन्वती । } श्रीसत्त्वतशर्मा ।  
 सं० १३६७ । ख० १३१० । } ( आवसथः, वामचमी, व्याचार्थकः )

अथ

## शतपथब्राह्मणसप्तमकाण्डोऽथ- सूचीपत्राणि ।

### ॥ अथ प्रपाठकसूची ॥

|                                           |                    |      |
|-------------------------------------------|--------------------|------|
| अथ प्रथमः प्रपाठकः ( गार्हपत्यवेचनम्—     | १ अ० १ ब्रा० ) ... | १ ८० |
| अथ द्वितीयः प्रपाठकः ( अथ दर्भक्षत्तमसुप— | २ अ० १ ब्रा० ) ... | १२१  |
| अथ तृतीयः प्रपाठकः ( आत्मनमिं यज्ञीति—    | ३ अ० १ ब्रा० ) ... | २२७  |
| अथ चतुर्थः प्रपाठकः ( कूर्मं सुपदधाति—    | ५ अ० १ ब्रा० ) ... | ३२५  |

### ॥ अथाध्यायसूची ॥

|                                       |                      |      |
|---------------------------------------|----------------------|------|
| अथ प्रथमाध्यायः ( गार्हपत्यं चेन्नम्— | १ प्र० १ ब्रा० ) ... | १ ८० |
| अथ द्वितीयाध्यायः ( अथातो नैर्जती—    | १ प्र० ३ ब्रा० ) ... | ७६   |
| अथ तृतीयाध्यायः ( चितो गार्हपत्यो—    | २ प्र० २ ब्रा० ) ... | १५१  |
| अथ चतुर्थाध्यायः ( आत्मनमिं यज्ञीति—  | ३ प्र० १ ब्रा० ) ... | २२७  |
| अथ पञ्चमाध्यायः ( कूर्मं सुपदधाति—    | ४ प्र० १ ब्रा० ) ... | ३२५  |

## ॥ अथ ब्राह्मणसूची ॥



| संख्या | ब्राह्मणनाम.             | प्र. ब्रा.  | अ. ब्रा. | पृष्ठे |
|--------|--------------------------|-------------|----------|--------|
| १ ...  | युद्धनब्राह्मणम्.        | ... १ १ ... | १ १ ...  | १      |
| २ ...  | प्रजापतिविश्वेवत्रा.     | ... १ २ ... | १ २ ...  | ४६     |
| ३ ...  | नैर्ऋतिब्राह्मणम्.       | ... १ ३ ... | २ १ ...  | ७६     |
| ४ ...  | प्रायश्चित्तब्राह्मणम्.  | ... १ ४ ... | २ २ ...  | ६८     |
| ५ ...  | दर्भस्तम्बब्राह्मणम्.    | ... २ १ ... | २ ३ ...  | १२३    |
| ६ ...  | उदयमसब्राह्मणम्.         | ... २ २ ... | २ ४ ...  | १३३    |
| ७ ...  | सोमब्राह्मणम्.           | ... २ ३ ... | ३ १ ...  | १५१    |
| ८ ...  | व्यातिथ्यब्राह्मणम्.     | ... २ ४ ... | ३ २ ...  | २००    |
| ९ ...  | अग्निमह्यब्राह्मणम्.     | ... ३ १ ... | ४ १ ...  | २२७    |
| १० ... | उपधानब्राह्मणम्.         | ... ३ २ ... | ४ २ ...  | २७८    |
| ११ ... | तदेवै                    | ... ४ १ ... | ५ १ ...  | ३२५    |
| १२ ... | पशुशीर्षोपधानब्राह्मणम्. | ... ४ २ ... | ५ २ ...  | ३६७    |



## ॥ ऋषिनामसूची ॥



| ऋषिनाम.        | प्र. ब्रा. क. | पृष्ठे |
|----------------|---------------|--------|
| बामकदायणः ...  | १. २. ११.     | ५२     |
| शाङ्खिल्यः ... | ३. २. ४२.     | ३८४    |



## ॥ अथ कण्विकासूची ॥

| कण्विकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठं | कण्विकाप्रतीकम्.                  | पृष्ठं |
|-------------------------------------|--------|-----------------------------------|--------|
| अक्रान्तिमं पितरो लोकं ... २        |        | अथ पुरुषशीर्षं मभिलुहोति ३७५      |        |
| अग्ने तव अवो वय इति ... १५६         |        | अथ पुरुषशीर्षं मुहृच्छाति ... ३७९ |        |
| अग्ने दिवो अर्थं मच्छा विगासीति ८   |        | अथ पुष्करपर्णं सुपदधाति ... २२६   |        |
| अग्ने यत्ते दिवि वर्च इति ... ७     |        | अथ पूर्वाह्नेन दक्षिणाम् ... १०१  |        |
| अग्ने युद्धा हि ये तव ... ३३६       |        | अथ प्रायश्चीयं निर्वपति ... ६८    |        |
| अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषं मसीति ४ |        | अथ यदन्तराहवनीयं च ... ५३         |        |
| अथ मार्हपत्य एवोवा ... १५२          |        | अथ याः पञ्चोत्तराः ... ३८३        |        |
| अथ गोः। इमं साहसं ३७८               |        | अथ ये एते हे यजुषी ... ५५         |        |
| अथ जघनाह्ने नोदीचीम् ... १००        |        | अथ रुक्मं सुपदधाति ... २३०        |        |
| अथ जघनेन परीत्वा। उत्तरतो ६         |        | अथ रेतस्विचा उपदधाति २८५          |        |
| अथ तेनैव पुनः परीत्वा ... १०        |        | अथ रेतस्ये उपदधाति ... २८८        |        |
| अथ दक्षिणतः। अभ्यावर्त्तस्व १५६     |        | अथ लोकम्पुषा सुपदधाति ... ११      |        |
| अथ दक्षिणतो गाम् ... ३७३            |        | अथ लोगेष्टका उपदधाति ... १५४      |        |
| अथ दक्षिणतोऽजम् ... ३७४             |        | अथ विन्ध्वोतिष सुपदधाति २८७       |        |
| अथ दर्भस्तम्भं सुपदधाति ... १२३     |        | अथ सत्यं साम गायति ... २२८        |        |
| अथ दूर्वष्टका सुपदधाति ... २८१      |        | अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत इमे ... २३६  |        |
| अथ द्वियजुष सुपदधाति ... २८३        |        | अथ सर्वोषधं ब्रूयति। एतद्दे १३५   |        |
| अथ पञ्चात्। अग्ने यत्ते ... १५७     |        | अथ साम गायति। एतद्दे ... २३५      |        |
| अथ पुरीषं निर्वपति ... १२           |        | अथ सिकता निर्वपति ... ४           |        |
| अथ पुरुष सुपदधाति ... २३२           |        | अथ सूचा उपदधाति ... २४०           |        |



| कणिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठे | कणिकाप्रतीकम्.                   | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|----------------------------------|--------|
| अथाजस्य । अथो जस्य ... ३८०          |        | अथैन मेजयति ... ३९८              |        |
| अथातः सम्यदेव । एकविंशति-           |        | अथैनं परिश्रिप्तिः परिश्रयति ४   |        |
| रिष्टका नव यजूंश्चि ... ५४          |        | अथैनं प्रसज्यावर्त्तयति ... ३९७  |        |
| अथातः सम्यदेव । चतस्रो ... १६६      |        | अथेना आप्यानवतीभ्यां ... १६५     |        |
| अथातोऽधिरोहणस्यैव ... २०६           |        | अथेना विमुञ्चति । अप्रदाहाय १४   |        |
| अथातो निरुक्तानिरुक्ताणां मेव १३६   |        | अथेनान् विमुञ्चति । आप्ना तं १०३ |        |
| अथातो नैर्ऋतीर्हरन्ति ... ७६        |        | अथेनानुपदधाति ... ३७१            |        |
| अथात्मानं विज्ञपति ... १०९          |        | अथेना मभिजुहोति ... ३९५          |        |
| अथान्तरेणोदचमसं निनयति ८१           |        | अथेनौ सन्निवपति ... १३           |        |
| अथावेः । इमं मूर्णाशु- ... ३७६      |        | अथैषु हिरण्यप्रकलान् ... ३६६     |        |
| अथाश्च शुक्लं पुरस्तात्प्रयन्ति २०३ |        | अथोखा उपदधाति ... ३३४            |        |
| अथाजस्य । इमं मा हिंसी- ३७८         |        | अथोत्तरतः । इह मूर्जं महं १५७    |        |
| अथाघाता उपदधाति ... २८६             |        | अथोत्तरतोऽविम् । वरुणी ... ३७४   |        |
| अथासन्दीश् शिक्वाश्च ... ८०         |        | अथोत्तरतोऽश्वम् । वातस्य ... ३७२ |        |
| अथास्याश्च शिकता आवपति १३           |        | अथोत्तर मर्द्धं मनुहुत्य ... ३७१ |        |
| अथास्यां पय आनयति ... १४            |        | अथोत्तरवेदिं निवपति ... १५६      |        |
| अथाहवनीयऽएव पुष्करपर्णं १५३         |        | अथोत्तराम् । अयं ते योनिः ... ६  |        |
| अथाहवनीयऽएवाप्यानवतीभ्यां १५४       |        | अथोत्तरार्द्धेन प्राचीम् ... १०१ |        |
| अथाहामिभ्यः प्रद्वियमाख्येभ्यः २०१  |        | अथोत्तरार्द्धेन पतिष्ठते ... ३७६ |        |
| अथैतश्च साये भूतेऽन्नं ... २०६      |        | अथोदचमसाग्निनयति ... १३३         |        |
| अथैते हि यजुषी ... ५५               |        | अथोपश्रयां पिष्ट्वा ... ३३४      |        |
| अथैनं विज्ञपति ... ६६               |        | अथोलूखलमुसलेऽउपदधाति ३२६         |        |
| अथैनं मनश्चिनोति ... ६              |        | अथोषाग्निवपति । अयं वे ... ३     |        |
| अथैनं मभिजुहोति ... १२४             |        | अथौदुम्बरी मुत्तरत उपदधाति ।     |        |
| अथैनं उपविश्यामभिजुहोति ... २३८     |        | अथस्य त्वौजसा ... २४२            |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठ | कण्डिकाप्रतीकम्.                  | पृष्ठ |
|-------------------------------------|-------|-----------------------------------|-------|
| अथौदुम्बरी सुत्तरत उपपधाति          |       | आये यीरन्वाह ... २०३              |       |
| जगत् रस उदम्बर ... २४१              |       | आख्येन जुहोति .... २३६            |       |
| अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्या ... २       |       | आत्ममयिं यंक्षीति चेन्न ... २२७   |       |
| अपां गम्भन्तीति । एतद्व्यापां ३२७   |       | आप्यानवतीभ्या मभिमृश्य ... २००    |       |
| अपां त्वा ज्ञये सादयामीति ३८६       |       | आप्यायस्व समेतु ते ... १६६        |       |
| अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति ३८५    |       | आरुह्याग्निं जघनेन खयमाहसां ३८२   |       |
| अपां त्वा पाथसि सादयामीति ३८७       |       |                                   |       |
| अपां त्वा पुरीषे सादयामीति ३८७      |       | इरप्यन्ममे प्रथयस्व जन्तुभिः १६१  |       |
| अपां त्वा भस्मन्सादयामीति ३८५       |       | इवे राये रमस्व ... ३३५            |       |
| अपां त्वायने सादयामीति ... ३८५      |       | इष्कर्त्तार मङ्गरस्य प्रचेतसं १६१ |       |
| अपां त्वा योनौ सादयामीति ३८७        |       |                                   |       |
| अपां त्वा सद्ने सादयामीति ३८६       |       | उत्तान सुपद्धाति ... २३३          |       |
| अपां त्वा सधस्थी सादयामीति ३८७      |       | उदचमसां भवन्ति ... १३३            |       |
| अपां त्वा सधिमि सादयामीति ३८६       |       | उदरसुखा । योनिरुलूखलम् ३३७        |       |
| अपां त्वेमन्सादयामीति ... ३८४       |       |                                   |       |
| अपां त्वोद्गन्सादयामीति ... ३८५     |       | जर्जि गृहीतायाम् ... ३३१          |       |
| अपां त्वेनमृष्ट मसि योनिरधे ... २३० |       | जर्जो नपाञ्जातवेदः ... १६०        |       |
| अपेत वीत वि च सर्पतात इति १         |       |                                   |       |
| अयम् सोऽग्निः । यस्मिन्त्वोमं. ७    |       | अचे त्वेतीह । प्राणो वा ... ३७०   |       |
| अयमेवे त्वा सद्ने सादयामीति ३८५     |       | अतावान मिति ... १६२               |       |
| अयं चाविं चोत्तरत । एतस्यां ३७१     |       |                                   |       |
| अवाटसि सङ्गमानेति ... २६१           |       | ऐक्यविश्रुतिर्वैव परिश्रितः ।     |       |
| अष्टाविष्टका उपपधाति ... ११         |       | यजुर्हविर्विशं ... ५४             |       |
| असुन्वन्त मयजमानं मिच्छेति ७८       |       | एकविंशतिर्वैव परिश्रितः ।         |       |
| अस्थीनि वै परिश्रितः ... ५          |       | द्वादश मासा. पञ्च ... १५          |       |

| कण्डिकाप्रतीकम्.               | पृष्ठ | कण्डिकाप्रतीकम्.                 | पृष्ठ |
|--------------------------------|-------|----------------------------------|-------|
| एतयोर्भूयोर्गृहीतयोः ...       | ३३१   | तश्च रक्तं उपपद्यते । असी        | २३३   |
| ...                            | ८     | तं वा उपपन्नमथ मादित्यस्य        | २०७   |
| अौदम्बरं भवति । ऊर्ध्वं ...    | ६८    | तं वा एतम् । अत्र पक्षपुच्छ-     | ६     |
| अौदम्बरे भवतः । ऊर्ध्वं ...    | ३३०   | तं वा एतम् । इत ऊर्ध्वं प्राचं   | ३३७   |
| काष्ठात् काष्ठात् प्ररोहन्ती   | २८२   | तत्रैव पक्षपुच्छवन्त मेव सन्तम्  | ७     |
| काष्ठार्थमर्थो दक्षिणत उप ...  | २४०   | तश्च हेके त्रिचितं चिन्वन्ति ... | ५४    |
| कूर्मं मुपदधाति । ...          | ३२५   | त एतत् सत्यसाम पुरस्ताद्         | २२८   |
| गां चार्जं च दक्षिणत ...       | ३७२   | त एतानि सर्पनामान्यपश्यन्        | २३६   |
| गायत्रेण त्वा हृन्त्सा सादयामि | ३८७   | त एते पश्यवः । तान्नागोप-        | ३७५   |
| गार्हपत्यं चैष्यन् पलाश-       | १     | त एते सर्वे प्राणा यद्वाटा       | २६०   |
| चतस्रः सीता यजुषा लघति ।       |       | तत् प्रादिष्टमात्रं भवति ...     | ३३२   |
| तद्य इमे शीर्षश्चत्वारो ...    | १०३   | तथैवेतद्व्यजमानः । आत्मानं       | ७७    |
| चतस्रः सीता यजुषा लघति ।       |       | तथैवेतद्व्यजमानः । यत् सत्यं     | २२८   |
| तद्यच्चतस्रसु ...              | १०२   | तद्येव गार्हपत्यम् ...           | २००   |
| चतुर्भिः सन्निवपति । तद्ये     | १३    | तदाहुः । कथं मस्येता अहो-        |       |
| चित स्थिति । चिगीति स्तेनाः    | ५     | रात्राभ्यां सुपङ्कितौ ...        | १६३   |
| चितो गार्हपत्यो भवति ...       | १५१   | तदाहुः । कथं मस्येता अहो-        |       |
| चित्रं देवानां मुदगादनीकं      | ३७६   | रात्रेः सम्यग्ना अन्वृणा ...     | १६३   |
| तं यत्र देवाः समस्तुर्वन् ।    |       | तदाहुः । कथं मस्येतावात्मानौ     | २८४   |
| तदस्मिन्नेतत् सर्वं ...        | ३३३   | तदाहुः । कथं मस्येताः पक्षाः     | १५८   |
| तं यत्र देवाः समस्तुर्वन् ।    |       | तदाहुः । कथं मस्येताः प्रयक्     | १६३   |
| तदस्मिन्नेतं प्राचं ...        | २८२   | तदाहुः । कथं मस्येताः सर्वेः     | १६४   |
|                                |       | तदाहुः । कथं मस्येताः पक्षा      | ३३४   |
|                                |       | तदाहुः । कथं मेधं पुरुषः ...     | २८२   |
|                                |       | तदाहुः । कस्मादभिख्यमात्स्य      | २६१   |

| कडिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|
| तदाहुः । केतासा मसङ्गातिना १६४      |        |
| तदाहुः । नैतस्य पुरुषस्य ... २४४    |        |
| तदाहुः । यत् प्रजा विश्वव्योतिः २६१ |        |
| तदाहुः । यत् प्रथमा मेव ... २०१     |        |
| तदाहुः । यदयं लोको गार्हपत्यो ५६    |        |
| तदाहुः । यदसावेव ... २८२            |        |
| तदाहुः । यदार्द्रश्चेतः ... १६२     |        |
| तदाहुः । यदिमा आप एतानि ३८३         |        |
| तदाहुः । यद्योनिः परिश्रितो १५३     |        |
| तदाहुः । यद्भेतः सिकता ... १६२      |        |
| तदाहुः । यां वै तत् प्रजा ... ३८२   |        |
| तदेतदन्नं खट्वा । पुरस्तात् ३६६     |        |
| तदेव लोकोऽभ्युक्तः । तदे ... ३३१    |        |
| तदेवा वै सा प्रतिष्ठा । यां ... ५१  |        |
| तद्वै के । उभयत्रैव पलाश ... १५२    |        |
| तद्वै केऽन्वाहुः । पुरीष्यासो २०२   |        |
| तद्वै केऽपि । यद्योनिः ... ३७०      |        |
| तद्वै के । यं य मेव पशु सुप० ३७६    |        |
| तदात् तत् सत्यम् । आप ... २२६       |        |
| तदादग्निभ्य इति । बहवो ... २०२      |        |
| तदादेतेऽअनोपदधाति ... २८८           |        |
| तदाः पञ्चदशपूर्वाः । ता अपस्या ३८२  |        |
| तदा एतत् क्रियते । यद्देवा          |        |
| ०—० शु अस्मात् ते ... २६८           |        |
| तदा एतत् क्रियते । यद्देवा          |        |

ख

| कडिकाप्रतीकम्.                     | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|
| ०—० शु तत् क्रमः ... ७६            |        |
| तदा एतत् क्रियते । यद्देवा         |        |
| ०—० शु तानि ... २०२                |        |
| तद्देवोनिः परिश्रितः । उल्ल- ६     |        |
| तं देवा अपौ प्रावृजन् ... ५०       |        |
| त मभ्यनक्ति । दध्ना मधुना ... ३२६  |        |
| त मुत्तरीर्हनाभिः अन्तरेण २०४      |        |
| तं पुष्करपर्शंऽउपदधाति ... २३१     |        |
| तं प्रत्यं यन्तम् । एतां ... २०४   |        |
| तस्य गार्हपत्य एवायं लोकः ५२       |        |
| तस्य यदधरं कपालम् अयं ३२५          |        |
| तस्य शिर एवाहवनीयः । अथ ५३         |        |
| तस्याय मेवं लोकः प्रतिष्ठा ५०      |        |
| तां वै प्रजापतिनोपदधाति ... २७६    |        |
| ता उत्तरवेदौ निवपति । योनि १५६     |        |
| ता उभय्य एकविंशतिः सम्पदन्ति १२    |        |
| ता उभय्यः षोडश सम्पदन्ति १०२       |        |
| ता एता अङ्गुलयः ... ३८८            |        |
| ता एता एकवास्यानाः ... १३६         |        |
| ता एता दिशः । ताः सर्वत- १५८       |        |
| दा एता यजुष्य इत्येताः ... १६५     |        |
| ता एता यजुष्य इत्येताः ... १५८     |        |
| ता नाना मन्त्राभ्यां निवपति १५३    |        |
| तां न रिक्ता मवेक्षेत नेदित्तां १३ |        |
| तान् पुरस्तात् प्रतीच उपदधाति ३६८  |        |

कठिकाप्रतीकम्.

पृष्ठं

कठिकाप्रतीकम्.

पृष्ठं

तान्तेतान्तेऽन्तेन महीतानि ३३१  
 तामिरेतां दिशं यन्ति ... ७८  
 का मयौ प्रवृत्तिः । यथैवेन ... ५१  
 तावन्नीवन् । उप मेतं ... २४१  
 तावत्येताविन्नायी एव बाहू २४३  
 ता वा एतास्त्रिस्रोऽनुष्टुभः ५५  
 ता वै सायं प्रार्तरादधाति ... ५२  
 ता हेके परस्तादवीचीरुपदधाति ८०  
 तिरुभिः कष्टे चाकष्टे च वपति ।  
 ०—० एतदन्नं दधाति ... १३६  
 तिरुभिः कष्टे चाकष्टे च वपति ।  
 ०—० एतद् भिषज्यति १३८  
 तिरुभिस्त्रिरुभिर्हृग्भिर्वपति ।  
 ०—० एतदन्नं दधाति १३६  
 तिरुभिस्त्रिरुभिर्हृग्भिर्वपति ।  
 ०—० एतद् भिषज्यति १३७  
 तिस्र इष्टका उपदधाति । तिरुद् ८०  
 तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्दी ८१  
 तिस्रस्त्रिस्रः सीताः कष्टति १०२  
 तेऽभि मनुवन् । न वा इतोऽन्या ४६  
 ते चेतयमानाः । एतत् सामा २३५  
 ते चेतयमानाः । एता इष्टका ७६  
 ते देवा अमुवन् । न वा इतोऽन्या ४६  
 तेऽनुवन् । अन्नं वाऽन्यं प्रजापतिः ४६  
 तेऽनुवन् । उप तज्जानीत

यथास्मिन् पुरुषे ... २३४  
 तेऽनुवन् । उपतज्जानीत यथेष्टं  
 तमः पाप्मान- ... ७६  
 ते रेतस्त्रिचोर्वलयोपदधाति ३२३  
 ते हेके तिरुच्या उपदधाति २४३  
 त्रयोदशेता यादृतयो भवन्ति १२६  
 त्रिभिरुपतिष्ठते । त्रय इमे लोका २३८  
 त्रिभिरुपदधाति । त्रय इमे ३२३  
 चीन् कष्टे चाकष्टे च निनयति ।  
 ०—० अपो दधाति ... १३५  
 चीन् कष्टे चाकष्टे च निनयति ।  
 ०—० वृष्टिं दधाति ... १३४  
 चीन्क्रीनुदचमसाग्निनयति ।  
 ०—० अपो दधाति ... १३४  
 चीन्क्रीनुदचमसाग्निनयति ।  
 ०—० वृष्टिं दधाति ... १३३  
 त्वं यविष्ठ दाशुष इति ।  
 यजमानो ... ३८२  
 ०  
 दशमस्कन्द पृथिवी मनु ... २३४  
 दशमभिर्हृग्भिः कष्टे वपति ।  
 ०—० एतदन्नं दधाति ... १३६  
 दशमभिर्हृग्भिः कष्टे वपति ।  
 ०—० एतद् भिषज्यति १३७  
 दशमसीतास्त्रयोऽङ्गानि १०२

| कण्डिकाप्रतीकम्.                         | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम्.                         | पृष्ठं |
|------------------------------------------|--------|------------------------------------------|--------|
| वाद्दशोदचमसन् लष्टे निगयति ।             |        | पुरीष्वासोऽव्यय इति ...                  | ८      |
| ०—० आपो दधाति ...                        | १३४    | पुरुषस्य प्रथमं सुतृणति ...              | ३७७    |
| वाद्दशोदचमसन् लष्टे निगयति ।             |        | प्रजापतिः प्रजा अष्टजत ...               | ४८     |
| ०—० वृष्टिं दधाति ...                    | १३४    | प्रजापतिरेषोऽग्निः । उभयं ...            | १३८    |
| वाभ्या सुपदधाति । दिपावज-                | २३     | प्रजापतिश्चा सादयत्विति । ०—०            |        |
| ध्रुवास्मि अरुयेति । तस्योक्तो बन्धुः ३३ |        | समुद्रस्थेमन्निषां हीमं                  | २७६    |
|                                          |        | प्रजापतिश्चा सादयत्विति । ०—०            |        |
| नमः सु ते निर्ऋते तिम्रतेज इति ७६        |        | पृथिव्या ज्योतिष्मती मिति                | २८७    |
| नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च ...           | २३७    | प्रत्वेत्य प्रायणीयेनं प्रचरति ...       | ६८     |
| नानोपदधाति । ये नानाकामा                 | ६५     | प्रत्वेत्याग्निं सुपतिष्ठते । एतद्वा     |        |
| निवेशनः सङ्गमनो वक्ष्णा मिति ८२          |        | ०—० सामिचित एतां ...                     | ८२     |
| नोपसृशति । पाप्मा वे निर्ऋतिः ८०         |        | प्रत्वेत्याग्निं सुपतिष्ठते । एतद्वा ०—० |        |
|                                          |        | सामिचिते वह्निर्वेदेति ...               | ३८१    |
| पञ्चदशोदचमसान्निनयति ।                   |        | प्रादेशमात्रं भक्षतः । प्रादेश-          | ३३०    |
| पञ्चदशभिर्ऋग्भिर् ...                    | १३८    | प्राण्ये यद्देतिऽस्मादन्नमुदचिज-         | ३३१    |
| पञ्चदशोदचमसान्निनयति ।                   |        | वह्निर्वेदिरियं वे वेदिः । आपा           | १५५    |
| पञ्चदशो वे वज्रः ...                     | १३५    | वह्निर्वेदिरियं वे वेदिः । आपो           | १५५    |
| पयसि पुरुषं सुपदधाति ...                 | ३७९    | वाङ्मन्येते । ते नानोपदधाति              | १०     |
| पलाशश्राव्या व्यूहति ...                 | २      | वाङ्मन्याग्निं माहुरति । आपा             | १५४    |
| पशुरेष यदग्निः । सोऽन्नैव ...            | ३३६    | वाङ्मन्याग्निं माहुरति । आपो वा          | १५५    |
| पशुग्रीवायुपदधाति पशवो                   | ३६७    | वाङ्मन्येवाग्निं सुतृणेतु । इमे ...      | ३७७    |
| पञ्चादग्नेः प्राजासीन. ...               | २४०    | वज्रं जज्ञीर्नं प्रथमं पुरस्तादिति       | २३२    |
| पादमात्रो भवन्ति । अधस्तदं               | ७७     |                                          |        |
| पावकवर्षाः सुक्लवर्षा इति ...            | १६०    | भूरसीति । भूद्दोषं भूमिरसीति             | २८०    |

| कलिकाप्रतीकम्.                        | पृष्ठं | कलिकाप्रतीकम्.                          | पृष्ठं |
|---------------------------------------|--------|-----------------------------------------|--------|
| मधुवाता ऋतायत इति ...                 | ३२६    | यदेव यतिषजति । ०—० प्राणः १५२           |        |
| मही दौः पृथिवी च न इति ...            | ३२८    | यदेव यतिषजति । ०—० रसः १५२              |        |
| मातेव पुत्रं पृथिवीं पुरीष्मि मिति १४ |        | यदेव सर्वनामैरुपतिष्ठत ...              | २३७    |
| मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति ...           | ३७०    | यदेव सर्वोषधं वपति । एतद्वा १३७         |        |
| यदपस्थाः पञ्चपुरस्तादुपदधाति २६०      |        | यदेव सिकता निवपति । अग्ने ४             |        |
| यदेव कूर्मं सुपदधाति । प्राणो ३२७     |        | यदेव सिकता निवपति । प्रजा- १६४          |        |
| यदेव चिते गार्हपत्ये ०—० प्राणः १५१   |        | यदेव सुचा उपदधाति ...                   | २४१    |
| यदेव । चिते गार्हपत्ये ०—० रसः १५१    |        | यदेव खयामाहसा सुपदधाति ।                |        |
| यदेव । दर्भस्तम्भ सुपदधाति १२३        |        | प्रजापतिं ...                           | २७८    |
| यदेव । दूर्वेष्टका सुपदधाति २८१       |        | यदेव खयमाहसा सुपदधाति ।                 |        |
| यदेव पशुश्रीर्वाण्युपदधाति ।          |        | प्राणो वै ...                           | २७८    |
| प्रजापतिर्वा ...                      | ३६८    | यदेवात्मानं विज्ञवति । य एवे- १०३       |        |
| • यदेव पशुश्रीर्वाण्युपदधाति ।        |        | यदेवेवापस्था उपदधाति ...                | ३८४    |
| या वै ताः ...                         | ३६७    | • यदेवेवावघ्रापयति । अग्निर्देवेभ्य २०५ |        |
| यदेव पुरुष सुपदधाति ...               | २३३    | यदेवेवावघ्रापयति । असौ वा २०५           |        |
| यदेव पुष्करपर्ण उपदधाति ।             |        | यदेवेवावाता उपदधाति । वाता २८६          |        |
| इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा ...           | २३१    | यदेवेवेता वै ऋती हर्नति । प्रजा- ७७     |        |
| यदेव पुष्करपर्ण उपदधाति ।             |        | यदेवेवेते व्यञ्जोपदधाति ...             | २८८    |
| प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णमियं २६१       |        | यदेवेवेनं विज्ञवति । एतद्वा ...         | १०३    |
| यदेव पुष्करपर्ण सुपदधाति २२६          |        | • यदेवेवेन मभि जुहोति । श्रीर्घं ३७५    |        |
| यदेव प्रोक्षति । हविर्वा एतत् २०१     |        | यदेवेवेन मभिकुहोति । एतद् वै            |        |
| यदेव रेतस्त्रिषा उपदधाति २६६          |        | • देवा अविभयः ...                       | १२५    |
| यदेव लोमेष्टका उपदधाति १५५            |        | • यदेवेवेन मभिकुहोति । एतद् वै          |        |
| यदेव विश्वञ्जोतिष सुपदधाति २७७        |        | • देवा एतमात्मान ...                    | २३८    |

| कणिकाप्रतीकम्.                          | एछे | कणिकाप्रतीकम्.                         | एछे |
|-----------------------------------------|-----|----------------------------------------|-----|
| यद्वेवेन मभिलुहोति । एतद् वे            |     | विश्वस्ते प्राणायापनाय ।               |     |
| यत्तं प्राणाः ... .. १२४                |     | यानायापनायैति ... २८०                  |     |
| यद्वेवेन मभिलुहोति । एतद् वे            |     | विष्णोः कर्माणि पश्यतेति ३३३           |     |
| यान्तेतस्मिन्नपौ ... १२५                |     | याममात्रो भवति । याममात्रो १३          |     |
| यद्वेवेन परिश्रद्धिः परिश्रयति ४        |     | शतं वा ऽव्यम् धामानि ... १३८           |     |
| यद्वेवोखा मुपदधाति । यो वे स ३३४        |     |                                        |     |
| यद्वेवोखायाम् । योनिर्वा ... ३३७        |     |                                        |     |
| यद्वेवोद्वचमसाम्नयति । एतद् १३४         |     | स एषोऽग्निरेव वैश्वानरः ... १६२        |     |
| यद्वेवोपतिष्ठते । अयं वै लोको ८२        |     | स काश्वर्यमर्थो दक्षिणत- ... २४२       |     |
| यद्वेवोलूखलमुसले ऽउपदधाति ३३०           |     | स कथावस्यैते । ते नानोपदधाति १०        |     |
| यद्वेवोषान्निवपति । प्रजापतिः ३         |     | स यज्ञाति । मयि यज्ञान्यग्रे २२७       |     |
| यस्यास्ति घोर ऽव्यसन् जुहोमीति ७        |     | स चतस्रः पूर्वा उपदधाति आत्मा ७        |     |
| या इधवा यातुधानाना मिति २३७             |     | स चतस्रः प्राचीरुपदधाति ६              |     |
| या ओषधीः पूर्वा जाताः ... १३८           |     | स जूरब्द इति क्षितिः ... १२५           |     |
| या श्रुतेन प्रतनोषि । सहस्रेण २८२       |     | स ज्ञान मसौति । समजानत ३               |     |
| यास्ते ऽव्यमे स्वर्ये रुचा ... २८५      |     | स दक्षिण मेवाग्रे युनक्ति । अथ ६६      |     |
| युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं ६६          |     | स दक्षिणाङ्गनागेः अन्तरेण १००          |     |
| ये वामी रोचने दिवो ... २३७              |     | स पुरस्तादाहरति ... १५५                |     |
|                                         |     | सप्त प्रत्यस्यति । सप्त वै शीर्षेण ३६६ |     |
| राजानं क्रीत्वा पर्युञ्ज । अथास्मां १५२ |     | समुद्रेत्वा सद्ने सादयामीति ३८५        |     |
|                                         |     | स यः स कुर्मोऽसौ स आदिताः ३२७          |     |
| विपरिक्राम मु ह्वेक ऽउपतिष्ठन्ति ३७७    |     | स यः स प्रजापतिर्वैश्वसत् ।            |     |
| विराड् ज्योतिरधारयदिति २८५              |     | ः ०-० अथ या अस्मात् ता ३८४             |     |
| विश्वस्ते प्राणायापनाय ।                |     | स यः स प्रजापतिर्वैश्वसत् ०-०          |     |
| २ आनायेति प्राणो वै ... २८८             |     | अथ या सा प्रतिष्ठे वा २७६              |     |



| कठिकाप्रतीकम्.                       | पृष्ठे | कठिकाप्रतीकम्.                     | पृष्ठे |
|--------------------------------------|--------|------------------------------------|--------|
| स यः स प्रजापतिर्यस्यसत ।            |        | स शुक्लः स्यात् । तदधीतस्य १०६     |        |
| —०— तद्वर्षाखा ... ५१                |        | स होवाच । यस्मानेन ... १०५         |        |
| स यत् क्रुष्णीं नाम । एतद् ... १६२   |        | सा यदवाढा नाम । देवाणां २८६        |        |
| स न्यदम् मेवोपदधात् ... २८४          |        | सीतासमरः । वाग्वी सीतासमरः १२४     |        |
| स यदि संवत्सरभृतः स्यात् । १३६       |        | सैयं कामभृत् । प्राणा वै ... १६०   |        |
| स यन्नानूपदधात् । न हितं ... २८४     |        | सैषा चैषा विहिता । वागबुधुप् ५६    |        |
| स योऽस्मात् प्राणो मध्यत उद्ग्रा- ५० |        | सैषा वृद्धत्वेव । ये वै वै ... ५६  |        |
| चरित्वा सद्मे सादयामीति १८६          |        | सोऽग्नेर्हविषा ५ ओषिम् ... ६८      |        |
| सर्वोषधं भवति । सर्व मेतद् १३७       |        | सोऽब्रवीत् । अयं वाव मा धूर्वी २८२ |        |
| सर्वोषधं भवति । सर्व मेव १३५         |        | सोऽब्रवीत् । अयं वाव मा            |        |
| स वै ऽब्राह्मण मेव विज्ञपति १००      |        | सर्वस्मात् ३३५                     |        |
| स वै जहते निनयति । तस्मात् १३३       |        | स्कीनाहरति । वस्त्रो वस्त्रो १५५   |        |
| स वै जहते निनयति । प्राणेषु १३४      |        | खयमाहसा मुपदधाति ... १७८           |        |
| स वै जहते वपति । तस्मात् ... १३६     |        |                                    |        |
| स वै जहते वपति । प्राणान् ... १३७    |        | हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रि ... २३४   |        |

## ॥ स्मर्त्तव्यालोच्यवचनसूची ॥



अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् सोऽपः प्राविशत्. २का०. ५प्र०. १४जा०.  
अग्निर्वै महिषः. २. ३. २३.

- अग्निर्वै यम इयं यस्याभ्यां ह्रीदं सर्वं यतम्, १. ३. १०.  
 अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य भस्म, यत् सिक्ता, १. १. ३.  
 अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य देतो यत् सिक्ता, १. १. १०.  
 अग्निरिह वा अपां सधस्यम्, ४. २. ५७.  
 अन्नं वा अपां पायः, ४. २. ६०.  
 अन्नजीवनं ह्रीदं सर्वम्, ४. १. २०.  
 अन्नं वा अपां भस्म, ४. २. ४८.  
 असृतं हिरण्यं मसृतं मन्त्रिः, ३. १. १५.  
 अश्वं चाविं चोत्तरतः । एतस्यां तद्दिश्येती पशू दधाति;  
 तस्मादेतस्यां दिश्येती पशू भूयिष्ठौ, ४. २. १५.  
 आग्नेयं वै घृतम्, ३. १. ४१.  
 आत्मन्मन्त्रिं गृह्णीत, २. ४. १७.  
 आत्मा ह्येवाये सम्भवतः सम्भवति, १. १. २१.  
 आपो वै पुष्करं तासा मियं पर्णम्, ३. १. ८.  
 इमे वै लाकाः सर्पाः, ते ज्ञानेन सर्वेषां सर्पन्ति यदिदं किञ्च,  
 ३. १. २५.  
 इयं वा अपा मयनम्, ४. २. ५०.  
 जन्वो रस उदुम्बरः, ३. १. ३८.  
 ऋतवो वै विश्वेदेवाः, १. १. ४३.

एतद्वै रूपं (कूर्मरूपं) कृत्वा प्रजापतिः प्रजा अष्टजत , यदष्टजता-  
करोत् , तद्यदकरोत् तस्मात् कूर्मः. ४. १. ५.

एष उभे पृथग्वि, — धूमेनामूँ वृष्ट्येमाम्. २. ३. १०.

पृषा वै नैर्ऋतोर्दिङ् , नैर्ऋत्या मेव हि तद्विधिं निर्ऋतिं दधाति  
स यत्र स्वकृतं धेरिणं श्रभ्रप्रदरो वा स्यात् , तदेना उप-  
दध्याद् । यत्र वा अस्या अवदीर्यते , यत्र वास्या ओषधयो  
न जायन्ते , निर्ऋतिर्हास्यै तद् गृह्णाति. १. ३. ८.

ओषधयो वा अपा मोक्ष. ४. २. ४७.

क्षत्रं वै यमः. १. १. ३.

कश्यपो वै कूमेस्त्वस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति. ४. १. ५.  
किम्पुरुषो वै मयुः ०—० गौर मारण्यम् ०—० गवय मारण्यम्  
०—० उद्ध मारण्यम् ०—० शरभ मारण्यम् ०—० त एत  
उत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयन्नियास्तेषां ब्राह्मणो नाश्रीयात्.

४. २. ३२—३७.

कैतासा मसङ्गतातानां सङ्गति ? इति ब्रूयात् ; इति हि सिकते,  
शुक्रा च कृष्णा च. २. ३. ४३.

को हि तद् वेद, यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः. १. ४. २.

नास्त्राविष्ट दक्षिणतः । एतस्यां तद्विश्येती पशू दधाति ; तस्मा-

.. देतस्यां दिश्येती पशू भ्रूयिष्ठौ. ४. २. १६.

गा मविं प्रफर्ष्य च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहन मित्येतच्च सर्वं सीतो-  
हपति. १. ४. ११.

समुद्रा अपां त्रयः, ४. २. ५४.

ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निः, ३. १. १५.

तत्र गच्छ यत्र पूर्वं परेता इति, ४. १. ८.

तेषां मेकं मन्त्रं सुहरेत् तस्य नाश्रीयाद्यावज्जीवम्, २. २. १४.

त्रीन्समुद्रान्समसृपत् स्वर्गानितीमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकाः.

४. १. ८.

द्यौर्वा अपां सदनम्, ४. २. ५६.

द्राघीयो हि देवायुषं ऋसीयो मनुष्यायुषम्, २. ३. १०.

द्वाभ्यां युनक्ति ०—० षड्गवं भवति, द्वादशगवं वा, १. ४. ६.

हो वै योनी इति ब्रूयाद्, देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः.

३. २. ४०.

पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशुस्तिष्ठन् गर्भं धित्वानूपविश्य विजायते.

३. १. २.

पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशोः सुहितस्योत्तरः कुचिबन्धततरो

भवति, ४. १. ३८.

ब्रह्मस्य प्रथमं सुतृजति ०—० द्विपादा एष पशुर्यत् पुरुषः.

४. २. ३२.

प्रजापतिर्वा इदं मय आसीदेक एव, सोऽकामयैतान् सृजय प्रजा-

वेयेति स प्राणिभ्यं एकाधिपशून् निरमिमौत्, ४. २. ६.

प्रजापतिर्विश्वकर्मा, १. १. ४३.

प्रजापतेर्विस्त्रस्तस्य यानि लोमान्धशीयन्त , ता इमाः ( कूर्वाः )

शोषध्वोऽभवन्. १. २. ११.

प्राचीप्रजनना वै देवाः , प्रतीचीनप्रजनना मनुष्याः, १. २. ४०.

प्राची वा अर्णवः, ४. २. ५१.

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति. १. १. १४.

ब्रह्म वै पलाशः, १. १. ५.

ब्रह्म वै मन्त्रः, १. १. ५.

मनुष्या वा आपचन्द्राः, २. ३. २०.

मनो वै समुद्रः, ४. २. ५२.

य एषेभु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति, १. १. २८.

• यदिमा आप एतानि मांसानि ०—० अक्षं वाक् पयोऽश्वक् ,

अक्षं सोम. ४. २. ४३.

या शोषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेति, २. २. २४.

ये विद्वांसस्ते कवयः , ते सीरश्च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते,

१. ४. ४.

येन रूपेण यत् कर्म कृत्वा विष्णुरादोऽभवत् , तेन रूपेण तत्

कर्म कृत्वा आदोऽसानीति, ४. १. १२.

रसो वै कूर्मः ०—० यो वै स एषां लोकानां मसु प्रविष्टानां

पराङ् रसोऽत्यक्षरत् , स एष कूर्मः, ४. १. १.

रसो वै दधि, १. १. ३८.

ज्योति वा अण्यम्. ३. १. ३४.

बायुर्वा अपा जेम. ४. २. ४६.

विद्युद्वा अपां ज्योतिः. ४. २. ४८.

विद्येः पितरः १. १. १.

शिरो वै प्राणानां योनिः. ४. १. २२.

ओत्रं वा अपां सधिः. ४. २. ५८.

सत्यं साम गायति. २. ४. १७; ३. १. ३.

समुद्रो वा अपां योनिः. ४. २. ५८.

समुद्रो ह्रीमा मभितः पिब्यते. ३. १. ८.

स यः स कूर्मीऽसौ स आदित्यः. ४. १. ६.

सर्वेषां सु हैष देवानां माता यदग्निः. ३. १. २५.

सह हैवेमावये लोकावासतुः, तयोर्वियतोर्याऽन्तरिणाकाश आसीत्,  
तदन्तरि स भवत्. १. २. २३.

सिकता वा अपाम्पूरीषम्. ४. २. ५८.

सोऽब्रवीत्— अयं वाव मा धूर्वीदिति, यदब्रवीदधूर्वीमेति  
तस्माद् धूर्वा; धूर्वा ह वै ता दूर्वेत्याचक्षते परोक्षम्. ३. २. १२.

हिरण्यं ह वै तद्विरण्यं मित्राचक्षते. ३. १. १६.

## ॥ अथ विषयसूची ॥

|                                                                     |     |     |           |     |     |
|---------------------------------------------------------------------|-----|-----|-----------|-----|-----|
| अग्निचयनारम्भः                                                      | ... | ... | १. १. १.  | ... | १५  |
| अक्षशिरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यानादि.                                | ... | ... | ४. २. २१. | ... | ४०२ |
| अक्षस्य श्लोकोत्तरगमनप्रदर्शनम्.                                    | ... | ... | ४. २. ३६. | ... | ४१० |
| अगङ्गुष्मोचनमन्त्रतद्याख्याने.                                      | ... | ... | १. ४. २१. | ... | १२२ |
| अनुद्देश्यानां मयुप्रभृतीनां पशूनां ब्राह्मणा-<br>भक्ष्यतानिरूपणम्. | ... | ... | ४. २. ३७. | ... | ४११ |
| अनुमन्त्रणाभिमन्त्रणलक्षणं ( भाष्ये )                               | ... | ... | १. ४. ४.  | ... | १०७ |
| अनुष्टुप्सम्यद्वर्णनम्.                                             | ... | ... | १. २. १६. | ... | ६७  |
| अपस्यानां मङ्गुल्यात्मकत्वसमाख्यानम्.                               | ... | ... | ४. २. ६२. | ... | ४२२ |
| अपस्यानां पञ्चदशैकानां सुपधानसूचनादि.                               | ... | ... | ४. २. ४०. | ... | ४१४ |
| अपस्यैकानां मन्त्रस्तद्याख्यानादिकथं.                               | ... | ... | ४. २. ४६. | ... | ४१८ |
| अभिमर्शनमन्त्रद्वयविधियाख्यानादि.                                   | ... | ... | २. ३. ४६. | ... | १६८ |
| अभिमर्शनस्य छन्दोद्वेसाधिवदनात्मकत्ववर्णनम्.                        | ... | ... | २. ३. ४५. | ... | १६८ |
| अभिहोममन्त्रादयवानां याजुतिरूपत्वम्.                                | ... | ... | २. १. ६.  | ... | १३१ |
| अमन्त्रकं कर्षणविधादि.                                              | ... | ... | १. ४. १४. | ... | ११७ |
| अविश्विरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यादि ऋ.                               | ... | ... | ४. २. २०. | ... | ४०१ |
| अवेः श्लोकोत्तरगमनप्रदर्शनम्.                                       | ... | ... | ४. २. ३५. | ... | ४१० |
| अश्वशिरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यादि च.                                | ... | ... | ४. २. १८. | ... | ३६६ |
| अश्वस्य श्लोकोत्तरगमनप्रदर्शनम्.                                    | ... | ... | ४. २. ३३. | ... | ४०६ |
| अषाढैकया उपधानविधादि.                                               | ... | ... | ३. २. ३२. | ... | ३१८ |
| अषाढोपधातुमन्त्रविधियाख्याने.                                       | ... | ... | ३. २. ३६. | ... | ३२२ |
| आभिकर्षौमिकयोः अतिवज्रप्रदर्शनम्.                                   | ... | ... | २. ४. १.  | ... | २०७ |

|                                                     |           |     |     |
|-----------------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| आतिथ्यहविष्कृदन्ते आहवनीयचित्ति-                    |           |     |     |
| संस्कारविधिः, ... ..                                | २. ३. ४.  | ... | १६८ |
| आत्मन्वमियहणप्रकारोपदेशादि. ...                     | ३. १. १.  | ... | २४४ |
| आहवनीयचित्तावृथाणां निवपननिषेधः.                    | २. ३. ८.  | ... | १७० |
| आहवनीयचित्तौ पुष्करपर्णोपधानविधिः.                  | २. ३. ६.  | ... | १७७ |
| आहवनीयचित्तौ सिकतानिवपनविधिः ...                    | २. ३. ११. | ... | १७३ |
|                                                     |           |     |     |
| इष्टकाचतुष्टयोपधानमन्त्राणां विधियाख्यानै           | १. १. २२. | ... | २६  |
| इष्टकासन्धिषु पुरीषनिवपनविध्यादि ...                | १. १. ३६. | ... | ४२  |
| इष्टकाहरणसमये श्वेतस्याश्वस्य पुरतो नयनादि.         | २. ४. १०. | ... | २१६ |
|                                                     |           |     |     |
| उखोपधानविध्यादि. ... ..                             | ४. १. २६. | ... | ३५७ |
| उखोपधाने मन्त्रविधिस्तदाख्यानाश्च. ...              | ४. १. ३०. | ... | ३५६ |
| उत्थरूपेण संस्कृतस्यासौ विराटरूपप्रणा-              |           |     |     |
| पत्यात्मकताप्रतिपादनारम्भः, ...                     | १. २. १.  | ... | ५७  |
| उत्थासौर्गाहपत्यचित्तिमध्ये निवपनविध्यादि.          | १. १. ३८. | ... | ४५  |
| उत्तरवेदिनिवपनाद्युपदेश. ... ..                     | २. ३. २७. | ... | १८४ |
| उपसर्गानसादनसूदोहसां नेर्हतीषु निषेधः.              | १. ३. १२. | ... | ६१  |
| उपहितपुरुषशिरस्यभिहोमविध्यादि.                      | ४. २. २३. | ... | ४०३ |
| उपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशुशिरसा संलग्ननामके- |           |     |     |
| मन्त्रैरुपस्थानविधिस्तन्मन्त्रविध्यादि च.           | ४. २. २८. | ... | ४०६ |
| उलूलखलमुसलयोरुपधानविध्यादि. ...                     | ४. १. १२. | ... | ३४६ |
|                                                     |           |     |     |
| ऊवाणां निवपनविधिः. ... ..                           | १. १. १६. | ... | १६  |
| ऊवाविधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...                 | १. १. ८.  | ... | २०  |
|                                                     |           |     |     |
| अग्न्यनुसामलक्षणेप्रदर्शनम् ( भाष्ये ) ...          | ३. २. १६. | ... | ३०६ |
| अतश्चयोरिष्टकयोरुपधानविधिः. ...                     | ३. २. २६. | ... | ३१५ |



|                                                                                                                                                    |           |     |     |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| सुतस्योपधानस्य मन्त्रविधिशास्त्रानि. ...                                                                                                           | ३. २. २६. | ... | ३१५ |
| कार्यविधिर्वात्सल्यतारोपदेशश्च. ...                                                                                                                | १. ४. ६.  | ... | १११ |
| कार्यस्य मन्त्रविधिशास्त्रानि. ...                                                                                                                 | १. ४. १३. | ... | ११६ |
| सूमांश्चनमन्त्राद्युपदेशः. ...                                                                                                                     | ४. १. ३.  | ... | ३३६ |
| सूर्मैष्टकोपधानविध्यादि. ...                                                                                                                       | ४. १. १.  | ... | ३३८ |
| सूर्मोपधानमन्त्रविधिसदृशाशास्त्रादि. ...                                                                                                           | ४. १. ८.  | ... | ३४४ |
| सदृशप्रदेशैः (पा) निगद्यमानान्तरं वपवविधिः. ...                                                                                                    | २. २. १६. | ... | १४३ |
| सदृशैः ते उदचमसकरवविध्यादि. ...                                                                                                                    | २. २. १.  | ... | १४० |
| गार्हपत्यचित्तेः परिमाणविधानादि. ...                                                                                                               | १. १. ३७. | ... | ४३  |
| गार्हपत्याग्नीध्रीयाहवनीयानां क्रमेणैव संस्कारस्य<br>रिच्युक्तोक्तकृत्वात् क्रमेणैव संस्कारस्य<br>युक्तत्वेऽपि युक्तक्रमेणानुष्ठानस्योपपादनम्. ... | १. २. २३. | ... | ७३  |
| गार्हपत्योपस्थानविधिः. ...                                                                                                                         | १. ३. १६. | ... | ६६  |
| गार्हपत्योपस्थानमन्त्रशास्त्रानि. ...                                                                                                              | १. ३. २०. | ... | ६७  |
| गोः शोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्. ...                                                                                                                | ४. २. ३४. | ... | ४०६ |
| गोशिरस उपधानमन्त्रसदृशाशास्त्रादि च. ...                                                                                                           | ४. २. १६. | ... | ४०० |
| चयननिष्पत्तये दृष्टकानां सुपधानप्रकारोपदेशः. ...                                                                                                   | १. १. १८. | ... | २७  |
| चित्तिप्र. चत्वादिविधानम्. ...                                                                                                                     | २. ४. ४.  | ... | २११ |
| चित्ताग्निहोत्रमध्ये विकर्षणविध्यादि. ...                                                                                                          | १. ४. ७.  | ... | १११ |
| चित्ताग्निरूपप्रजापतेः निरुक्तानिरुक्तरूपेण<br>परिमितापरिमितरूपेण च वैकल्प्यवर्णनम्. ...                                                           | २. २. ३०. | ... | १४८ |
| चित्ताग्नेः स्वयमाहस्यादिषु त्रयोदशखिण्डकासु<br>सदृशपञ्चाकारत्वसम्पादनादि. ...                                                                     | ४. १. ३५. | ... | ३६४ |
| सदृशस्याख्यानां पञ्चेष्टकानां वर्णनादि. ...                                                                                                        | ४. २. ४२. | ... | ४१५ |

|                                            |                |     |
|--------------------------------------------|----------------|-----|
| दर्भस्तम्भाभिधानविधादि. ....               | २. १. ४. ....  | १२८ |
| दर्भस्तम्भोपधानविधादि ....                 | २. १. १. ....  | १२६ |
| दूर्वैष्टकोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने .... | ३. २. १४. .... | ३०३ |
| दूर्वैष्टकोपधानविधादि. ....                | ३. २. १०. .... | ३०१ |
| द्वियजुर्नामैष्टकाया उपधानविधादि. ....     | ३. २. १६. .... | ३०५ |
| द्वियजुरुपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. ....  | ३. २. २१. .... | ३०८ |
|                                            |                |     |
| निवपनमन्त्राणां विधियाख्याने. ....         | २. ३. २८. .... | १८५ |
| नैऋतीष्टकामन्त्राणां विधियाख्याने. ....    | १. ३. ६. ....  | ८७  |
| नैऋतीष्टकासु आसन्त्यादीनां विधानम्. ....   | १. ३. १५. .... | ६२  |
| नैऋतीष्टकास्तदकनिनयनम्. ....               | १. ३. १७. .... | ६४  |
| नैऋतीष्टकाहरणप्रकारादि. ....               | १. ३. १. ....  | ८३  |
| नैऋतीष्टकोपधानप्रकारादि. ....              | १. ३. ८. ....  | ८६  |
| नैऋतीष्टकोपधानाख्यायिका. ....              | १. ३. १. ....  | ८३  |
|                                            |                |     |
| परिश्रयणमन्त्रविधियाख्याने. ....           | १. १. १४. .... | २४  |
| परिसर्पणप्रकारोपदेशादि. ....               | ३. १. ३५. .... | २७० |
| मलाश्रयाख्या यदूहनम्. ....                 | २. ३. ७. ....  | १६६ |
| मशुसुखादौ शकलप्रक्षेपविषयः. ....           | ४. २. ११. .... | ३६३ |
| मशुशीर्षसु सुवर्णशलाकाप्रक्षेपादि. ....    | ४. २. ८. ....  | ३६२ |
| मशुशीर्षाणां उपधानविधादि. ....             | ४. २. १. ....  | ३८८ |
| पुरुषशिरस उदयहत्यादिकम्. ....              | ४. २०१३. ....  | ३६६ |
| पुरुषोपधानाङ्गत्वेन सामगानविधिः. ....      | ३. १. २२. .... | २६२ |
| पुष्करपर्णस्थोपधानविधादि. ....             | २. ४. १७. .... | २२३ |
| पुष्करपर्णे रक्तोपधानस्तुत्यादि. ....      | ३. ११२. ....   | २५३ |
| पुष्करपर्णोपधानविधिस्तवनादि. ....          | ३. १. ७. ....  | २४८ |

|                                                 |           |     |     |
|-------------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| पुष्करपर्वोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने ...       | ३. १. ३५. | ... | ३५० |
| पुष्करपतिप्रियाम्बोक्तादात्म्यप्रतिपादनम्.      | १. २. ८.  | ... | ३१  |
| पुष्करपतिप्ररीरविद्येवप्रतिपादनम्. ...          | १. २. १.  | ... | ५७  |
| पुष्करपतेराध्यात्मिकाधियज्ञिकरूपत्ववर्णनम्.     | १. २. १३. | ... | ३५  |
| प्रत्युपस्थानस्य विधितन्त्रतद्व्याख्यादि.       | ४. २. ३८. | ... | ४१२ |
| प्राञ्चालेष्टकादयोपधानमन्त्रयोर्विधियाख्याने.   | १. १. २८. | ... | ३५  |
| प्राञ्चालविषयकमन्त्रपाठस्तद्व्याख्यानञ्च.       | ४. २. २१. | ... | ३५४ |
| प्राञ्चालीयेष्टिविधानम्. ...                    | १. ४. १.  | ... | १०४ |
| दृष्टतीसम्यद्वर्णनम्. ...                       | १. २. २२. | ... | ७१  |
| रक्तमध्ये हिरण्यमयपुरुषोपधानविधादि.             | ३. १. १५. | ... | २५६ |
| रक्तोपधानमन्त्रविधियाख्याने. ...                | ३. १. १४. | ... | २५४ |
| रेतस्त्रिगुणपधानमन्त्रविधियाख्याने. ...         | ३. २. २३. | ... | ३११ |
| रेतस्त्रिगुणोपधानविधादि. ...                    | ३. २. २२. | ... | ३१० |
| लोकस्यृणाख्याया इष्टकाया उपधानविधिः.            | १. १. ३३. | ... | ३८  |
| लोकस्यृणादीष्टकानां सुपधान मन्त्रविचारदि.       | १. १. ३४. | ... | ४१  |
| लोकैष्टकानां सुपधानविधादि. ...                  | २. ३. १३. | ... | १७४ |
| लोकैष्टकोपधानमन्त्राणां कुम्भसो नामविचारः.      | २. ३. ३८. | ... | १८३ |
| विन्ध्योतिरिष्टकोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने.    | ३. २. २७. | ... | ३१४ |
| विन्ध्योतिव उपधानविधादि. ...                    | ३. २. २५. | ... | ३१२ |
| वीणावापस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...              | २. २. १७. | ... | १४५ |
| युद्धमन्त्रस्य विधियाख्याने. ...                | १. १. २.  | ... | १७  |
| युद्धमन्त्र विधानम्. ...                        | १. १. १.  | ... | १५  |
| युद्धमन्त्रे प्रज्ञाप्रज्ञाख्यायाः करणत्वविधिः. | १. १. ४.  | ... | १८  |

|                                                  |           |           |     |
|--------------------------------------------------|-----------|-----------|-----|
| श्रृङ्गलप्रक्षेपमन्त्रविधिसप्तद्व्याख्यानादिकम्. | ४. १. ११. | ...       | ३६४ |
| श्रृङ्गलभिः परिग्रहविधानम्.                      | ...       | १. १. १२. | २६  |
| श्रृङ्गलार्थोपस्थानम्.                           | ...       | २. ४. १.  | १०४ |
| बहुचे सप्तार्ण कृत्वा मन्त्रभाववर्णनम्.          | २. ४. ४१. | ...       | १८४ |
| संस्कृतगाह्यपद्यायतनस्थेष्टकाभिचयनविधिः.         | १. १. १७. | ...       | २७  |
| सत्यसामगानविध्यनुवादादि.                         | ...       | ३. १. ३.  | २४७ |
| समन्त्रकं सिकताभिमर्षणम्.                        | ...       | २. ३. १२. | १७३ |
| समन्त्रकं सुप्तोत्थानविधानादि.                   | ...       | १. ३. १८. | ६५  |
| सर्पसामभिः पुरुषस्थोपधानविधादि.                  | ...       | ३. १. २५. | २६४ |
| सापिसिद्धे क्रतौ सोमक्रयकालविधिः.                | ...       | २. ३. १.  | १६७ |
| सिकतार्णं निवपनविधिः.                            | ...       | १. १. ६.  | २१  |
| सिकतानिवपनमन्त्रविधिः.                           | ...       | १. १. ११. | २२  |
| सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस            |           |           |     |
| आसेचनविधादि.                                     | ...       | १. १. ४४. | ४८  |
| सीरयोजनमन्त्रस्य विधियाख्याने.                   | ...       | १. ४. ४.  | १०६ |
| सीरयोजनाय काष्ठनिरूपणादि.                        | ...       | १. ४. ३.  | १०६ |
| सीरादनकुडिमोचनविधादि.                            | ...       | १. ४. २१. | १२० |
| सूददोहसो निषेधोपपादनम्.                          | ...       | १. १. १५. | २५  |
| स्तरणचर्मणोऽनकुडिकारत्नादिविधानम्.               | ...       | २. ४. २.  | ३०६ |
| सुचोऽरुपधानविधादि.                               | ...       | ३. १. ३६. | २७१ |
| सुचोऽरुपधाने मन्त्रविधादि.                       | ...       | ३. १. ४१. | २७३ |

|                                        |           |     |     |
|----------------------------------------|-----------|-----|-----|
| खवमाहखाया मन्त्रविधियाख्याने. ....     | इ. ९. ५.  | ... | २६५ |
| खवमाहखोप्रधानविधादि. ...               | इ. ९. १.  | ... | २६२ |
| हिरण्यपुरषोपचानमन्त्रस्य विधियाख्याने. | इ. १. १६. | ... | २६० |

---

## ॥ मूलपाठशुद्धिपत्रम् ॥



| पशुपम्            | शुद्धम्           | प्र० ब्रा० क० | पृष्ठे |
|-------------------|-------------------|---------------|--------|
| सर्वां            | सर्वां            | १, १, ८, ...  | ३      |
| अग्ने-            | अग्ने-            | १, १, १०, ... | ४      |
| अयं               | अयं               | १, १, १३, ... | ४      |
| व्यचः             | व्यचः             | १, १, २३, ... | ८      |
| स उ दृ०           | स उ दृ०           | १, २, २२, ... | ५६     |
| यस्या             | यस्या             | १, ३, १०, ... | ७८     |
| वीर्ये            | वीर्यं            | २, ३, १८, ... | १५५    |
| उपादीप्तो         | उपादीप्तो         | २, ३, २१, ... | १५६    |
| मात्स्यसु०        | मात्स्यसु०        | २, ३, २१, ... | १५६    |
| ०दृतस्य           | ०दृतस्य           | २, ३, २३, ... | १५७    |
| ०दात्मन्नेतो      | ०दात्मन्नेतो      | २, ३, २८, ... | १५८    |
| मानुनेत्य०        | मानुनेत्य०        | २, ३, २०, ... | १६०    |
| ब्राह्मण          | ब्राह्मण          | २, ३, ४२, ... | १६४    |
| मपय्यन्नसु        | मपय्यन्नसु        | २, ४, १०, ... | २०३    |
| पुरस्ताद्रक्षांसि | पुरस्ताद्रक्षांसि | २, ४, १०, ... | २०४    |
| मेत               | मेतं              | २, ४, १८, ... | २०७    |
| ०पाप्मान          | ०पाप्मान          | ३, १, १, ...  | २२७    |

( ४ )

| पद्यम्                         | शुद्धम् | प्र० ब्रा० क० | पृष्ठे |
|--------------------------------|---------|---------------|--------|
| तिष्ठाः '... तिष्ठ०            | ...     | ३, १, २, ...  | १२८    |
| पुष्कपर्ण ... . पुष्करपर्ण     | ...     | ३, १, १३, ... | २३१    |
| ०दर मयत् ०दरमयत्               | ...     | ३, १, ३८, ... | २४१    |
| ०चिक्र मिषत्तत् ०चिक्रमिषत्तत् | ...     | ४, १, १७, ... | ३३९    |
| तद भव० ... तदभव०               | ...     | ४, १, २१, ... | ३३२    |
| ०ती मे वै ... ०तीमे वै         | ...     | ४, २, ३४, ... | ३७८    |

---

## ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥



॥ अथ ॥

## ॥ सप्तमकाण्डम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अपिवा प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥



॥ हरिः ॐ ॥

गार्हपत्यं चेष्ट्यन् पलाशशाखुया व्युदूहति ।  
अवस्यति हैतद्यद् गार्हपत्यं चिनोति य उउ वै के  
चाग्निचितोऽस्या मेव तेऽवसितास्तद्युदूहत्यवसि-  
तानेव तद् व्युदूहति नेदवसितानध्ववस्यानीति \* ॥१॥  
अपेत व्यीत वि चः सर्पतात इति । अप

\* 'नीति'—इति क, 'नीति'—इति ग ।



चैवेतं वि चेतु व्यु च सर्पतात इत्येतद्य उदर-  
 सर्पिणस्तानेतदाह ये ऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतना  
 इति येऽत्र स्थ सनातना ये चाधुनातना  
 इत्येतत् \* ॥ २ ॥

अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्या इति । यमो ह  
 वा ऽवस्थाय अवसानस्थेष्टे स एवास्मा ऽवस्था मव-  
 सानं ददाति † ॥ ३ ॥

अक्रान्तिमं पितरो लोक मस्मा ऽइति । अचं  
 वै यमो विशः पितरो यस्माऽउ वै क्षत्रियो  
 विशा संव्विदानोऽस्या मवसानं ददाति तत्  
 मुदत्तं तथो हास्यै अचं यमो विशा पितृभिः  
 संव्विदानोऽस्या मवसानं ददाति ‡ ॥ ४ ॥

पलाशशाखया व्युदूहति । ब्रह्म वै पलाशो  
 ब्रह्मणैव तद्वसितान् व्युदूहति मन्त्रेण ब्रह्म  
 वै मन्त्रो ब्रह्मणैव तद्वसितान् व्युदूहति ता मु-  
 दीची मुदद्यति § ॥ ५ ॥

\* 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

†, ‡ 'ददाति'—इति क ।

§ 'मुदद्यति'—इति क ।

अथोषान्निवपति । अयं वै लोको गार्हपत्यः  
पशव ऊषा अस्मिन्लोके पशुन् दधाति तस्माद्दि-  
मेऽस्मिन्लोके पशवः ॥ ६ ॥

यदेवोषान्निवपति । प्रजापतिः प्रजा असृजत  
ता नानोल्वा असृजत ता न समजानत सी-  
ऽकामयत सञ्जानीरन्निति ताः समानोल्वा अक-  
रोत्तासा मूषानुल्व मकरोत्ताः समजानत तस्मा-  
दप्येतर्हि समानोल्वाः स मेव जानते देवैः  
समानोल्बोऽसानीत्यु वै यजते यो यजते तद्य-  
दुषान्निवपति देवैरेव तत् समानोल्बो भवति ॥ ७ ॥

सञ्जान मसीति । समुजानत ह्येतेन काम-  
धुरण मिति पशवो वा ऽऊषाः पशवः काम-  
धुरणं मयि ते कामधुरणं भूयादिति मयि ते  
कामधुरणं भूयादिति मयि ते पशवो भूया-  
सुरित्येतत्तैः सव्यं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिर्वै  
गार्हपत्या चितिरुल्व मूषाः सव्यां तद्योनि मुल्वेन  
प्रच्छादयति \* ॥ ८ ॥

अथ सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य  
भस्म यत् सिकता अग्निं मु वा ऽएतं वैश्वानरं  
चेष्टुन् भवति न वा ऽअग्निः स्वं भस्मातिदहत्य-  
नतिदाहाय ॥ ९ ॥

यदेव सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य  
रेतो यत् सिकता अग्निं मु वा ऽएतं वैश्वानरं  
चेष्टुन् भवति न वा ऽअरेतस्कात् किञ्चन व्विक्रि-  
यतेऽस्माद्रेतसोऽधि व्विक्रियाता ऽवृति ॥ १० ॥

अग्नेर्भस्माद्यग्नेः पुरीष मसीति । यातयाम  
वा ऽअग्नेर्भस्मायातयाम्नाः सिकता अयातयाम  
मेवैनदेतत् करोति ताभिः सर्व्वं गार्हपत्यं प्रच्छा-  
दयति योनिर्व्वै गार्हपत्या चित्ती रेतः सिकताः  
सर्व्वस्यां तद्योनौ रेतो दधाति \* ॥ ११ ॥

अथैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति । योनिर्व्वै  
परिश्रित इदं मेवैतद्रेतः सिक्तं योन्या परि-  
गृह्णाति तस्माद्योन्या रेतः सिक्तं परिगृह्णते ॥ १२ ॥

यद्वैैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति । अथं वै

\* 'दधाति'—इति क ।

लोको गार्हपत्य आपः परिश्रित इमं तं लोक  
मग्निः परितनोति समुद्रेण हैनं तत् परितनोति  
सर्वतस्तुआदिमं लोकं सर्वतः समुद्रः पर्येति  
दक्षिणावृत्तआदिमं लोकं दक्षिणावृत्त समुद्रः  
पर्येति खातेन तआदिमं लोकं खातेन समुद्रः  
पर्येति ॥ १३ ॥

चित ख्येति । चिनोति ह्येनाः परिचित  
ख्येति परि ह्येनाश्चिनोत्यूर्ध्वचितः अथध्व मित्यूध्वा  
उपदधदाह तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो ब्रजतेऽथ  
यत्तिरध्वीरुपदध्यात् सकृद्धैवेदः सर्वः समुद्रो  
निर्मज्यान् \* सादयत्यसन्ना, ह्यापो न हृददो-  
हसाधिवदति ॥ १४ ॥

अस्थीनि वै परिश्रितः । प्राणः सुददोहा न  
वा ऽअस्थिषु प्राणोऽस्थैकेन यजुषा बह्वीरिष्टका  
उपदधात्येकं ह्येतद्रूपं यदापोऽथ यद् बह्नाः  
परिश्रितो भवन्ति बह्वो ह्यापः ॥ १५ ॥

\* 'निर्मज्यान्' इति, 'निर्मज्यान्'—इति च दृष्टं डा० वेबर-  
महोदयेन । 'निर्मज्यान्'—इति तु सायणासम्मतः पाठः ।

तद्दे योनिः परिश्रितः । उल्ब मूषा रेतः

सिकता बाह्याः परिश्रितो भवत्यन्तरऽजषा बाह्या  
हि योनिरन्तरं मुख्यं बाह्यऽजषा भवत्यन्तराः  
सिकता बाह्याः मुख्यं मन्तरं रेत एतेभ्यो वै  
जायमानो जायते तेभ्य एवैन मेतज्जनयति\* ॥ १६ ॥

अथैन मृत्स्विनोति । इदं मेवैतद्रेतः सित्तं  
विकरोति . तस्माद्योनौ रेतः सित्तं विक्रि-  
यते ॥ १७ ॥

स चतस्रः प्राचीरुपदधाति । दे पश्चात्  
तिरश्चगौ दे पुरस्तात्तद्याश्चतस्रः प्राचीरुपदधाति स  
आत्मा तद्यात्ताश्चतस्रो भवन्ति चतुर्विधो ह्यय  
मात्माथ ये पश्चात्ते सुकथ्यौ ये पुरस्तात्तौ बाह्व  
यत्र वा ऽआत्मा तदेव शिरः ॥ १८ ॥

तं वा ऽएतम् † । अत्र पञ्चपुच्छवन्तं विकरोति  
यादृग् वै योनौ रेतो विक्रियते तादृग् जायते  
तद्यदेत मृत् . पञ्चपुच्छवन्तं विकरोति तस्मादेषो  
ऽमुत्र पञ्चपुच्छवान् जायते ॥ १९ ॥

\* 'मेतज्जनयति'—इति क ।

† 'एतम्'—इति ग, घ ।

तं वै पक्षपुच्छवन्त मेव सन्तम् । न पक्ष-  
पुच्छवन्त मिव पश्यन्ति तस्माद्योनौ गर्भं न यथा-  
रूपं पश्यन्त्यथैन समुत्र पक्षपुच्छवन्तं पश्यन्ति तस्मा-  
ज्जातं गर्भं यथारूपं पश्यन्ति ॥ २० ॥

स चतस्रः पूर्वा उपदधाति । आत्मा ह्येवाये  
सम्भवतः सम्भवति दक्षिणत उदङ्ङासीन उत्त-  
राध्यां प्रथमा मुपदधाति तथो हास्येषोऽभ्यात्म  
मेवाग्निश्चितो भवति ॥ २१ ॥

अयं सोऽग्निः \* । यस्मिन्सोम मिन्द्रः  
सुतं दध इत्ययं वै लोको गार्हपत्य आपः सो-  
मः सुतोऽस्मिन्सुहोकेऽप इन्द्रोऽधत्त जठरे व्वा-  
वशान इति मध्यं वै जठरं सहस्रियं व्वाज-  
मत्यं न सप्ति मित्यापो वै सहस्रियो व्वाजः स-  
सवान्त्वन्स्तूयसे जातवेदं इति चितः संक्षीयसे  
जातवेद इत्येतत् † ॥ २२ ॥

अग्ने युक्ते दिवि व्यर्च इति । आदित्यो

\* 'ऽग्निः'—इति ग, घ्र ।

† 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

वा ऽस्य दिवि व्युचः पृथिव्या मित्यय मग्निः  
 पृथिव्याः यदोषधीष्वप्यस्ता यजचेति य एवोष-  
 धिषु चाप्सु चाग्निस्तु मेतदाह येनान्तरिक्षं मु-  
 र्वाततयेति व्यायुः स त्वेषः स भानुरर्णवो  
 नृचक्षा इति महान्तम् भानुरर्णवो नृचक्षा  
 इत्येतत्\* ॥ २३ ॥

अग्ने दिवो ऽर्णवो मृच्छा जिगासीति † । आपो  
 वा ऽस्य दिवोऽर्णस्ता एष धूमेनाच्छेत्यच्छा-  
 देवाः‡ ॥ ऽजचिषि † धिष्णा य ऽइति प्राणा वै  
 देवा धिष्णास्ते हि सूर्वा धिय ब्रूयन्ति या  
 रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त  
 ऽद्याप इति रोचनो ह नामैष लोको यचैष  
 एतत् तृपति तद्याश्चैतं परेणापो याश्चावरेण ता  
 एतदाह ॥ २४ ॥

पुरीष्यासी ऽग्नेय इति । पशव्यासी ऽग्नेय

\* 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

† 'जिगासीति'—इति ग, घ ।

‡ 'देवाः॥जचिषे'—इति, 'देवाः॥जचिषे'—इति च इष्टं वेवर-

• अहोदयेन; परं 'देवाः॥जचिषे'—इत्येव पाठस्तत्सम्मतः ।

इत्येतत् प्रावणेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं  
प्रायणं चेतदग्नेर्यद् गार्हपत्यो जुषन्तां. यज्ञ  
मद्रुहोऽ नमीवा द्रुषो महीरिति जुषन्तां यज्ञ  
मद्रुहोऽनशनाया द्रुषो महीरित्येतत् \* ॥ २५ ॥

नानोपदधाति । ये नानाकामा आत्मन्तां-  
स्तदधाति सक्तुत् सादयत्येकं तदात्मानं करोति  
सुददोहसाधिवदति प्राणो वै सुददोहः प्राणे-  
नैवेन मेतत् सन्तनोति सन्दधाति ॥ २६ ॥

अथ जघनेन परीत्य । उत्तरतो दक्षिणा-  
सीनोऽपरयोर्दक्षिणा मयऽउपदधातीडा मग्ने पुरु-  
दुसं सनिं गोरिति पशवो वा ऽड्डा पशूना  
मेवास्मा ऽएता माशिष माशास्ते शश्वत्तमं हव-  
मानाय साधेति यजमानो वै हवमानः स्यान्नः  
सूनुस्तनयो विजावेति प्रजा वै सूनुर्गने सा  
ते सुमतिर्भूत्वस्मे ऽद्वत्याशिष माशास्ते ॥ २७ ॥

अथोत्तराम् । अग्रं ते योनिर्ऋत्वियो यतो  
जातो ऽअरोचथा इत्ययं ते योनिर्ऋतव्यः सना-



तुनो युतो जातोऽदीप्यथा इत्येतत् तं जानन्नग्न  
 आरोहत्या नो वर्द्धया रयि मिति यथैव यजु-  
 स्तथा बन्धुः ॥ २८ ॥

सुक्थ्यावस्यैते \* । ते नानोपदधाति नाना साद-  
 यति नाना सुददोहसाधिवदति नाना ह्रीमे  
 सुक्थ्यौ द्वे भवतो द्वे ह्रीमे सुक्थ्यौ पश्चादुप-  
 दधाति पश्चाद्ध्रीमे सुक्थ्यावयाभ्यां सुस्पष्टे  
 भवत एव ह्रीमे सुक्थ्यावयाभ्यां सु-  
 स्पष्टे ॥ २९ ॥

अथ तेनैव पुनः परीत्य । दक्षिणत उदङ्ङा-  
 सीनः पूर्वयोरुत्तरा मग्न उपदधाति चिदसि तथा  
 देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदेत्यथ दक्षिणां परिचिदसि  
 तथा देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदेति ॥ ३० ॥

बाह्व अस्म्यैते † । ते नानोपदधाति नाना  
 सादयति नाना सुददोहसाधिवदति नाना ह्रीमौ  
 बाह्व द्वे भवतो द्वौ ह्रीमौ बाह्व पूर्वार्द्धं उप-

\* 'सुक्थ्यावस्यैते'—इति ग, घ, ।

† 'अस्म्यैते'—इति ग, क ।

दधाति पुरस्ताद्भीमौ बाह्व ऽग्र्याभ्यां सु-  
 स्पृष्टे भवत एवुं हीमौ बाह्व ऽग्र्याभ्यां सु-  
 स्पृष्टौ स वा ऽद्वितीमा ऽउपदर्धातीतीमे ऽद्वितीमे  
 तद्विचिणावृत्तद्वि देवता \* ॥ ३१ ॥

अष्टाविष्टका उपदधाति । अष्टाक्षरा गाय-  
 त्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावन्त  
 मेवैन मेतद्विनोति पञ्चकृत्वः सादयति पञ्च-  
 चितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्नि-  
 र्यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावन्त मेवैन मेतद्विनो-  
 त्यष्टाविष्टकाः पञ्च कृत्वः सादयति तत्तयोदश  
 त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरी-  
 षाणि यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावत् तद्  
 भवति ॥ ३२ ॥

अथ लोकम्पृणा मुपदधाति । तस्या उपरि  
 बभ्रुस्त्रिस्तः पूर्वास्त्रिष्टुदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माता  
 तावन्त मेवैन मेतद्विनोति दशोत्तरास्त्रासा मुपरि  
 बभ्रुर्द्वे वार्येऽथ दशाथैका मेव हि चितिं चि-

न्वन्ति तास्त्रयोदश सम्पद्यन्ते तस्योक्तौ बन्धुः ॥ ३३ ॥

ता उभय्य एकविंशतिः सम्पद्यन्ते । द्वादश मासाः पञ्चर्त्तुवस्त्रय इमे लोका असा-  
वादित्य एकविंशोऽमुं तदादित्य मस्मिन्नग्नौ प्रति-  
ष्ठापयति \* ॥ ३४ ॥

एकविंशतिर्वैव परिश्रितः । द्वादश मासाः  
पञ्चर्त्तुवस्त्रय इमे लोका अयं मग्निरमुतोऽध्येक-  
विंश इमं तदग्निं ममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति  
तद्यदेता एव मुपदधात्येतावेवैतदन्योऽन्यस्मिन् प्र-  
तिष्ठापयति तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ तौ  
वा ऽएतावत्र द्वावेकविंशौ सम्पादयत्यत्र ह्ये-  
वेमौ तदोभौ भवत आहवनीयश्च गार्ह-  
पत्यश्च ॥ ३५ ॥

अथ पुरीषं निवपति । तस्योपरि बन्धुस्त-  
च्चात्वालवेलुथा आहरत्यग्निरिषं यच्चात्वालस्तयो  
हास्यैतदान्नेयं मेव भवति सा समम्बिला स्यात्  
तस्योक्तौ बन्धुः ॥ ३६ ॥

व्याममात्रौ भवति । व्याममात्रौ वै पुरुषः  
 पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसन्नितां तद्यो-  
 निं करोति परिमण्डला भवति परिमण्डला  
 हि योनिर्यो ऽअयं वै लोको गार्हपत्यः परि-  
 मण्डल उ वा ऽअयं लोकः \* ॥ ३७ ॥

अथैनौ सन्निवपति । सञ्ज्ञा मेवाभ्या मेतत्  
 करोति समित् सङ्कल्पेथां सं वां मनांसि  
 सं व्रतान्ने त्वं पुरीष्यो भवतं नः समनसाविति  
 शमयत्येवैनावेतद्विंसायै यथा नान्योऽन्यो हिं-  
 स्याताम् ॥ ३८ ॥

चतुर्भिः सन्निवपति । तद्ये चतुष्पदाः पशव-  
 स्त्रैवाभ्या मेतत् सञ्ज्ञां करोत्यथो ऽअन्नं वै पशवो-  
 ऽन्नेनैवाभ्या मेतत् सञ्ज्ञां करोति ॥ ३९ ॥

तां नृ.रिक्ता मवेक्षेत नेद्रिक्ता मवेक्षा ऽवृति  
 यद्रिक्ता मवेक्षेत यसेत हैन्नम् ॥ ४० ॥

अथास्यां सिक्ता आवपति । अग्नेरेतद्-  
 वैश्वानरस्यं रेतो यत् सिक्ता अग्नि मेवास्या मेतद्

वैश्वानरं॑ रेतो॑ भूतं॑ सिञ्चति॑ सा समम्बिला

स्यात्तस्योक्तो बभूवुः ॥ ४१ ॥

अथैनां॑ विमुञ्चति । अप्रदाहाय॑ यद्धि॑ युक्तं॑  
न विमुच्यते॑ प्र तद्वच्चत॑ ऽएतद्वा॑ ऽएतद्युक्ता॑ रेतो-  
ऽभाषी॑देत॒ मनिं॑ त मवाजीजनदथापरं॑ धत्ते॒ योषा  
वा॑ ऽउखा॑ तस्माद्यदा॒ योषा॑ पूर्व्वं॑ रेतः॒ प्रज-  
नयत्यथापरं॑ धत्ते ॥ ४२ ॥

मातेव॑ पुत्रं॑ पृथिवी॑ पुरीष्य॑ मिति । मातेव॑  
पुत्रं॑ पृथिवी॑ पश्य॑ मित्येतदग्निं॑ स्वे॒ योनाव-  
भारुखेत्यग्निं॑ स्वे॒ योनावभाषी॑दुखेत्येतत्तां॑ विश्वै-  
र्देवैर्ऋतुभिः॑ सविदानः॒ प्रजापतिर्विश्वकर्मा॑ वि-  
मुञ्चत्वित्यृतवो॑ वै विश्वे॒ देवास्तदेनां॑ विश्वैर्देवै-  
र्ऋतुभिः॑ सविदानः॒ प्रजापतिर्विश्वकर्मा॑ विमु-  
ञ्चति॑ ता मुत्तरतो॑ ऽग्नेर्निदधात्यरविमात्रे॑ तस्योक्तो  
बभूवुः ॥ ४३ ॥

अथास्मां॑ पय॑ आनयन्ति । एतद्वा॑ ऽएतद्रेतो॑  
धत्ते॒ऽथ॑ पयो॑ धत्ते॒ योषा॑ वा॒ ऽउखा॑ तस्माद्यदा॒  
शोषा॑ रेतो॑ धत्ते॒ऽथ॑ पयो॑ धत्ते॒ऽधराः॑ सिंकता

भवन्त्युत्तरं पयोऽधरं हि रेत उत्तरं पयस्तन्-  
मध्यऽज्ञानयति यथा तत् प्रति पुरुषशीर्षं  
मुपदध्यात् ॥ ४४ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

उखासम्भरणाद्यं तु भस्मावहरणान्तकम् ।

चित्यस्याग्नेर्वाह्यं मङ्गं प्रोक्तं षष्ठेऽथ सप्तमे ॥

इष्टकाचयनात् पूर्वं मग्निस्थानस्य संस्क्रिया ।

कर्त्तव्या या समासेन सेहं विस्मष्ट मीर्यते ॥

“अग्निं चिनुते”—इत्यनारभ्य \* विहितस्य अग्निचयनस्य †

“अथातोऽग्निं मग्निष्टोमेनानुयजति”—इत्यादिवाक्येन ‡ सोमयाग-  
शेषत्वावगतेः सान्निकस्य सम्बन्धिनां गार्हपत्यादिधिष्णयानां सर्वेषां  
मेव चयनम् ; संस्कार्यत्वात् §. तत्र धिष्णेऽपि गार्हपत्याख्यस्य  
धिष्णस्यप्राथम्यात् ¶ तत्र प्रथमं चयनं विधित्सुस्ततः प्राच्यान्  
भूसंस्कारान् विधास्यन् तत्स्थानस्य समन्त्रकं व्यूढ्वहं  
विधत्ते—“गार्हपत्यं चैस्यन्निति । नृहपतिना संयुक्तोऽग्निः

\* ते० सं० ५. ५. २, ३ अनुवाकौ द्रष्टव्यौ ।

† जी० व्या० २. ३. १० अधिकरणं द्रष्टव्यम् ।

‡ ‘संस्कार्यत्वात्’—इति च दृष्टौ वेवरेण ।

गार्हपत्यः ; “गृहपतिना संयुक्ते अग्नयः”—इति \* पाणिनिस्मृतौ ।  
 इह तु तस्याग्नेः आधारभूतो भूपदेशः । आधारधेययो-  
 रभेदोपचारेण\* अधेयवाचिना शब्देनोच्यते संस्कर्तव्यत्वप्रति-  
 पत्तये । अयं मर्यः । यस्मादेतत् स्थानं गार्हपत्यस्याग्नेः  
 अधिकरणम्, अतश्च चयनेन संस्कर्तव्यमित्यर्थः । संस्कारश्चात्र  
 प्राधान्यद्योतिन्या द्वितीयया “ब्रीहौ च प्रोक्षति”—इत्यादाविव प्रति-  
 पाद्यते । चेन्निति हेतौ शब्दप्रत्ययः । “लक्षणद्वेत्त्वोः क्रियायाः”  
 —इति † । यतोऽस्मिन् स्थाने चयनं कर्तव्यम्, अतो हेतो-  
 रेतत् स्थानं पलाशवृक्षस्य शाखया “अपित”—इति वक्ष्यमाणेन  
 मन्त्रेण ‡ “व्यदूहति” लोहृट्गादिकसम्भारजनेनापसारयतीत्यर्थः § ॥

व्यदूहनस्य प्रयोजनमाह— “अवस्यति हैतदिति । गार्हपत्य-  
 स्याग्नेर्यत् स्थानं चयने संस्करोति मयात्र सोमेन यष्टव्यमिति,  
 ‘तत्’ तेन व्यदूहनेन ‘अवस्यति’ निश्चिनोत्येव । यद्वा, गार्हपत्यस्य  
 यक्षयनं तदेव देवयजनाध्यवसानम् । तथाच ‘ये केचित्’ ‘अग्नि-  
 चितः’ अग्निश्चितवन्तो यजमानाः ‘ते’ ‘अस्या मेव’ पृथिव्या मेव  
 ‘अवसिताः’ अवसानं प्राप्तास्तत्रैव प्रवर्तन्ते, ‘तत्’ तथा सति  
 पलाशशाखया ‘यत्’ स्थानं ‘व्यदूहति’—इति यत् ‘तत्’ तेन  
 ‘अवसितानिव’ तत्र स्थितान् प्राक्तनाद् यजमानान् ‘व्यदूहति’  
 विविधं निरस्यति ॥ ॥

\* पा० सू० ४. ४. ६ । . † पा० सू० ३. २. १२६ ।

‡ अनुपद मेव द्वितीया कण्ठी द्रष्टव्या ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. २३ ।

॥ “व्यदूहति । गार्हपत्यस्याग्नेः पतितं लवणादि, शाखया च वि-  
 निष्कारयति”—इति कंकाः (का० श्रौ० सू० १७. १. ३.) ।

व्युद्बुधं कुर्वतो यजमानस्याभिप्राय माह— “नेदिति । अग्निचयन मनुष्ठाय तत्रैवावस्थितान् यजमानान् अत्रैव ‘नेत् अव्यवस्थानि’ \* तेषां सुपरि अध्यवसान् मवस्थानं नैव करवाणि † ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ॥ १ ॥

तस्मिन् व्युद्बुधे प्रतीकग्रहणेन मन्त्रं विधत्ते— “अपे-  
तेति ‡ । अत्र चापेतवीतेतिवाक्यद्वयस्यार्थं माह—“अप चैवेतेति ।  
हे यज्ञविरोधिनो जनाः ! अस्मात् स्थानात् ‘अपेत’ अपगच्छत,  
अपगमनसमयेऽपि ‘वीत’ विविधं गच्छत । अनयोरपगमन-  
विगमनयोः समुच्चयो विवक्षित इत्यसु मर्थं द्योतयितुं चकारयोः  
प्रयोगः । ‘वि च सर्पतात’-इत्येतदनुद्य व्याचष्टे—“व्यु चेति ।  
‘ये तु’ प्राणिनः उदरेणैव सर्पन्ति गच्छन्ति, तान् सर्पसरी-  
सृपादीन् प्राणिनः प्रति अस्मात् स्थानात् अपगमन मनेन  
प्रार्थ्यते इत्यर्थः ॥

तथा च मन्त्रभागस्याय मर्थः— हे उदरेणैव सर्पणशीलाः  
पन्नगादयः ! ‘अतः’ अस्मादग्निचयनस्थानाद् ‘विसर्पत’ विविधं  
गच्छन्तेति । द्वितीयपद मनुद्य व्याचष्टे—“येऽत्र स्येति । पुरा अती-  
तकाले भवाः ‘पुराणाः’ ॥ “सायश्चिरम्राह्मेऽपिऽव्ययेभ्यः”—इति §  
पुराणव्यादव्ययात् व्यु-प्रत्ययः, “पुराणप्रोक्तोऽपि”—इति ॥ निपातनात्  
तुडभावः, तथा च सनातना इत्यर्थो भवति । नूतना इत्यस्यार्थं

\* ‘अव्यवस्थामि’ ङ, च, ज ।

† ‘करिष्यामि’ ङ, च, ज ।

‡ वा० सं० १२. ४५ ।

§ ‘पा०’ सू० ४. २. २३ ।

॥ पा० सू० ४. २. १०५ ।



माह— “अधुनातना इति । ‘अधुना’ अस्मिन् वर्त्तमान-  
काले भवाः । तदर्थं मन्त्रभागस्यार्थः,— ‘अत्र’ अस्मिन् स्थाने  
ये पुराणाः सन्तः स्य, ये च नूतना अधुनातनाः स्य, ते सर्वे  
यूय मपेतेति ॥ २ ॥

तृतीयपाद मनूय व्याचष्टे— “अदायम इति । अवस्यति  
अस्मिन्निति ‘अवसानं’ स्थानम्, ‘पृथिव्याः’ सम्बन्धि यत्, तत्  
‘यमः’ अस्मभ्यम् दत्तवान् । “यमो ह वा इत्यादि । ‘अस्याः’  
पृथिव्याः संबन्धिनः ‘अवसानस्य’ स्थानस्य यमः खलु ‘ईष्टे’,  
अतः स एव अस्मै-यजमानाय ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘अवसानं’ स्थानं  
‘ददाति’ ॥ ३ ॥

चतुर्थपाद मनूय व्याचष्टे— “अकन्निति । ‘पितरः’ पित्र-  
देवताः ‘यस्मै’ यजमानाय अन्विचयनार्थम् ‘इमं लोकं’ स्थानम्  
‘अकन्’ अकृषत । “अत्र वा इत्यादि । अत्रियजातिर्हि यमः,  
पितरस्तु तस्य ‘विशः’ प्रजः । “यमः पितृणां राजा”—इति हि  
श्रुतिः ॥ “यस्मा उ वा इति । लोके हि ‘अत्रियः’ राजा ‘विशः’  
स्वकीयया प्रजया ‘संविदानः’ सञ्ज्ञानानः, ऐकमत्यं प्राप्तः  
सन् ‘अस्यां’ पृथिव्यां यस्मै पुरुषाय अवसानं ‘ददाति’, तस्य  
‘तत्’ ‘सुदत्तं’ शोभनदत्तं भवति । यथायं दृष्टान्तः, तथैव खलु  
‘अस्मै’ यजमानाय ‘अत्रियः’ यमोऽपि पित्ररूपया स्वकीयया  
‘विशः’ सञ्ज्ञानानः सन् ‘अस्मै’ यजमानाय ‘अस्यां’ पृथिव्याम्  
‘अवसानं’ स्थानं ‘ददाति’ ॥ ४ ॥

तस्मिन् व्युद्भूते पलाशशंखायाः करणत्वं यद् विहि-

\* “यावन्तो वै नृण्यवन्वस्तेषां यम आधिपत्यं परीयाय”—  
इति ने० बं० ५. १. ८. ४ ; ऐ० ब्री० ८. २. ३. १ इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् ।

तम् \* , तदनूय स्तौति— “पलाशशाखयेति । वृक्षेषु मध्ये पलाशवृक्षो ‘ब्रह्म’ ब्राह्मणजातिः । यहा , सोमाह्वरणसमये भूमौ पतितस्य पर्णस्य पलाशवृक्षरूपेणोत्पत्तेः † गायत्रीसम्बन्धात्, पलाशवृक्षो गायत्रीमन्त्रात्मकः । तथा च ‘तेनैव ‘ब्रह्मणा’ ‘तत्’ तत्र ‘अवसितान्’ अवसाय स्थितान् जनान् अस्मात् स्थानात् व्युद्ब्रूहति’ उच्चाटयति । मन्त्रकरणत्वं मनूय स्तौति— “मन्त्रेणेति । “ब्रह्म वा इति । यद् ब्रह्म विवर्त्तितं हि मन्त्रः , तथा च मन्त्रेण क्रियमाणं व्युद्ब्रूहनं ब्रह्मणैव कृतं भवतीत्यर्थः ।

तस्याः पलाशशाखाया निरसनं विधत्ते— “ता सुदीची मिति ‡ । ‘उद्विचीम्’ उदगग्राम् , उद्विचीं दिशं वा प्रति ‘ताम्’ पलाशशाखाम् ‘उदस्वति’ उत्क्षिपति , परित्यजतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

सम्भार्जनानन्तरं सूषाणां निवपनं विधत्ते— “अथोषानिति § । क्षारमृत्तिका जषाः । पृथिव्याः पशुसमृद्धिहेतुत्वेनैतत् प्रशंसति— “अयं वै लोका इति । जषरदेशस्य पशुभिरुपजीव्यत्वादूषाणां पशुत्वव्यपदेश इति । “तस्मादिम इति । यस्मादूषाणां निवपनेन पशवोऽस्मिन् लोके स्थापिताः , तस्मादेव कारणात् इदानीं मपि ‘इमे’ ‘पशवः’ गवाद्याः ‘अस्मिन् लोके’ समृद्धा उपलभ्यन्ते ॥ ६ ॥

\* प्रथमा कण्ठी द्रष्टव्या ( १ , १५६ पृ० ) ।

† शत० ब्रा० १. ५. ४ द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ४ क ।

§ ता० श्रौ० सू० १७. १. ४ ख ।

जपनिवपनं प्रकारान्तरेण स्तोतुं मनुष्यदति— “यदे-  
वेति । जषाणां सुखरूपत्वं माख्यायिकया प्रतिपादयन् सञ्ज्ञान-  
हेतुतामाह— “प्रजापतिः प्रजा इति । “ता नानोस्वा इति ।  
नानाविधं परस्परं विभिन्नं सुखं गर्भवेष्टनं यासान्तास्तद्योक्ताः ,  
ततो भिन्नजातीयत्वात् ‘ताः’ प्रजाः परस्परं ‘न तं समजानत’  
समानज्ञानाः नाभवन् । ‘सः’ च प्रजापतिः ‘अकामयत्’ इमाः  
प्रजाः परस्परं ‘सञ्ज्ञानौरन्ति’ । एवं कामयित्वा भिन्नोस्व-  
जनितत्वं दोषं मालोच्य ‘ताः’ प्रजाः ‘समानोस्वाः’ समान  
मेक मेवोस्वं यासां तथाविधाः ‘अकरोत्’ । किं तत् समानं सुख-  
मिति , तदाह— “तासां भूषानिति । उत्पद्यमानानां प्रजानां  
सुखत्वेनोषान् कृतवानित्यर्थः । तथा च एकोस्वजनित-  
त्वेन समानजातीयाः ‘ताः’ सर्वाः प्रजाः ‘समजानत’ ऐकमत्वं  
प्राप्ता आसन् । यस्मादेवं पुरावृत्तम् , ‘तस्माद्’ इदानीं मपि  
समानोस्वानां मेकमादृकाणां प्रजानां सन्नतिर्दृश्यत इत्यर्थः ।  
“देवैरित्यादि । देवैः सह समानजन्मा भवामीत्यनेनाभिप्रायेण  
हि ‘यः’ यजमानो ‘यजते’ ‘तत्’ तथा सति उस्वसंस्तुतानां  
भूषाणां निवपनेन तेरेव ‘देवैः’ ‘समानोस्वः’ समानजन्मा  
‘भवति’ इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्मिन् निवपने मन्त्रं विधाय तदीयपदानि व्याचष्टे—  
“सञ्ज्ञानं मिति \* । करणे ण्युङित्याह †— “समजानतेति ।  
‘हि’ यस्माद् विप्रतिपन्नाः प्रजाः “एतेन” जपरूपेणोस्वेन ‘समजा-  
नत’ समानज्ञाना आभवन् , तस्मात् हे जष ! त्वम् “सञ्ज्ञानं

मस्तीतिमन्त्रेण प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “पशवः कामधरणमिति । कामाः प्रियन्ते धीयन्ते अनेन गोरूपत्वेन सुतेनोपेक्षेति व्युत्पत्त्या मन्त्रगतकामधरणशब्देन पशुविषयस्य कामस्य धारणं प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “मयि त इत्यादि । हे खव ! यतः त्वं कामधरणमसि, अतः ‘ते’ तव सम्बन्धि पशुरूपं ‘कामधरणं’ कामप्रापणम् । “मयि भूयादितिमन्त्रवाक्यार्थस्य पर्यवसानमाह— “मयि ते पशव इति । ‘ते’ तव सम्बन्धिनः ‘पशवः’ ‘मयि भूयासुः’ इत्येतत् अपि प्रतिपाद्यमित्यर्थः । न्युत्प्रेक्षैः प्रच्छादनं विधत्ते— “तैरिति \* । ‘गार्हपत्यं’ गार्हपत्याग्निस्थानम् । तत् प्रच्छादनं प्रशंसति— “योनिर्वा इति । गार्हपत्याग्नि-सम्बन्धिनी या ‘चितिः’, सा ‘योनिर्वै’ सर्वोत्पत्तिकारणम् । गार्हपत्याग्नेराहुवनीयान्युत्पत्तिहेतुत्वात् तदीयघयनस्यापि उत्पत्तिहेतुत्वात् योनित्वेन स्तुतिः । “उख मूषा इति । “तासा मूषानुखमकरोत्”—इत्यान्नातम् † । ‘तत्’ तेन ऊषैः प्रच्छादनेन ‘सर्वा’ कृत्स्ना मेव ‘योनिम्’ आहुवनीयाद्युत्पत्तये ‘उखेन’ प्रच्छादितवान् भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सिकतानां निवपनं विधत्ते— “अथेति । ऊषवत् ‘निवपति’ निक्षिपति ‡ । पृथिव्याः दक्षिराहित्यहेतुत्वेनैतत् स्तूति— “अग्नेरेतदिति । ‘वैज्ञानरस्य’ विज्ञानरहितस्य ‘अग्नेः’ ‘एतद्’ भस्म ‘यत् सिकताः’ । ‘वैज्ञानर’ विज्ञेयु मरेषु अवस्थितं

\* का० श्रौ० सू० १७. १. ५ ।

† एतत्पूर्वस्या मेव कण्ठां द्रष्टव्यम् ( ३५०. ७ प० ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ६ । ‘सिकताभिर्मण्डलं कृद्वायति’— इति तत्र वृत्तिः ।

हिरण्यगर्भात्मकं 'अग्निं' खल्वसौ यजमानं 'वेद्यन् भवति' ।  
 यथा च चीयमानो वैश्वानरोऽग्निः पृथिवीं न दहेत्,  
 तथा च सिकतानां निवपनं पृथिव्याः 'अनतिदाह्य' अति-  
 क्रम्य अतिशयितो वा दाहोऽतिदाहः ‡, तद्ग्राह्यताय भवति ।  
 न खल्वग्निः स्वकीयं भस्मातीत्य दहति, किन्तु तेनैव ह्यनः  
 सन् दाहसमर्थो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

एतदेवानूय प्रकारान्तरेण स्तूति— "यदेवेति । "सिकता  
 इति । 'यत् एतद्' 'अग्नेः' वैश्वानरस्य 'रितः'; वर्णसादृश्यात् । "न  
 वा अरेतस्कादिति । 'न' खलु 'अरेतस्कात्' निर्वीर्यात् पुरुषात् कि  
 मपीषदपि 'विक्रियते' उत्पद्यते †, अतश्चेष्टमाणोऽग्निः 'रितसः'  
 'अधि' उपरि चितः सन् 'विक्रियते' नानाविधफलसाधन-  
 यागहेतुत्वेन विकृतो भवेत् 'इति' अग्नेनाभिप्रायेण सिकता-  
 निवपनं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्र मन्त्रं विदधाति— "अग्नेर्मन्त्रेति ‡ । "यातयाम  
 वा इति । 'अग्नेर्मन्त्र' 'यातयाम' गतसारम्, रितोरूपास्तु  
 'सिकताः' • 'अयातयाम्नाः' अगतसाराः; तथा चैतेन सिकता  
 निवपनेन 'अयातयामम्' अगतसारम्, सारवदेव 'एतत्' चयनं  
 'करोति' इत्यर्थः ॥

सिकताभिः प्रच्छादनं विधत्ते— "ताभिरिति § । यतो रितः-  
 संस्तुताः सिकताः, तस्मात् तासां गार्हपत्यायतने सर्वत्र प्रक्षेपेण

\* 'ऽतिपाकः'—इति छ, च ।

† 'उत्पाद्यते'—इति क ।

‡ वा० सं० १२. ४६. २ ।

§ का० श्री० छ० १७. १. ७ ।

सर्वस्या मेव योनौ प्रजोत्पत्तिहेतुभूतं 'रेत एव दधाति' सिक्तवान् भवति ॥ ११ ॥

शर्कराभिः परिश्रयणं विधत्ते— “अथैन मिति । ‘एनं’ गार्हपत्यप्रदेशं परिश्रयण्येभिरिति ‘परिश्रितः’ शर्करापर-पर्यायाः शुष्कपाषाणाः, तैः ‘परिश्रयति’ परितो वेष्टयति \* । तत् परिश्रयणं प्रशंसति— “योनिर्वा इति । योनिस्थानीयाः । ‘इद मेव’ सिक्तारूपं ‘सिक्तं रेतः’ ‘एतत्’ एतया परि-श्रिद्रूपया ‘योन्या’ ‘परिश्रिच्छति’ परितो धारयति, यथा न विपद्यते । यस्मादेवं वैदिके कर्मणि, ‘तस्मात्’ एव कारणात् यो-षित्सु गर्भाशये ‘सिक्तं रेतः’ ‘योन्या परिश्रिच्छते’ परितो धार्यते ।

एतदुक्तं भवति,— गार्हपत्यचितिसकाशादेतदुत्पाद्यते आह-वनीयचितिः ; तदुत्पन्नावत्र न्युक्ता जषा उद्वं सिक्ता रेतः परि-श्रितो योनिः ; अतः परिश्रयणान्तैः संस्कारैः आहवनीयचितिः गर्भावस्था प्रतिपद्यत इति ॥ १२ ॥ .

एतदेव परिश्रयणं मनूय प्रकारान्तरेण स्तौति— “यद्दे-वेन मिति । “अयं वै लोक इति । ‘अयं’ भूर्लोकालोकः खलु ‘गार्हपत्यः’ अग्निः ; तद्वाचिन्या भूरिति व्याकृत्या आ-हितत्वात् । “आपः परिश्रितं इति । परिश्रयणार्थाः शर्कराः ‘आपः’ उदकात्मिकाः ; शर्करायुक्ते हि भूप्रदेशे खननादाप उपलभ्यन्ते । तथाच गार्हपत्यस्य परिश्रिद्धिः परिश्रयणे सति ‘इमम्’ एव भूलोकम् ‘अग्निः’ ‘परितनोति’ परितो वेष्टयति । केनोपापेनाग्निः परिवेष्टन मिति तदाह— “समुद्रे-

\* ‘परिश्रयन्ति, परितो वेष्टयन्ति’—इति ज ।

वेति । “तस्मादिदं मिति । यस्मात् परिश्रितः गार्हपत्यस्य परिश्रयणं भूलोकस्य समुद्रेणावरणकारणम्, ‘तस्मात्’ ‘इमं लोकं’ ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु ‘समुद्रेः’ ‘पथेति’ परितो व्याप्नोति । परिश्रयस्य प्रादक्षिण्यं विधाय स्तौति— “दक्षिणावृत्तिः । प्रदक्षिणम् ‘आवृत्’ आवर्तनं यथा भवति तथा परिश्रयेदित्यर्थः । ‘तस्मात्’ कारणभूते परिश्रयणे दक्षिणावृत्तिदर्शनात् समुद्रोऽपि ‘इमं लोकं’ ‘दक्षिणावृत्’ प्रदक्षिणावर्तनेन ‘पथेति’ परितो गच्छति । स्वाते देशे परिश्रयणं विधाय स्तौति— “स्वातेनेति । गार्हपत्यायतनस्य परितः स्वातेन प्रदेशेन परिश्रितः परिश्रयेत् ॥ १२ ॥

तस्मिन् परिश्रयणे मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— “चितः स्तेति \* । ‘हि’ यस्मात् ‘एनाः’ शर्कराः ‘चिनोति’ ख्यापयति, तस्मात् हे शर्कराः ! यूवं ‘चितः स्य’ चीयमाना भवथेति समवेतार्थो मन्त्रभागः । “परि ह्येना द्यति । यस्मादेताः परिश्रितचिनोति, तस्मात् ‘परिचितः स्य’ परितचीयमाना भवथेति ॥

“जर्षा उददधदिति । परिश्रितः जर्षमुखा अवस्थापयन् “जर्षचितः श्रयश्च मिति” † मन्त्रभागं ब्रूयादित्यर्थः । तदेतत् सूचितं कात्यायनेन— “परिश्रितः परिश्रयति पूर्ववदेकविंशत्या चितः स्तेति ‡ ।

“समुद्रो विजतः इति । चतुर्पाणां परिश्रिता मूर्धमुखात् तत्समुदायरूपः समुद्रोऽपि जर्ष एव विजते । “यो विजो

\* वा० सं० १२. ४६. ३ क ।

† वा० सं० १२. ४६. ३ ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

भयचलनयोः” \* । कक्षोलैरुर्ध्वं चलति, समुद्र इत्यर्थः ; न तु तिर्यक् कृत्स्नां भूमि माह्वणीति † ।

तिर्यगुपधाने दोष माह— “अथ यत् तिरश्चौरिति । ‘तिरश्चोः’ तिर्यगञ्चनाः । “सक्तैवेद मिति । युगपदेव ‘इदं सर्वं’ जगत् ‘समुद्रो निर्मृज्यात्’ ‡ निःशेषेण प्रक्षालयेत्, सर्वं समुद्रे प्रविलीयेत § इत्यर्थः । सादनं सूददोहसाधिवदनञ्च इष्टकाधर्मतया प्रसक्तम्, अत्र निषेधति— “ज सादयतीति । उपधानकाले मन्त्रेणोपधाय ततस्तथा देवतयैत्युपहितस्य सादनम् ; “ता अस्य सूददोहस इति मन्त्रः ॥ सूददोहाः, तेनाधिवदनं सुपरिष्ठाद् वदनम्, सर्वेष्टकासाधरणो धर्मः ¶ ; तदुभयं परिश्रिदुपधाने न कर्त्तव्यम् । तत्र हेतुः— ‘असन्ना ह्यापः’ क्वचित् क्वचित् सोदन्ति ; प्रवहणशोलत्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

सूददोहसो निषेध उपपादयति— “अस्थीनि वा इति । अस्थ्यात्मिका हि ‘परिश्रितः’ शर्कराः ; तस्मादृश्यात् । “अस्य सूदहसः”—इति सूददोहः-शब्दयुक्तो मन्त्रः ‘सूददोहाः’ ; स च प्राणात्मकः खलु । सूदं शोभनं मुदकम् दोग्धि, येन क्षितं सत् रसं न शुष्यति ; यस्मिन्नङ्गे प्राणः सञ्जातो नास्ति, तत् काष्ठवत्

\* तु० व्या० ६ धा० ।

† ‘ऊर्ध्वं एव विजते आप्रोति’, न तु कृत्स्नां भूमि माह्वणीति । विजति आप्रिकर्माः—इति च, ज ।

‡ ‘निर्मृज्यात्’—इति मूलपाठः ५५ पं० ११ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ ‘स च समुद्रे प्रति लीयेत’—इति ज ।

॥ वा० सं० १२. ५५ ।

¶ ‘मन्त्रः’—इति ज ।



शुक्ल मेव भवति ; अतः प्राञ्च एव सूददीष्टाः । तथा चास्त्रि-  
संलुतासु परित्रिभु नासो कर्तव्यः ; न खल्वस्त्रिषु प्राणोऽस्ति ,  
नाङ्गेष्वेव हि तस्य संज्ञा इत्यर्थः । “चितः स्त्रेत्वेकेनैव यशुषा \*  
बहूनां परित्रितां स्थापनं मुपपादयति—“एकेनेति । ‘उपदधाति’-  
चोदितत्वात् परित्रिता मिष्टकात्वम् । अत एवाहापस्तम्बः—  
“सुचौ सप्त स्वयमादृष्टाः शर्करा हिरण्येष्टकाः पञ्च हृतेष्टका  
दूर्वास्तम्बः कूर्मं उलूखलं मुसलं शूर्पं मश्वानः पशुगिराः सि  
सर्पशिरश्च मृक्ययोरिष्टकाः”—इति † । “एकं चोददिति । आप  
इति यत् , तदेक मेव हि रूपम् , एकरूपा एव हि  
खल्वन्ते , अतः ‘एकेन यशुषा’ परित्रिद्रूपाणां मया मुपधानं  
युक्तं मिति ।

“बह्वी होति । ‘हि’ यस्मात् ‘आपः’ ‘बह्वी’ बहुविधाः ,  
तस्मात् तदालिकाः ‘परित्रितः’ अपि ‘बह्वी भवन्ति’ बहुशब्दाद्  
“वीतो गुणवचनात्”—“बहुनादिभ्यश्च”—इति ‡ डोप् ॥ १५ ॥

परित्रिद्रूपसिकतानां बाह्याभ्यन्तरभावं विधाय स्तीति—  
“तद्दे योनिरेत्यादिना । ‘तद्दे’ तच्च अक्षसिकतापरित्रिभु मध्ये  
‘परित्रितः’ शर्कराः ‘योनिः’ गर्भनिर्गमणमार्गः । उरुव-संलुता  
जघाः , रेतः-संलुताः सिकताः , अतो योनि-संलुतानां परित्रिता  
मुखबाह्यकेभ्यो बाह्यत्वम् , जघाणाञ्च तत आन्तरत्वं मुपपन्नं  
मित्यर्थः । “बाह्यं जघा भवन्तीत्यादि । उरुवसंलुतत्वाद्विषाणां  
बाह्यदेशवर्तित्वम् , रेतःसंलुतत्वात् सिकतानां मध्यन्तरत्वं

\* वा० सं० १२. ४६. १ ।

† आप औ० ख० १६. १३. १० ।

‡ पा० ख० ४. १. ४४ , ४५ ।

मुक्त मित्यर्थः । “बाह्यं हीति । लोकाप्रसिद्धोपपादनम् ।  
“एतेभ्यो वा इति । योन्युत्पत्तेरतोभ्यः खलु जायमानो जन्तुर्जायते  
लोके । तथा च ‘एनम्’ अग्निं ‘तेभ्य एव’ योन्यादिभ्यः इदानीं  
‘जनयति’ ॥ १६ ॥

इत्थं संस्कृतगार्हपत्यायतनस्येष्टकाभिचयनं विधत्ते — “अथैन  
मिति । ‘अथ’ अनन्तरम्, सिकताक्षणा सितस्य रेतसः यस्मात्  
कार्यरूपेण परिणामोऽपेक्षितः, ‘अतः’ कारणात् ‘एनं’  
व्युद्भूतनादिभिः संस्कृतं गार्हपत्यदेयं मिष्टकाभिः ‘चिनोति’ ।  
‘इदं मेव’ सिकतारूपेण ‘सितं रेतः’ ‘एतत्’ एतेन अयनेन  
‘विकरोति’ विकृतं अवयवयुक्तं करोति । “तस्मादिति लौकिको-  
दाहरणम् ॥ १७ ॥

विहितस्य चयनस्य निष्पत्तये इष्टकानां मुपधानप्रकारं  
विधत्ते — “स चतस्र इति । गार्हपत्यायतनस्य” मध्ये प्रथमं  
‘चतस्रः’ ‘प्राचीः’ प्रागायताः इष्टकाः उपदध्यात् । ततः  
‘पश्चात्’ पश्चाद्भागे ‘तिरश्चरी’ तिर्यगायते ‘हे’ इष्टके उप-  
दध्यात् । तथा चतस्रणां ‘पुरस्तात्’ अपि हे तिरश्चरी उपदध्यात् ।  
एतासु त्रिविधास्त्रिष्टकासु अवयववस्तुतिं करोति — “तथा-  
चतस्र \* इत्यादिना । “सं भावेति । मध्यदेश इत्यर्थः । “चतु-  
र्विधो ज्ञेय मिति । त्वगद्वर्मांसास्त्रिभेदेन, मनोबुद्धाहङ्कार-  
चित्तैर्वा, आगदाद्यवस्त्वचतुष्टयेन वा आत्मनसातुर्विध्यम् ।  
सकथ्याविति । सूक्ष्मिः श्रोणिः, तेन च पादो लक्ष्यते ; पश्चा-  
दुपहिते इष्टके पादावित्यर्थः । पादपाणिमुक्तस्वास्त्यं शरीरस्य

\* ‘तथाचतस्र’—इति सर्वमूलपुस्तकसम्मतः पाठः ; भाष्ये तु  
सर्वत्रैव ‘तथाचतस्र’—इति ।

किन्तिहि शिर इत्यत आह—“यत्र वा इति । ‘यत्र’ खलु  
‘आत्मा’, मध्ये देहो वर्तते, तत्रैव ‘शिरः’ आत्मन्येवात्मर्भूत मिति  
अतो न पृथग्, वक्तव्य मित्यर्थः ॥ १८ ॥

“तं वा इत्यादि । ‘अत्र’ अस्मिन् गार्हपत्यस्थाने ‘तम्’  
एव ‘एतम्’ अग्निं पादाभ्यां पुच्छेन च युक्त मिव ‘विक-  
रोति’; मध्ये चतस्रः, उभयपार्श्वयोः द्वे द्वे, इत्येव सुपधीय-  
मानत्वात् । “यादृग् वा इति । ‘योनी’ गर्भाशये अवस्थितं  
‘रतः’ गर्भः, यादृशाकारं ‘विक्रियते’ विशिष्टावयवं क्रियते,  
जननसमयेऽपि तादृशाकारविशिष्टं मेवापत्यं ‘जायते’ ।

इत्थं लौकिकी स्थिति मुक्ता प्रकृते योजयति—“तद्यदिति ।  
‘तत्’ तत्र ‘एतम्’ अग्निम् ‘अत्र’ गार्हपत्यायतनयोनी ‘यद्’ यस्मात्  
‘पक्षपुच्छवन्तं विकरोति’ सूक्ष्मरूपेण निर्मिमोति, ‘तस्मात्’  
‘एव’ अग्निः ‘अमुत्र’ आहवनीयस्थाने ‘पक्षपुच्छवान्’ ‘जायते’  
जायमान उपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

“तं वा इति । “न पक्षपुच्छवन्तं मिव पश्यन्तीति । सता  
मपि पक्षपुच्छानां मदर्शनं योन्या मनभिव्यक्तेर्वा भवति \* । एत  
लौकिकोदाहरणेनोपपादयति—“तस्मादिति † । “यथारूप  
मिति । विद्यमानं शिरःपादादिकं कृत्स्नं रूप मित्यर्थः ।  
“अथेन ममुत्रेति । ‘एतम्’ अनभिव्यक्तरूप मग्निम् ‘अमुत्र’  
आहवनीयस्थाने अभिव्यक्तं ‘पक्षपुच्छवन्तं’ यस्मात् ‘पश्यन्ति’,  
‘तस्मात्’ एव कारणात् जननात् प्रागनभिव्यक्तावयवं गर्भजन-  
नात् जुह्वं ‘यथारूपम्’ अभिव्यक्तावयवं ‘पश्यन्ति’ इत्यर्थः ॥ २० ॥

\*, † नैतद् वाक्यद्वयं जादव्येषु ।

“स चतस्र इति । “आत्मा ह्येवाय इति । यस्मात् शिरसा युक्तो मध्यदेहः ‘एव’ ‘सम्भवतः’ उत्पद्यमानस्य प्राणिनः ‘अग्ने’ प्रथमतः ‘सम्भवति अभिषिक्तो भवति, तस्मादात्मसंस्तुता, इष्टकाः पूर्वं सुपदध्यादिति युक्तम् । तस्मिन्नुपधाने धर्मविशेष माह— “दक्षिणत इति । गार्हपत्यायतनस्य दक्षिणदेशे उदङ्मुख आसीनः चतसृणां मध्ये ‘प्रथमाम्’ इष्टकाम् ‘उत्तरार्द्धाम्’ उत्तरार्द्धे भवाम्, उत्तरभागेऽवस्थिता सुपदध्यात् । “दिक्पूर्वपदादृष्टेति उत्तरार्द्धाद्यत् प्रत्ययः \* । उत्तरार्द्धायाः प्रथम सुपधाने प्रयोजन माह— “तथो हेति । तथैव खलु ‘अस्य’ दक्षिणतोऽवस्थितस्य अञ्चर्योः ‘एषः’ अग्निः ‘अध्यात्मम्’ आत्माभिमुख मेव ‘चितो भवति’ ॥ २१ ॥

चतसृणां सुपधाने “अयं सो ऽअग्निरित्याद्याद्यत्वारो मन्त्राः †, इत्यभिप्रेत्य प्रतीक सुपादत्ते— “अयं स इति । तथाच कात्यायनः— “मध्येऽर्द्धवृहतीश्चतस्रो दक्षिणोत्तराः प्राचीरुपदधाति, दक्षिणत उदङ्मुखं सो ऽअग्निरिति प्रत्युच मिति ‡ ॥

तत्र प्रथमाया ऋचोऽय मर्थः §, — ‘सः’ चीयमानो गार्हपत्योऽग्निः ‘अयं’ भूलोक एव । ‘यस्मिन्’ शरीरभूतेऽस्मिन् भूलोके जठरमध्ये ‘वावशानः’ कामयमान इन्द्रः ‘सुतम्’ अभिषुतं ‘सोमम्’ तत्कारणभूतः वृष्टिलक्षणाः अपः ‘दधे’

\* पा० ख० ४. ३. ६ ।

† वा० सं० १२. ४७-५० ।

‡ का० श्री० ख० १७. १. ८ । “अर्द्धवृहतीरिष्टकाः ।

§ अयं पाठः,— “अयं सो अग्निर्यस्मिन्सोमो मित्रः सुतं दधे जठरे वावशानः । महस्त्रियं वाज मत्वन्न ममिन् ससवानस्तयसे जातवेदः ॥”

अवत् । 'सहस्रियं' सहस्रोपकारजनकं 'वाजम्' अश्वक्षयं मन्त्रम् ,  
'सति' सत्पुण्यशीलम् , 'अत्थं' सततगामिनम् , 'अत्थं न' अथ  
मिव । नेत्पुण्यार्थे \* । 'ससवान्' सशक्तवान् । "वनपण  
सशक्तौ"—इत्यस्मात् † कसी रूपम् । गार्हपत्यरूपेण प्रथमं चितः  
सन् हे 'जातवेदः' जातानां वेदितः अग्ने ! 'स्तूयसे' आह-  
वनीयात्मना चीयमानः तद्धारणमन्त्रैः प्रतिपाद्यसे इत्यर्थः ॥

एतदर्थपरतां मन्त्रस्य प्रतिपादयति— "अयं वै लोका इत्या-  
दिना । "मध्यं वै जठरं मिति । देहमध्यवाचिना जठरशब्देन  
भूलोकस्य मध्यं मत्र लक्ष्यते । "आपो वै सहस्रिय इति । उप-  
काराणां सहस्रेण सन्धितः 'सहस्रियः' । "सहस्रेण सन्धितौ  
घः" ‡ । तथाविधो वाजोऽत्र मश्वक्षणं विवक्षितम् ॥ २२ ॥

द्वितीयं मन्त्रं भागशोऽनूय व्याचष्टे— "अग्ने यत्त इति ।  
अस्य मन्त्रस्यार्थं मर्थः §,— हे 'अग्ने !' 'यत्' 'ते' त्वदीयं  
'वर्चः' आदित्यात्मकं ज्योतिः 'दिवि' वर्त्तते , तथा 'पृथिव्या'  
भूलोके 'यद्' वर्चः दाहपाकप्रकाशनसमर्थं मग्न्यात्मकं ज्योति-  
रस्ति , 'ओषधीषु' तरुशुस्त्राद्यासु , 'अप्सु' 'आ' आकारः  
समुच्चये , उदकेषु जाठरवाडवरूपेण , हे 'यजत्र' यजनीयाम्ने !  
त्वदीयं यत् तेजोऽस्ति , 'येन' वाय्वात्मना तदीयेन रूपेण 'उक्'  
विस्तीर्णम् 'अन्तरिक्षम्' 'आततन्य' आतनोषि , हे अग्ने ! 'त्वेषः'

\* निरु० १. २. १ ।

† आ० प्र० ४६४ धा० ।

‡ पा० छ० ४. ४. १३५ ।

§ तत्त्वायं पाठः— "अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्या यदोषधीस्त्रा-  
यजत्र । येषान्तरिक्षं सुधाततन्य त्वेषः स भानुरर्णवो वृचसाः"—इति ।

दीप्यमानो महानित्यर्थः । 'सः' अग्निः वायुादिरूपेण लोकत्रयं व्याप्य अवस्थितः , तदीयो 'भानुः' प्रकाशः 'अर्णवः' समुद्रोपमः सन् , 'नृचक्षाः' सर्वेषां नृणां द्रष्टा , प्रकाशको भवति ॥

अयं मेवार्थः श्रुत्या प्रतिपाद्यते— “आदित्यो वा अस्य दिवि वर्च इत्यादिना ॥ २३ ॥

तृतीयं मन्त्रं व्याचष्टे \*— “अग्ने दिव इत्यादि । हे 'अग्ने !' अस्य 'दिवः' अन्तरिक्षस्य सम्बन्धि 'अर्णो' मेघस्य सुदकं 'अच्छ' अभिलक्ष्य , धूमेन 'जिगासि' व्याप्नोषि । तथा अध्यात्मं 'ये' प्राण-रूपाः 'देवान्' 'धिष्ण्याः' धियः 'इच्छन्ति' व्याप्नुवन्तो वर्त्तन्ते , तान् देवान् त्वं जाठराग्निरूपेण 'जचिषे' समवैषि । “उच सभवाये” —इति † धातुः । तथा 'याः' 'आपः' 'रोचने' रोचमाने सूर्यलोके वर्त्तमानस्य 'सूर्यस्य' 'परस्ताद्' उपरिभागे वर्त्तन्ते , 'याश्च' 'अवस्तात्' अधोभागे 'उपतिष्ठन्ते' वर्त्तन्ते , असा मात्रयित्वं प्राप्नोषीति शेषः ॥

उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य दर्शयति— “आपो वा अस्य दिवोऽर्ण इति । “एष धूमेनेति । भूम्यां पार्थिवरूपेणावस्थितः 'एषः' अग्निरित्यर्थः । “प्राणा वै देवा इति । दीप्यन्ति विषयप्रकाशान् जनयन्तीति 'देवाः प्राणाः' इन्द्रियाणि । “ते हि सर्वा इति । 'हि' यस्मात् 'ते' प्राणाः 'सर्वाः धियः' शब्दादिविषयाणि सर्वाणि ज्ञानानि 'इच्छन्ति' आभीक्ष्ण्येन व्याप्नुवन्ति । “इष आभीक्ष्ण्ये”—

\* तस्यायं पाठः— “अग्ने दिवे अर्ण मच्छ जिगास्यच्छा देवाश्च जचिषे धिष्ण्या ये । या रोचने परस्तादूर्ध्वस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः”—इति ।

† दि० प० ११७ धा० ।

इति क्रैयादिको धातुः \* । तस्मादेतं क्षिण्यशब्देन मन्त्रे  
विवक्षिताः । “याश्चैतं परेणेति । एतस्मात् सूर्याददूरेण परभागे  
इत्यर्थः । “एनवन्तरस्याम्”-इत्येनप् †, “एनपा द्वितीया”-इति  
द्वितीया ‡ ॥ २४ ॥

“पुरीषासो अग्नय इति । चतुर्थो मन्त्रः § । अस्याय मर्धः,—  
पूरयति पयःप्रभृतिभिर्लीक मिति ‘पुरीषं’ पशवः, तेभ्यो हिताः  
‘पुरीषाः’ । “आजसेरसुक् ॥” । तथाविधाः ‘अग्नयः’, ‘प्रावणेभिः’  
प्रवनसम्बन्धिभिः सभजनयुक्तेस्तेर्देवैः ‘सजोषसः’ समानप्रीतयः  
सन्तः अस्मदीयं ‘यज्ञं’ ‘जुषन्ताम्’ सेवन्ताम् । तदनन्तरम्  
‘अद्रुहः’ द्रोहरहिताः, ‘अनमीवाः’ अमीवा अशनाया, तद्र-  
हिताः । ‘महीः’ महतीः ‘इषः’ अन्नानि, अस्मभ्यं प्रयच्छ-  
न्त्विति शेषः ॥

उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—“पशव्यासो अग्नय इत्येत-  
दित्यादिना । “प्रायणरूप मिति । ‘प्रावणेभिः’-इति मन्त्र-गतः  
‘प्र’-शब्दः ‘प्रायणरूपम्’ प्रायणस्य प्रगमनस्य प्रारम्भस्य रूपम् ।  
गार्हपत्यचित्तिश्च ‘अग्नेः’ अग्निचयनस्य प्रायणम् प्रारम्भः ;  
अतः प्रशब्दोपेतो मन्त्रोऽत्र योग्य इत्यर्थः । अनमीवा इत्यस्यार्थ  
माह—“अनशनाया इति । अशनेच्छा अशनाया क्षुत्पीडा ,

\* ऋ० प० ५२ धा० ।

† पा० छ० ५. ३. ३५ ।

‡ पा० छ० २. ३. ३१ ।

§ तस्यायं पाठः—“पुरीषासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ।  
जुषन्तां यज्ञं मदृहोऽनमीवा इषो महीः”—इति ।

॥ पा० छ० ७. १. ५० ।

न विद्यते सा यासां ताः 'अनशनायाः' । "अशनायोदन्यधनायाः"  
-इति \* बुभुक्षायां क्वचि त्वाभावो निपात्यते ॥ २५ ॥

एतासा मिष्टकानां क्रमेण कृतमुपधानमनूय स्तौति—  
“नानोपदधातीति । 'नाना' पृथगेकैकेष्टका मुपदध्यात् । तेन †  
'ये' 'आत्मन्' आत्मनि स्थिताः नानाविधाः कामाः, तान्  
सर्वान् सङ्कीर्णं पृथगेव 'दधाति' स्थापयति । सादनसूददो-  
हसोः सक्तत्वं विधाय स्तौति— “सक्तत् सादयतीत्यादिना ‡ ।  
तया देवतयेति यत् सादनम्, तत् चतसृणां मिष्टकानां  
सम्भूय सक्तदेव कर्त्तव्यम् । 'तत्' तेन सक्तत्वेन 'आत्मा-  
नम्' 'एकम्' एकाकारम् संहतं 'करोति' । पृथक् साद-  
नेन आत्मा विक्षिष्टः स्यात्, “ता अस्य सूददोहस इति § मन्वेण  
यदधिवदनम्, तदपि सादनस्य सक्तत्वात् सक्तदेव कर्त्तव्य  
मित्यर्थः । अत एव सर्वेष्टकोपधानस्याधारणधर्मत्वेन सादनसूद-  
दोहसो कात्यायनेनोक्तौ— “नित्ये सादनसूददोहसा उपधाना-  
दुत्तरे तथा देवतया ता अखेत्यविशेषोपदेशात्”—इति ॥¶ “प्राणि-  
नैवैनमिति । 'एनम्' आत्मानम् 'एतत्' एतेनाधिवदनेन 'सक्त-  
नोति' संयोजयति । तस्यैव त्रिवरणम्— “सन्दधातीति ॥ २६ ॥

पञ्चिमाहयोरिष्टकयोरुपधानप्रकारमाह— “अथ जघने-  
नेति ॥ मध्येष्टकोपधानानन्तर्यं मथ शब्दार्थः । 'जघनेन घरीत्य'

\* पा० सू० ७. ४. ३४ ।

† 'ततः'—इति ञ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ६ ।

§ वा० सं० १२. ५३ ।

॥ का० श्रौ० सू० १६. ७. १४, १५ ।

¶ का० श्रौ० सू० १७. १. ११ क ।



गार्हपत्यस्थानस्य पश्चात् परिक्रम्य , 'उत्तरतः' उत्तरस्यां दिशि दक्षिणामुखः 'आसीनः' सन् 'अपरयोः' पाशात्ययोरिष्टकयोः 'दक्षिणां' दक्षिणभागस्या मिष्टकाम् 'अग्रे' प्रथमम् 'उपदधाति' ।

"इडा मग्न इति \* मन्त्रेण ॥

तस्याय मर्थः ,— हे 'अग्ने !' 'हवमानाय' हवनं कुर्वते यजमानाय 'इडां' पशुं । जातावेकवचनम् † । गवा-  
श्वादिपशून् 'साध' साधय । पशुरेव ‡ विग्रेष्यते— "पुरुदंस  
मिति । दंस इति कर्मनाम § , बहुकर्महेतुभूतम् , अन्त्यलोप-  
श्चान्दसः । 'शश्वत्तमं' शाश्वतिकतमञ्च पुत्रपौत्रादिरूपेणा-  
विच्छेदेन सर्वदा वर्त्तमानम् ॥ । 'गोक्षनिं' गवादिपशूनां  
दातारम् । 'अक्षै' यजमानाय 'साधय' सम्पादय । अपि च  
'नः' अस्माकं 'तनयः' पुत्रः , 'सूनुः' तत्पुत्रश्च , 'विजावा'  
विविधानां जनयिता स्यात् , उत्पाद्यता मित्यर्थः । अनेर्वि-  
पूर्वात् "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्तै"—इति णा वनिप् , "विडुनोरनुनासि-  
कस्यात्"—इत्यात्वम् \*\* । किं बहुना हे 'अग्ने !' त्वदीया सा  
'सुमतिः' सर्वश्रेयोनिदानभूता कल्याणी बुद्धिः 'अक्षै' अस्मासु  
'भूतु' भवत्वित्यर्थः ॥

\* वा० सं० १२. ५१ ।

† पा० ख० १. ६. ५८ । . .

‡ 'शितदेव'—इति ज-पुंल्लकारान्तर ।

§ निघ० २. १. ३ ।

॥ 'पुत्रपौत्रादिरूपेण सर्वदा वर्त्तमानम्'—इति ङ , च , झ ।

.† पा० ख० ३. २. ७५ ।

\*\* पा० ख० ३. ४. ४१ ।

एतदर्थपरत्वेन मन्त्रं व्याचष्टे— “पशवो वा इडेति । इडा खलु मनोर्दहिता । तेनापु हुतैर्घृतदधिमस्वामिन्नारूपैर्द्रव्यै-  
रुत्पन्ना । एतच्च “तत्रापि पाकयज्ञेनेजि स घृतम्”—इत्यादिना  
प्रथमकाण्डे प्रतिपादितम् \* । तथा च पशुप्रभवद्रव्येभ्य उत्पन्न-  
त्वादिडायास्तद्वाचिनेडाशब्देन कारणभूताः पशव एवोच्यन्ते ।  
पुरुदंसादिविशेषणेषु लिङ्गव्यत्ययम्भान्दसः । पशूना मेवेति  
कर्मणि षष्ठी ; पशुविषयाम् ‘आशिषं’ प्रार्थनान्त्वात् ‘अस्मै’  
यजमानाय अर्ध्वर्युः ‘आशास्ते’ । “यजमानो वै हवमान इति ।  
देवानाह्वयति , तेभ्यो जुहोतीति वा , हवमानशब्दो यजमान-  
वाचीत्यर्थः । “प्रजा वै सूनुरिति । तनय-शब्देन पुत्रस्य  
प्रतिपादितत्वात् तत्पुत्रादिरूपाः प्रजाः सूनु-शब्देन प्रति-  
पाद्यन्त इत्यर्थः ॥ २७ ॥

अथ पाश्चात्ययोरुत्तरस्या इष्टकाया उपधानं विधत्ते—  
“अथोत्तरा मिति † । उपदधातीति शेषः । मन्त्रस्याय मर्थः ‡ ,  
— हे ‘अग्ने !’ ‘ऋत्वियः’ ऋतौ भवः , ‘सनातनः’ ‘अयं’  
भूप्रदेशस्तव ‘योनिः’ उत्पत्तिकारणम् । ‘यतः’ यस्माद्योनिः  
‘जातः’ सन् ‘अरोचथाः’ अदोष्यथाः , ‘तं’ योनिभूतं देशं  
‘जानन्’ ‘अरोह’ प्राप्नुहि । ‘अथ’ अनन्तरम् ‘नः’ अस्माकं  
‘रयिं’ धनं ‘वर्धय’ ॥

मन्त्रस्यैत मर्थं प्रतिपादयति— “अयन्त इत्यादिना § ।

\* १ भा० ५२५ पृ० १५ पङ्क्तितो द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. ११ क ।

‡ वा० सं० १२. ५२ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ११ ख ।

“ऋत्विय इति । मन्त्रपदस्यार्थः माह \*— “ऋतव्य इति । ऋतो भव इति विगृह्य “हृन्दसि घस्”-इति † घस्यत्वये ऋत्विय इति” रूपम्, तथा च ऋतव्य इति तस्यार्थो भवति ‡ । ‘सनातनः’-इति ऋतव्यपदव्याख्यानम् ; ऋत्वात्मकस्य कालस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् तत्र भवः अग्निः ‘सनातनः’ नित्य इत्यर्थः । तथा च ‘जातः’-इति प्रादुर्भावमात्रं विवक्षितम्, नोत्पत्तिः । “अदोष्यथा इत्येतदिति । “रुच दीप्तावभिप्रीत्याञ्चेति § रुचिधातोरनेकार्थत्वादत्र दीप्तार्थो विवक्षित इति भावः । “यथैव यजुरिति । यंजुर्मन्त्रो यथैव प्रतिपादयति, तथैव तस्य ‘बन्धुः’ बन्धनीयं व्याख्यानम् ॥ ; स्रष्टार्यतया न पृथक् व्याख्यायत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

एतयोः पाश्चात्ययोः इष्टकयोरुपधानसादनादीनां पृथक् कर्तव्यता माह— “सक्थ्यावित्थादिना । ‘अस्य’ अग्नेः ‘सक्थ्यौ’ श्रोत्र्यौ ‘एते’ इष्टके ; अतः ‘ते’ ‘नाना’ पृथगुपदध्यात् । सादनभूददोहसाधिवदने अपि पृथक् कर्तव्ये । तत्र कारण माह— “नाना होमे इति । ‘इमे’ मनुष्यसम्बन्धिन्यौ सक्थ्यौ ‘हि’ यस्मात् ‘नाना’ पृथगसंज्ञिते भवतः, तस्मात् तत् संस्तु-

\* वा० सं० ३. १४ ; १२. ५२ ।

† पा० छ० ५. १. ११६ ।

‡ “ऋत्वियः । उपानययोग्यः कालः ऋतुरुच्यते । ऋतुः प्राप्नो-  
ऽस्येति ऋत्वियः । हृन्दसि घसिति ऋतुशब्दात्तदस्य प्राप्तमित्यर्थे  
घस्, तस्य इयादेशः । सायम्प्रातःकाले उपानययोग्यः”—इति मञ्जी० ।

§ भा० आ० ७४५ धा० । ‘रुच दीप्तावभिप्रीतौ च’-इति तत्र पाठः ।

॥ ‘बन्धुः’ बन्धनीयं (? बन्धनीयं ?) व्याख्यानः—इति ज-पाठः ।

तयोः अष्टकयोरप्यसंज्ञेयो युक्त इत्यर्थः । “हे भवत इति ॥

पञ्चाङ्गागोपधान मनुद्य स्तौति— “पद्यादिति । “पद्याद्वीमे इति । ‘हि’ ‘यस्मात्’ ‘इमे’ दृश्यमाने पुरुषसम्बन्धिभ्यो सक्थ्यौ. ‘पद्याद्’ भागे शरीरस्यापरभागे भवतः, तस्मादनयोः पद्यादुपधानम् युक्तम् । अग्रप्रदेशेन तयोः परस्परसंसर्गं विधत्ते— “अग्राभ्या मिति । आत्मसमीपे अग्रदेशः, तत्रैते ‘संस्पृष्टे’ भवत इत्यर्थः । “एवं होमे इति । लौकिकं निदर्शनम् ॥ २८ ॥

पूर्वाद्ययोरुपधानप्रकार माह— “अथ तेनैवेति \* । येन मागेण पाञ्चात्ययोरुपधाने परिक्रमणं कृतम्, तेनैव पुनः ‘दक्षिणतः’ ‘परीत्य’ परिक्रम्य, तत्रोदस्रुखः ‘आसोनः’ ‘पूर्वयोः’ अष्टकयोः मध्ये ‘अग्रे’ प्रथमम् ‘उत्तरा उपदधाति’ । “चिदसीति तस्य मन्त्रः † । अनन्तरम्, ‘दक्षिणाम्’ उपदधाति “परिचिदसीति ‡ ॥

तन्मन्त्रयोरय मर्थः,— भोगांश्चिनोति सम्पादयतीति चित् § । हे अष्टके ! त्वं ‘चित्’ चेतयमाना वागसि [ भोगांश्चिन्वानासि । या देवता त्वा मभिमन्यते ॥ ] । तया वाश्रूपया ‘देवतया’ ‘अङ्गिरस्वत्’ अङ्गिराः प्राणाः । “प्राणो हि वा अङ्गानां रसः”—इति ¶ तन्नामव्युत्पत्तेः । सोऽस्यास्तौत्यङ्गिरस्वत् । क्रिया-

\* का० श्रौ० सू० १७. १. १२ ।

† वा० सं० १२. ५३. १ ।

‡ वा० सं० १२. ५३. २ ।

§ ‘चोयत इति चित् । यदा’—इत्यादि मन्त्रौधरः ।

॥ बन्धनीचिह्नान्तःप्रदर्शितः पाठो ज-पुस्तकमात्रे अधिकः ।

¶ शत० ब्रा० ६ का० १ प्र० २ ब्रा० २८ ख ।

विशेषण मेतत् । “तसौ मत्वर्थे”-इति \* भत्वादुत्वाभावः । तेन युक्तं यथा भवति तथा वाग्देवतया युक्ता असौत्यर्थः । ‘ध्रुवा’ स्थिरा संतो ‘सोद’ निष्प्रस्था भव ॥

परिचिदंसोति द्वितीयो मन्त्रः । परितो भोगांश्चिन्वाना सम्पादयमानासौत्यर्थः † । ‘सकथ्यावस्येते’-इतिवद् ‡ ‘बाह्व्यस्येते’-इति व्याख्येयम् ॥

एतासा मिष्टकाना सुपधानस्य प्रादक्षिण्य सुपनयेन दर्शयन् स्तौति— “स वा इतीमा इति । ‘इमाः’ मध्ये उपधीयमानास्तस्य इष्टकाः आत्मन उत्तरार्धे मारभ्य दक्षिणा उपदधाति § । ‘इमे’ पाश्चात्ये इष्टके ‘इति’ प्रथमं दक्षिणार्धार्थम्, पश्चादुत्तरार्धार्थं मित्यनेन क्रमेणोपदधाति । तथा ‘इमे’ पौरुष्ये इष्टके प्रथमं सुत्तरार्धार्थम्, पश्चाद् दक्षिणार्धार्थं मित्यनेन क्रमेणोपदधाति । ‘तत्’ तथा सति ‘दक्षिणावृत्’ प्रादक्षिण्येन वर्तनम् भवति खलु, ‘देवता’ देवेषु योग्य मित्यर्थः ॥ ३०, ३१ ॥

अथोपहिताना मिष्टकानां सन्भूय सङ्ख्यां प्रशंसति— “अष्टाविष्टका इति । “गायत्रोऽग्निः”-इत्यष्टाक्षरपादेन गायत्री-च्छन्दसा सह प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वाद्गन्गेर्यायत्रत्वम् ॥ । सादनसङ्ख्या मनूय स्तौति— “पञ्च कृत्व इति । मध्ये उपधेयस्य

\* पा० छ० १. ४. १६ ।

† ‘परिचोयमाहा वागसौत्यर्थः’-इत्येव ङ, च, छ ।

‡ नवमकण्ठी, तद्वाच्यं इष्टयम् (१०, ३६ पृ०) ।

§ का० श्रौ० छ० १७. १. १३ ।

• ते० सं० ७. १. १. ४ ।

इष्टकाचतुष्टयस्य एकं सादनम्, अन्यासां चत्वारोति पञ्च भवन्ति । “पञ्चचितिकोऽग्निरिति । पञ्च चितयः प्रस्ताराः यस्मिन् स तथोक्तः । “पञ्चर्त्तव इति । हेमन्तशिशिरयोः समासाभिप्रायेण \* । “संवत्सरोऽग्निरिति । संवत्सरः प्रजापतिर्विराट्, तदात्मकश्चोद्यमानोऽग्निः प्रागुक्त इत्यर्थः । सङ्ख्यादयं सम्भूय प्रशंसति — “अष्टाविष्टका इति । “त्रयोदश मासा इति । संसर्गाहस्यति(†) सञ्ज्ञकोऽधिमासस्त्रयोदशः ; “अस्ति त्रयोदशो मास इति”—इति श्रुतेः ‡ । “त्रयोदशाग्नेरिति । चित्यस्थान्ने-श्चितिपुरोषाणि त्रयोदश भवन्ति । आदितश्चतस्रश्चितयः पुरीष-निवपनान्ताः, स्तोमभागान्ता पञ्चमी चितिः । तदनन्तरमाव्येकं पुरोषम्, नाकसत् प्रभृति पुरीषनिवपनान्ता षष्ठो चितिरिति इ, ततो विकर्णस्वयमाह्वस्योरुपधानं हिरण्यशकलैः प्रोक्षणं मन्त्रभ्याधानञ्चेति सप्तमी चितिः, स त्रयोदशो, इत्यादिर्विभाग ऊह्यः § ॥ ३२ ॥ .

लोकम्पृणाख्याया इष्टकाया उपधानं विधत्ते — “अथेति । एवमष्टाविष्टका उपधाय, अनन्तरं सवशिष्टे गार्हपत्यचितिस्थाने लोकम्पृणाख्या मिष्टका उपदधाति ; लोकं शिष्टं स्थानं पृथक् पूरयेति तन्मन्त्रे ॥ प्रतिपादनात् । “तस्या उपरि बन्धुरिति । ‘तस्याः’ लोकम्पृणायाः, ‘उपरि’ उपरिष्ठात्, अष्टम-

\* ऐ० ब्रा० १. १. १ ।

† सर्वेष्वेव पुस्तकेष्वेव मेव पाठः ।

‡ अत० ब्रा० प्र० ४. २. ५. ५ ।

§ हे इत्यादि ग्रन्थो ज-पुस्तकान्तरैश्च नास्ति ।

॥ वा० ख० १२. ५४ इत्ययम् ।

काण्डावसाने “असी वा आदित्यो लोकम्पृणा”-इत्यादिः स्तावको वाच्यशेष आन्वाख्यत इत्यर्थः \* ।

‘सक्तदुष्चारितेन लोकं पृणति मन्त्रेण तिसृणां युगपदुपधानं विधत्ते— “तिस्रः पूर्वा इति । तत् प्रशंसति— “ब्रह्मदम्भिरिति । “स आन्तस्तेषानो मृदं शुक्लाप मित्यादिना भग्ने-  
स्त्रिहत्त्वम् प्रतिपादितम् †, अतोऽग्नेस्त्रिहत्त्वसङ्ख्यायोगात् तिसृणां सुपधानं युक्तमित्यर्थः ॥

अथ तेनैव सक्तदुष्चारितेनैव मन्त्रेण दशाना मिष्टकानां सुपधानं विधत्ते— “दशोत्तरा इति । उपदधातीति शेषः । उत्तरा उपरिभाविनीरित्यर्थः । “तासां सुपरीति । ‘तासां’ दशाना मिष्टकानाम्, यादृशी सङ्ख्या, तत्स्तावकोऽर्थवादी भविष्यतीत्यर्थः ॥

पूर्वं त्रयोदशलोकम्पृणानां द्वेधा विभागेनोपधानं मभिधाय, त्वेधा विभागपक्षं मन्वाह— “द्वे वाये इति । एतच्च पक्ष-  
द्वयं सूत्रकृतापि दर्शितम्— “तिसृषु लोकम्पृणासु मन्त्रो दश स च द्वयोर्वा दशस्वेकस्यां वा”-इति ‡ । द्वितीयं पक्षं लौकिकेन निदर्शनेनोपपादयति— “एवं ह्रीति । यच्च हि काष्ठादिभि-  
र्वित्तिनिर्मयते, तच्च एव मेव हि चित्तिं चिन्वन्ति । मूलाद्य-  
भागयोर्द्वे काष्ठे प्रथमं तिर्यक् स्थापयन्ति, पञ्चाक्षर्योर्युपरि  
अन्यानि सर्वाणि प्रागग्राह्यवशिष्टानि स्थापयन्ति । उपरिष्ठात्  
चलनाभावव्यैकं पुनः स्थापयन्ति । तस्मात् तदनुसारेणायं पक्ष

\* पुरस्तात् न. ४. ३. १ द्रष्टव्यम् ।

† ६ का० १ प्र० १ ब्रा० १६ ख० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० अ० सू० १०. १. १७ ।

उक्त इत्यर्थः । तासां लोकमृणानां सङ्ख्यां सम्भूयानूद्य प्रा-  
गुक्तो वाक्यशेष इति दर्शयति— “तास्त्रयोदशेति । . “त्रयो  
दश मासाः संवत्सरः”—इत्यादिरुक्तो \* वाक्यशेषोऽत्रापि योजनीय  
इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

पूर्वाभिरिष्टकाभिः सहैतासां सङ्ख्यां सम्भूय प्रशंसति—  
“ता उभय इति । ‘उभयः’ उभयविधाः, “अयं सो ऽग्नि-  
रित्यादिभिर्मन्त्रैः प्रागुपहिताः † अष्टौ लोकमृणास्त्रयोदशेति  
मिश्रिता एकविंशतिर्भवन्ति । [“एकविंश इति, एकविंशति-  
सङ्ख्यापूरकः । “तस्य पूरणे ङट्”, “तिर्विंशतेर्ङिति”-इति ‡ ‘ति’-  
शब्दलोपः § ] तत् तेनैकविंशतिसङ्ख्यासम्पादनेन ‘अमुं’ दुलोकस्थ  
मेव आदित्यम् ‘अस्मिन्’ चिते ‘अग्नौ’ प्रतिष्ठापयति । एकविंशति-  
सङ्ख्यायोगाच्चोयमानोऽग्निस्तदात्मको भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

परिश्रितां सङ्ख्यां मनूय स्तौति— “एकविंशतिरिति ।  
‘उ’-‘एव’-इत्यनयोर्यणादेशे सति ‘विव’-इति भवति । तत्र ‘उ’-  
शब्दोऽप्यर्थः । ‘परिश्रितः’ गार्हपत्यचितेः परितः चिताः शर्करा  
अप्येकविंशतिसङ्ख्याका एव भवन्ति ; तत्रापि मासादिलोकान्ता  
विंशतिः पूर्ववत् । ‘अयम्’ एव चोयमानः ‘अग्निः’ ‘अमुतः’  
अमुत्र परिश्रिते ‘एकविंशः’ एकविंशतिसङ्ख्यापूरकः । ‘अधिः’  
सप्तम्यर्थानुवादी । ‘तत्’ तथा सति ‘इमम्’ एकविंशम् ‘अग्निम्’  
‘अमुस्मिन्’ एकविंशे ‘आदित्ये’ प्रतिष्ठापयति ॥

\* पुरस्तात् ११ पृ० ३२ क० द्रष्टव्यम् ।

† पुरस्तात् २२ क० ( ७, २६ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ पा० सू० ५. २. ४८, १. ४. ३४२ ।

§ बन्धनोच्चिह्नान्त एव पाठस्तु ङ-पुस्तकमात्रे अधिकः ।



एतदेव विवृणोति— “तद्यदिति । ‘तत्’ तत्र ‘यत्’ यस्मात्  
 ‘एताः’ परिश्रितः इष्टकाश्च ‘एवं’ प्रत्येक मेकविंशतिसङ्ख्याकाः  
 ‘उपदधाति’, ‘एतत्’ एतेन कारणेन ‘एतावेव’ अग्न्यादित्यौ  
 ‘अन्योऽन्यस्मिन्’ ‘प्रतिष्ठापयति’ । अत एवेदानीं ‘तौ’ एव  
 ‘अन्योऽन्यस्मिन्’ प्रतिष्ठितौ दृश्येते । आदित्यो रात्रावग्निं प्रविश्य  
 प्रतितितिष्ठति, अग्निश्चोद्यन्त मादित्यं प्रविश्य प्रतिष्ठितौ  
 भवति । एतच्चाग्निहोत्रब्राह्मणे प्रतिपादितम् \* । तयोरुभयो-  
 रप्यत्र सन्निधानं माह “तौ वा इति । परिश्रिदिष्टकासङ्ख्या  
 हयोरैकविंशयोरत्र सम्पादनात् ‘इमौ’ अग्न्यादित्यौ ‘उभौ’  
 अपि ‘अत्र’ चित्याग्नी सन्निहितौ ‘भवतः’ ; तत्राहवनीय-  
 चितिरूपेणादित्यो वर्त्तते, गार्हपत्यचितिरूपेणाग्निरिति तयो-  
 र्विभाग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

पुरोषनिवपनं विधत्ते— “अथ पुरीष मिति † । इष्टकासंश्लिषु  
 छिद्रपूरणार्थाः पांशवः पुबोषम् । तस्मात् ता सुपरि प्रक्षिपती-  
 त्वर्थः । “तस्योपरि बभ्रुरिति । ‘तस्य’ पुरीषनिवपनस्य प्रयोजन-  
 प्रतिपादको वाक्यशेषः । “इन्द्रं विष्णां अवोदधन्निति, तन्मन्त्र-  
 विधिश्च उपरिष्ठादष्टमकाण्डावसाने ‡ आम्नास्यत इत्यर्थः ॥

पुरीषाहरणस्थानं विधत्ते— “तच्चात्वन्तेति । उत्तरवेद्य-

\* “अग्निं वावादित्यः साद्यं प्रतिश्रति, तस्मादग्निर्दरात्तत्तं ददृशे ;  
 उभे हि तेजसौ सम्यक्तेते ; उद्यन्तं वावादित्य मग्निरनुसमारोहति,  
 तस्माद् धूम एवाग्निर्दिवा ददृशे” इति तै० ब्रा० ३. १. २. ६, १० ।  
 उद्धृतत्वात्येकोऽग्नौ च पुरुस्तादग्निहोत्रब्राह्मणव्याख्याभेदेपि ( २ का०  
 २ प्र० ४ ब्रा० २ क०—२ भा० १२५ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० अ० सू० १७. १. १८ ।

‡ परब्रह्मात् ८ का० ४ प्र० ४ ब्रा० ७ क० द्रष्टव्यम् ।

थानां पांसूनां निर्हरणस्थानं 'चात्वालः' उत्तरवेद्यंसदेशः , तस्य या विला समीपम् , ततः पुरीष माहरेदित्यर्थः । तत् प्रशंसति— “अग्निरेष इति । आहवनीत्याग्न्याधारोत्तरवेदिहेतु-  
त्वाच्चात्वालस्याग्न्यात्मकता । “तथो हेति । तथैवं खलु सति  
'अस्य' चित्वाग्नेः 'एतत्' पुरीष मपि 'आग्नेयम्' अग्निसम्बद्धम्  
'एव भवति' ॥

इत्थं पुरीषान्ता गार्हपत्यचितिरुक्ता , अथ तस्याः प्रान्तेषु  
साम्य माह— “सा समम्बिला स्यादिति । 'सा' गार्हपत्य-  
चितिः 'समम्बिला' भवेत् । 'समं' समानं बाह्याभ्यन्तर-  
भावेन न्यूनाधिकाकाररहितं 'बिलं' परितः प्रान्तदेशो यस्याः  
सा तथोक्ता । “तस्योक्त इति । 'तस्य' बिलसाम्यस्य उखा-  
निर्माणप्रस्तावे स्तावको वाक्यशेष आन्त्रात \* इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

गार्हपत्यचितेः परिमाणं विधत्ते— “व्याममात्रौति । चतुर-  
रन्निर्व्यामः , स परिमाण मस्याः सा । “प्रमाणे इयसच्”—  
इति 'य' मावच् प्रत्ययः । तत् प्रशंसति— “व्याममात्रौ वा इति ।  
तिर्यक् प्रसारितौ बाह्व यावत् परिमाणौ भवतः , तस्य  
परिमाणस्य व्यायम्यतेऽस्मिन् बाहुद्वय मिति व्युत्पत्त्या व्याया-  
म इति सञ्ज्ञा ; स एवात्र वर्णलोपेन व्याम इत्युच्यते ।  
'पुरुषो व्याममात्रः' चतुररन्निपरिमित इत्येतत् प्रसिद्धम् ।  
विराडात्मकः 'प्रजापतिः' च तादृक् पुरुषात्मकः । “त एतान्सप्त  
पुरुषानेकं पुरुष मकुर्वन्निति ‡ न्यूनां प्रतिपादितत्वात् , तादृशो

\* पुरस्तात् ६. ३. ७. २० ।

† पा० सू० ५. २. ५७ ।

‡ पुरस्तात् ६. १. १. ३ ( २८० ७५० ) दृश्यम् ।

विराडात्मकः प्रजापतिरेवायं चीयमानः 'अग्निः' ; उभयोरपि संस्क्रियमाणरूपत्वसाम्यात् । "आत्मसन्निता मिति । चेत्थमाण-  
स्याग्नेरुत्तरीत्या पुरुषत्वात् आत्मना स्वेनाग्निरूपपुरुषेण 'सन्नितां'  
समानपरिमाणाम् । 'तत्' तेन व्याममात्रकरणेन गार्हपत्य-  
चितिरूपां 'योनिं' कृतवान् भवतीत्यर्थः । परितो मण्डला-  
कारां विधत्ते — "परिमण्डलेति । पारिमाण्डल्यं हेधोपपा-  
दयति — "परिमण्डला ह्येति ॥ ३७ ॥

गार्हपत्यचितिरूपस्याग्नेरुत्तरीत्या चतुर्भिर्मन्त्रैः संसर्जनं  
विधत्ते — "अथैनाविति । 'अथ' गार्हपत्यचयनानन्तरम्, 'एनी'  
चित्योत्थरूपावग्नी 'सन्निवपति' सङ्गमयति, इष्टकाभिः चिते  
गार्हपत्यधिशोः उख्य मग्निं स्थापयतीत्यर्थः । सन्निवपतीति  
संशब्दसूचितं मयं माह — "सञ्ज्ञा मेवेति । 'आभ्याम्' 'अग्नि-  
भ्यां' । कर्त्तुं तृतीया । 'सञ्ज्ञाम्' अग्निद्वयकर्तृकं सञ्ज्ञानम्,  
परस्परैकमत्यम्, एतेन सन्निवपनेन करोतीत्यर्थः । तच्च  
करणभूतानां चतुर्णाम् मन्त्राणां प्रतीकग्रहणं करोति \* —  
तत्र, "संमित मिति प्रथमस्य प्रतीकम्, "सं वा मिति  
द्वितीयस्य, "अग्ने त्वम् पुरीथ इति तृतीयस्य, भवतं न  
इति चतुर्थस्य ॥

ते च मन्त्राः † संहिताभाष्ये एव व्याख्याता इति  
प्रतीकं मत्र व्याख्यायते । हे चित्योत्थरूपावग्नी ! 'समितं'  
सङ्गती भवतम् । 'सङ्कल्पेयां' समानकल्पनौ समानसामर्थ्या  
एककार्यकरी भवतम् ( १ ) । हे 'अग्नौ' 'वां' युवयोः

\* का० श्रौ० सू० १७. १. १६ ।

† वा० मं० १२. ५७—६० ।

‘मनांसि’ ‘समकरम्’ समानविषयाणि कुर्वे । तथा ‘व्रता’  
 “शेष्छन्दसि बहुल मिति \* श्लोपः ; ‘व्रतानि’ युवयोः कर्माणि  
 समानानि (२) । हे चौर्यमानाग्ने ! ‘त्वम्पुरीषः’ पशव्यो भवसि  
 (३) । हे अग्नी ! ‘नः’ अस्माकं युवां ‘समनसौ’ संमानमनस्कौ  
 ‘भवतम्’ (४) । इति चतुर्थाम् प्रतीकानां मर्थः ॥

मन्त्राणां तात्पर्यं माह— “शमयत्येवनाविति । परस्परं  
 विद्दिषाणौ ‘एनौ’ अग्नी ‘एतेन’ मन्त्रकरणकेन निवपनेन ‘शमय-  
 त्येव’ शास्तावेव करोति । तच्च शमनम् ‘अहिंसायै’ हिंसापरि-  
 हाराय ; ‘यथा’ तावन्गी ‘अन्योऽन्यं’ परस्परं ‘न हिंसातां’ हिंसां  
 न कुर्याता मिति ॥ ३८ ॥

चतुर्मन्त्रकरणकम् उख्याग्नेर्गार्हपत्यचितिमध्ये निवपनं  
 विधत्ते— “चतुर्भिरिति । ‘सन्निवपति’ नीचैः स्थापयति । “तद्य  
 इति । ‘तत्’ तेन चतुर्मन्त्रकरणकेन सन्निवपनेन ‘ये’ ‘चतु-  
 ष्यादाः पशवः’ गवाश्चादयः , ‘तैरेव’ उपायनभूतैः ‘आभ्याम्’  
 उख्यचित्यात्मकाभ्या मग्निभ्यां ‘सञ्ज्ञां’ परस्परैकमत्यं ‘करोति’ ।  
 कारणान्तरं मय्याह— “अथो इति । ‘अन्नं’ खलु ‘पशवः’,  
 सन्धोजनीयत्वात् ; ‘अन्नेन’ पशुरूपेण ॥ ३९ ॥

रिक्ताया उखाया, अन्नयुक्तं कर्तृकं यजमानकर्तृकं वा अवेक्षणं निषे-  
 धति— “तां न रिक्ता मिति † । नेदिति परिभये ‡ । ‘रिक्ताम्’  
 उखां ‘नेदवेक्षेत’ पश्यतु नैव । विपक्षे बाध माह— “यद्रिक्ता  
 मिति । ‘एनम्’ अवेक्षितारं ‘असेत, ह’ भक्षयेदेव ॥ ४० ॥

तर्हि किं कुर्यादित्यपेक्षायां रिक्ताया उखायाः सिक्ता-

\* पा० ख० इ० १. ७० ।

† का० श्री० ख० १७. १. २० ।

‡ निरु० १. ३. ६ ।

ताभिः समगर्त्तत्वकरणं विधत्ते— “अथास्या मिति \* । ‘अस्यां’ रिक्ताया सुखायां सिकता आवपति, यावद् बिलं पूरयति । वैश्वानरस्याग्नेः ‘एतद्वेतः’ ‘यत्’ याः ‘सिकताः’ श्रौक्तासामान्यात् । ‘एतत्’ एतेन सिकतानिवपनेन ‘अस्याम्’ उखायां ‘रेतोभूतं’ ‘वैश्वानरम्’ अग्निं ‘सिञ्चति’ स्थापयति । ‘सा’ उखा ‘समम्बिला’ भवेत् ; समं निम्नोन्नतत्वरहितं बिलं सुखं यस्याः सा, तथा समबिलेति प्राप्ते पूर्वपदस्य सुगागम-  
स्थान्दसः । समम्बिलत्वस्तावकोऽर्थवादः प्रागुक्त इत्याह—  
“तस्येति । स च “योनिर्वा इयत्” रेत इद मित्यादिना षष्ठकाण्डे प्रतिपादितः † ॥ ४१ ॥

उखायाः शिक्वाहिमोचनं विधत्ते— “अथैना मिति ‡ । ‘एनां’ सिकतायुक्ता सुखां § शिक्वाद् ‘विमुञ्चति’ पृथक् करो-  
ति । विमोक्षप्रयोजनं माह— “अप्रदाहायेति । तन्नोपपत्तिं माह— “यद्वीति । ‘युक्ताम्’ अश्वादि यदाहनं ‘न विमुञ्चते’ ‘तत् प्रदह्यते’ खलु । उक्तं मर्थं प्रकृते योजयति— “एतद्वा इति । ‘एतद्वा’ एषा खलूखा ‘युक्ता’ सती एतम् ‘अग्निम्’ उख्यम् ‘एत-  
द्वेतः’ रेतोऽवस्थापनम् ‘अभार्षीत्’ धृतवती । ततोऽकृतकार्यत्वाद् विमोक्षोपपत्तिः । धृतस्याग्नेः प्रजननं माह— “त मन्त्रेति । ‘अत्र’ अवसरे ‘तम्’ उख्याग्निम् ‘अजीजनत्’ प्रासोष्ट ; उखेति शेषः । प्रजननानन्तरतो धारणहारोखायाः स्त्रीसाधर्म्यं प्रतिपादयति—

\* का० औ० सू० १७. १. २१ क ।

† पुरस्तात् इ का० ३ प्र० ५ ब्रा० १६ क० ( इ भा० २३५ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

• ‡ का० औ० सू० १७. १. २१ ग ।

§ ‘शून्वा सुखां शिक्वताभिः सम्युर्ध्व’ इति महीधरः ।

“अथापर मिति । ‘अपरं’ सिकतात्मकं रेतः ‘धत्ते’ धारयति ।  
“योषा वा उखेति । सिकतावापोपपत्तिः । “तस्मादिति ।  
लौकिकदृष्टान्तप्रदर्शनम् ॥ ४२ ॥

विहिते उखाविमोके मन्त्र मनूय व्याचष्टे— “मातेव पुत्र  
मिति \* । पुरीषपदस्य पशव्यत्वं वाच्योऽर्थः । ‘अभाः’-इति भृजः  
प्रथमपुरुषैकवचने व्यत्ययेन लुङि रूप मित्याह—“अभार्षीदिति ;  
“अभारुखा”-इत्युखाशब्दसामानाधिकरण्यात् ॥

मन्त्रस्याय मर्थः †,— येय मुखा ‘माता पुत्र मिव’ ; ‘पृथिवी’  
भूमिरूपा ; मन्त्रयौत्वात् । ‘पुरीषम्’ ‘पशव्यम्’, ‘पशुभ्यो हित  
मिति यावत् । तादृशम् ‘अग्निं’ ‘स्वे योनौ’ स्वकीये गर्भस्थाने  
‘अभाः’ अभार्षीत् , धारितवती । “विश्वकर्मा’ सर्वस्य कर्त्ता प्रजा-  
पतिः ‘ऋतुभिः’ यज्ञं प्रति गच्छद्भिः , विश्वैः सर्वैः देवैः ‘संविदानः’  
अहो महत् कर्म कृत मित्येवं संवादं कुर्वन् , इदानीं कृत-  
कृत्यां सतीं ता मुखां ‘विमुञ्चतु’ , शिष्यादिमुञ्चति , पृथक्  
कुरुत इत्यर्थः ।

तस्या उखायाः ज्वलनरूपस्याग्नेरुत्तरपार्श्वे अरन्निमात्रे  
चितावेव निधानं कर्त्तव्य मित्याह— “ता मुत्तरत इति ‡ ।  
अरन्निमात्रप्रदेशे . स्थापनस्य स्तावको वाक्यशेषः प्रागुक्त  
इत्याह— “तस्योक्त इति । “अरन्निमात्राच्च वृषा योषा मुपशेत  
इति हि षष्ठकाण्डे प्रतिपादितम् § ॥ ४१ ॥

\* का० श्री० सू० १७. १. २१ ख ।

† तत्पाठस्तु वा० सं० १२. ६१ दृश्यः ।

‡ का० श्री० सू० ( ‘अभिवत्’ ) १६. २. ५ ।

§ तत्र २ प्र० ३ ब्रा० ३० क० ( ६ भा० १४० पृ० ) दृश्यम् ।

सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस आसेचनं विधत्ते—“अथास्या मिति \* । ‘अस्याम्’ उखायां ‘पयः’ दुग्धम् ‘आनयति’ आसिञ्चति । पयआसेके कारणं मुपपादयति—“एतद्वा इति । एतत् खलु कारणम्,—‘एतत्’ सिकतालक्षणं ‘रेतः’ उखां ‘धत्ते’ धारयति । ‘अथ’ तदनन्तरं मिदं मानोतं पयो धत्ते । उत्तार्थसाधकं लौकिकदृष्टान्तं प्रतिपादयति—“योषा वा इति । सिकतापयसोरधरोत्तरभावः मनूय स्वीति—“अधराः सिकता इति । “अधर् हि रेत इति । गर्भाशये अधोभागे स्थितं पुरुषस्य रेतः, स्त्रीवीर्यं शोणितरूपम्, ‘पयः’ ‘उत्तरम्’ उपर्यवस्थितं सत् ‘तत्’ पुंवीर्यं वेष्टयति । अत एव घाट्कौशिकस्य शरीरस्य त्वस्त्रांसासृगाख्या बाह्यास्त्रयो धातवो मातृतो भवन्तीति स्मर्यते । तस्मात् सिकतापयसोर्बाह्याभ्यन्तरभावो गर्भोत्पत्तये सम्पद्यत इत्यर्थः । आनयनस्थानं विधत्ते—“तस्माच्च इति । ‘तत्’ पयः, उखायाः ‘मध्ये’ ‘आनयति’ आसिञ्चति, यथा तत् पयः प्रति उपधानसमये पुरुषशीर्षं मुपदध्यात् तथेत्यर्थः । अत एवोपधानसमये पुरुषशिरस उखाया मुपधानं सूत्रितम्—“उखायां प्रत्यञ्चि, सहस्रदा इति † पुरुषशिर उद्गृह्य मध्ये”—इति ‡ ॥ ४४ ॥ १ ॥ .

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्री० सू० १७. १. २१ घ ।

† वा० सं० १३. ४० ।

‡ का० श्री० सू० १७. ५. १३, १४ ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

प्रजापतिः प्रजा असृजत ।, स प्रजाः सृष्ट्वा  
 सृज्यं माजि मित्वा व्यसृजत तस्माद्विस्तृतात् प्राणो  
 मध्यत उदक्रामदथास्माद्दीर्यं मुदक्रामत् तस्मिन्नुत्  
 क्रान्तेऽपद्यत तस्मात् पन्नादन्न मस्रवद्यच्चक्षुरध्यक्षत  
 तस्मादस्यान्न मस्रवन्नो हेह तर्हि का चनुं प्रति-  
 ष्ठास ॥ १ ॥

ते देवा अब्रुवन् । न वा ऽदृतोऽन्या प्रतिष्ठा-  
 स्तीम मेव पितरं प्रजापतिं संस्करवाम सैव  
 नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति \* ॥ २ ॥

तेऽग्नि मब्रुवन् । न वा ऽदृतोऽन्या प्रति-  
 ष्ठास्ति त्वयीमं पितरं प्रजापतिं संस्करवाम सैव  
 नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति किं मे ततो भवि-  
 ष्यतीति † ॥ ३ ॥

तेऽब्रुवन् । अन्नं वा ऽन्नं प्रजापतिस्त्वन्-  
 मुखा एतदन्नं मदामं त्वन्मुखानां न एषोऽन्न  
 मसदिति तथेति तस्माद्देवा अग्निमुखा अन्न म-

\* , † 'भविष्यतीति'—इति ग, घ ।



दन्ति यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुह्वत्यग्ना-  
वेव जुह्वत्यग्निमुखा हि तद् देवा अन्नं मकु-  
र्व्वन्त ॥ ४ ॥

सु योऽस्मात् प्राणो मध्यत् उदक्रामत् ।  
अयं मेव सु व्यायुर्योऽयं पवतेऽथ यदस्माद्दीर्यं मुद-  
क्रामदसौ सु आदित्योऽथ यदस्मादन्नं मस्रवद्यदेव  
संवत्सरोऽन्नं तत्तत् \* ॥ ५ ॥

तु देवा अन्नौ प्रावृञ्चन् । तद्य एनं प्रवृत्तं  
मग्निरारोहद् † य एवास्मात् सु प्राणो मध्यत् उद-  
क्रामत् सु एवैनं स आपद्यत तु मस्मिन्नदधुरथ  
यदस्माद्दीर्यं मुदक्रामत् तुदस्मिन्नदधुरथ यदस्मादन्नं  
मस्रवत्तुदस्मिन्नदधुस्तु सर्वं कृत्स्नं संस्कृत्योद्ध  
मुदश्रयंस्तद्यं तु मुदश्रयन्निमे सु लोकाः ‡ ॥ ६ ॥

तस्यायं मेव लोकः प्रतिष्ठा § । अथ योऽस्मिन्-  
लोके ॥ ऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणोऽथास्यान्तरिक्षं मात्मा

\* 'तत्तत्'—इति क, 'तत्तत्'—इति ग, घ ।

† 'मग्निरारोहति'—इति का०—सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

‡ 'लोकाः'—इति ग, घ । § 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

॥ 'लोके'—इति क, ग, घ ।

योऽन्तरिक्षे वायुर्य एवाय मात्मन् प्राणः सोऽस्य  
 स द्यौर्वास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्च-  
 क्षुरध्यशेत स चन्द्रमास्तस्मात् स मौलिततरोऽन्न-  
 हि तस्मादुत्सवत् ॥ ७ ॥

तुदेषा वै सा प्रतिष्ठा \* । यां तुदेवाः सम-  
 स्कुर्वन्सैवेय मद्यापि प्रतिष्ठा सो ऽएवायंतोऽधि-  
 भविता † ॥ ८ ॥

स यः स प्रजापतिर्व्यस्रत्सत । अय मेव स  
 योऽय मग्निश्चीयते तद्यदेषोखा रिक्ता शेते पुरा  
 प्रवर्ज्जनाद्यथैव तत् प्रजापतिरुत्क्रान्ते प्राण उत-  
 क्रान्ते व्वीर्ये सुतोऽन्ने रिक्तोऽशयदेतदस्य तद्व-  
 पम् ‡ ॥ ९ ॥

ता मग्नौ प्रवृणक्ति । यथैवैन मदो देवाः प्रा-  
 वृज्जस्तद्य एनां प्रवृक्ता मग्निरारोहति य एवास्मात्  
 स प्राणो मध्यत उदक्रामत्स एवैनः स आप-  
 द्यते त मस्मिन्दधाल्यथ यद्वक्त्रं प्रतिमुच्य बिभर्त्ति

\* 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

† 'भविता'—इति ग, घ ।

‡ 'तद्वपम्'—इति ग, घ ।

यदेवास्माद् वीर्यं मुदक्रामत्तदस्मिन् दधात्यथ याः  
समिध आदधाति यदेवास्मादन्नं मस्रवत्तदस्मिन्  
दधाति ॥ १० ॥

ता वै सायं प्रातरादधाति । अङ्गश्च हि  
तद्वात्रेशान्नं मस्रवत्तान्येतानि सर्वस्मिन्नेव संवत्सरे  
स्युः संवत्सरो हि स प्रजापतिर्यस्मात्तान्युदक्रामं-  
स्तदस्मिन्नेतत् सर्वस्मिन्नेव सर्वं दधाति य-  
स्मिन् हास्यैतदतो न कुर्यान्न हास्य तस्मिन्नेत-  
दध्यान्नासंवत्सरभृतस्येक्षकेण च न भवितव्यमिति  
ह स्माह० व्वामकक्षाबणो नेदिमं पितरं प्रजा-  
पतिं विच्छिद्यमानं धृष्यानीति तं संवत्सरे सर्वं  
कृत्स्नं संस्त्रत्योर्द्धं मुच्छयति यथैवैनं मदो देवा  
उदश्रयन् ॥ ११ ॥

तस्य गार्हपत्य एवायं लोकः\* । अथ यो  
गार्हपत्येऽग्निर्य एवाब मस्मिंल्लोके † ऽग्निः सोऽस्य  
सोऽथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्ष-

\* 'लोकः'—इति क, 'लोकः'—इति ग, घ ।

† 'लोकः'—इति क, ग, घ ।

मथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवाय मन्तरिक्षे व्यायुः  
 सोऽस्य स आहवनीय एव , द्यौर्य य आह-  
 वनीयेऽग्निस्तौ सूर्याचन्द्रमसौ सोऽस्यैष आ-  
 त्मैव \* ॥ १२ ॥

तस्य शिर एवाहवनीयः † । अथ य आह-  
 वनीयेऽग्निर्य एवाय ‡ शीर्षन् प्राणः सोऽस्य स  
 तद्यत् स पक्षपुच्छवान् ‡ भवति पक्षपुच्छवान् §  
 ह्ययं शीर्षन् प्राणश्चक्षुः शिरो दक्षिणं श्रोत्रं  
 दक्षिणः पक्ष उत्तरं श्रोत्रं मुत्तरः पक्षः प्राणो  
 मध्यमात्मा वाक् पुच्छं प्रतिष्ठा तद्यत् प्राणा  
 वाचान्नं जग्ध्वा प्रतितिष्ठन्ति तस्माद्वाक् ॥ पुच्छं  
 प्रतिष्ठा ¶ ॥ १३ ॥

अथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च । स  
 आत्माथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवाय मन्तरात्मन्

\* 'आत्मैव'—इति ख, 'आत्मैव'—इति ग, घ ।

† 'एवाहवनीयः'—इति ग, घ ।

‡, § 'पक्षपुच्छवान्'—इति ग ।

॥ 'तस्मात् प्राणानां वाक्'—इति क ।

¶ 'प्रतिष्ठा'—इति क, 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

प्राणः सोऽस्य स प्रतिष्ठैवास्य गार्हपत्योऽथ यो  
गार्हपत्येऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणः \* ॥ १४ ॥

तं हैके विचितं चिन्वन्ति । त्रयो वा  
ऽद्भमेऽवाञ्चः प्राणा इति न तथा कुर्यादिति ते  
रेचयन्त्येकविंशसम्पद मथो ऽभ्यनुष्टुप्सम्पद मथो  
ब्रह्मतीसम्पदं ये तथा कुर्वन्त्येकं द्यौर्वैतद्रूपं  
योनिरेव प्रजापतिरेव यदेतेऽवाञ्चः प्राणा यच्च  
मूत्रं करोति यत् पुरीषं प्रैव तज्जायते ॥ १५ ॥

अथातः सम्पदेव † । एकविंशतिरिष्टका नव  
यजूंषि तत् त्रिंशत् † सादनं च सूददोहाश्च  
तद् द्वाविंशद् द्वाविंशदक्षरानुष्टुप् सैषानु-  
ष्टुप् ‡ ॥ १६ ॥

एकविंशतिर्वैव परिश्रितः । यजुर्द्वाविंशं  
व्युद्ब्रूहन्स्य यजुरुषाश्च यजुश्च सिकताश्च यजुश्च  
पुरीषं च यजुश्च चतुर्भिः सन्निवपति विमुञ्चति

\* 'प्राणः'—इति क, 'प्राणः'—इति ग, च ।

† 'सम्पदेव'—इति ग, च ।

‡ 'सैषानुष्टुप्'—इति ग, च ।

पञ्चमेन तत्तस्त्रिभिरियं द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् सैषा-  
नुष्टुप् \* ॥ १७ ॥

अथैते द्वे यजुषी † । सो ऽअनुष्टुबेव व्याख्या  
ऽअनुष्टुप् तद्यदिदं द्वयं व्याचो रूपं देवं च मानुषं  
चोच्चैश्च शनैश्च तदेते द्वे ‡ ॥ १८ ॥

ता वा ऽएतास्त्रिंशोऽनुष्टुभः । चित् एष  
गार्हपत्यस्तद्यदेता अत्र तिस्रोऽनुष्टुभः । सम्पादय-  
न्त्यत्र ह्येवेमे तदा सर्वे लोका भवन्ति ततो  
ऽन्यतरां द्वात्रिंशदक्षरा मनुष्टुभ माहवनीयं  
हरन्ति स आहवनीयः सा द्यौस्तच्छिरोऽथेहान्य-  
तरा परिशिष्यते स गार्हपत्यः सा प्रतिष्ठा स उ-  
च्यते लोकः § ॥ १९ ॥

अथ ये ऽएते द्वे यजुषी । एतत्तद्यदन्तरा-  
हवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्षं स आत्मा  
तद्यत्ते द्वे भवतस्तस्मादेतत्तुनीयो यदन्तराहवनीयं

\* 'सैषानुष्टुप्'—इति ग, घ ।

† 'यजुषी'—इति ग, घ ।

‡ 'द्वे'—इति क, 'द्वे'—इति ग, घ ।

§ 'लोकः'—इति क, 'लोकः'—इति ग, घ ।

च गार्हपत्यं च तस्मादिषां लोकानां मन्तरिक्ष-  
लोकस्तुनिष्ठः \* ॥ २० ॥

सैषा त्रेधा विहिता व्यागनुष्टुप् । ता मेधी-  
ऽग्निः प्राणो भूत्वानुसञ्चरति य आहवनीयेऽग्निः  
स प्राणः सोऽसावादित्योऽथ य आग्नीध्रियेऽग्निः  
स व्यानः स उ ऽअयं वायुर्योऽयं पवतेऽथ यो  
गार्हपत्येऽग्निः स उदानः स उ ऽअयं योऽयं मस्मिन्-  
ल्लोके † ऽग्निरेवंबिद्ध वाव सर्वां व्याचं सर्वं  
प्राणं स सर्वं मात्मानं संस्करते ‡ ॥ २१ ॥

सैषा बृहत्येव § । ये वै द्वे द्वाविंशतौ द्वा-  
विंशदेव तदथैते द्वे यजुषी तच्चतुस्त्रिंशदग्नि-  
रेव पञ्चत्रिंशो नाक्षराच्छन्दो व्यत्येकस्मान्न द्वा-  
भ्यां स उद्वाक्षरस्तत् षट्त्रिंशत् षट्त्रिं-  
शदक्षरा बृहती बृहती वा ऽएष सञ्चितोऽभि-  
सम्पद्यते यादृग् वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्

\* 'लोकस्तुनिष्ठः'—इति ग ।

† 'मस्मिन्लोके'—इति क, ग, घ ।

‡ 'संस्करते'—इति ग ।

• § 'बृहत्येव'—इति ग, घ ।

जायते तद्यदेता मत्र ब्रह्मर्षी करोति तस्मादेष  
सुश्रितो ब्रह्मर्षी मभिसम्पद्यते ॥ २२ ॥

तदाहुः । यद्यं लोको गार्हपत्योऽन्तरिक्षं  
धिष्णा द्यौराहवनीयोऽन्तरिक्षलोक उ अस्मा-  
ल्लोकादुन्नतर्हितोऽथ कस्माद् गार्हपत्यं चित्त्वाहव-  
नीयं चिनोत्यथ धिष्णानिति सह हैवेमावग्रे  
लोकावासतुस्तयोर्व्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश . आसीत्  
तदन्तरिक्षं मभवद्दीक्षं हैतन्नाम ततः पुरान्तरा  
वा ऽद्भुद मीक्षं मभूदिति तस्मादन्तरिक्षं तद्यद्  
गार्हपत्यं चित्त्वाहवनीयं चिनोत्येतौ ह्यग्रे लोका-  
वसृज्येता मय प्रत्येत्य धिष्णान्निवपति कर्मण  
एवानन्तरयायाथो ऽश्नन्तयोर्व्वाव संस्क्रियमाणयो-  
र्मध्यं संस्क्रियते ॥ २३ ॥ २ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

उत्थरूपेण संस्कृतस्याग्नेर्विराड् रूपा प्रजापत्यात्मकतां वक्ष्यन्नस्य \*  
प्रजापतेः संस्कृतिं वक्तुकामस्तच्छरीरविशेषं प्रतिपादयति—



“प्रजापतिः प्रजा असृजतेत्यादिना । “प्रजाः सृष्टेति । देव-  
मनुष्यादिकृपा बह्वीः ‘प्रजाः सृष्टा’ ‘सर्वम्’ ‘आजि’ गन्तव्यस्थानम्  
‘इत्वा’ व्याप्य, श्रान्तः सन् ‘व्यस्रंसत’ विस्त्रस्तावयवोऽभवत् ।  
‘तस्माद्विस्त्रस्तात्’ प्रजापतिशरीरात् ‘मध्यतः’ ‘प्राणः’ प्राणादि-  
पञ्चव्यात्मकः ‘उदक्कामत्’ उत्क्रान्तोऽभवत् । ‘अथ’ अनन्तरं मेव  
तस्य प्रजापतेः ‘वीर्ये’ शुक्रम् ‘उदक्कामत्’ । ‘तस्मिन्’ निर्गते सति  
स भूमौ ‘अपद्यत’ पतितोऽभवत् । ‘तस्मात्’ ‘पन्नात्’ पतितात्  
प्रजापतिशरीरात् अन्तरवस्थितम् ‘अन्नम्’ ‘अस्रवत्’ स्रुतं मभवत् ।  
‘यत्’ ‘चक्षुः’ ‘अध्यशेत’ । “अधिशोङ्ख्यासां कर्म”—इत्यधिकरणस्य  
कर्मसञ्ज्ञा \* । ‘चक्षुरधि’ चक्षुषोर्मध्ये चक्षुषो ज्योतिरवस्थित  
मभवदित्यर्थः । ‘तस्मात्’ ज्योतिषः ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘अन्नं’ स्रुतं  
मभवत् । ‘तर्हि’ तथा सति नैव खलु काचित् ‘प्रतिष्ठा’  
‘आस’ । तस्य प्रजापतेः शरीरस्य विस्त्रस्तत्वात् किञ्चिदपि  
प्रतिष्ठास्यदं † न बभूवेत्यर्थः ॥ १ ॥

अनन्तरं देवैः कृतं मस्य संस्कारं वक्तुं माह— “ते  
देवा इति । ‘इतः’ अस्मात् प्रजापतेः ‘अन्या’ ‘नेव’ ‘प्रतिष्ठा  
अस्ति’ आश्रयो विद्यते । ‘इमं मेव’ अस्मादीयं ‘पितरं प्रजा-  
पतिं’ ‘संस्करवाम’, यथा पूर्वं मवतिष्ठेत्, ‘सः’ च संस्क्रतो  
‘नः’ अस्माकं पुनः ‘प्रतिष्ठा’ आश्रयो ‘भविष्यतीति’ ॥ २ ॥

इत्थं सम्प्रधारितं मर्थं कर्तुं, प्रार्थितवन्त इत्याह— “तेऽग्नि  
मिति । ‘ते’ देवाः ‘अग्निः मनुवन्’ ‘न’ खलु ‘इतः’ अस्मात्  
प्रजापतेः ‘अन्या’ अस्माकम् ‘प्रतिष्ठा अस्ति’, ‘इमं पितरं’ त्वयि

\* पा० सू० १. ४. ४६ ।

† ‘निविद्यस्य स’ -इति च ।

‘संस्कारवाम’, स च संस्कारः पुनरुच्यते सन् अस्माकम् ‘प्रतिष्ठा भविष्यतीति’ । सोऽग्निरेतद्वाक्यं श्रुत्वा प्रत्यबोचत्,— ‘ततः’ तस्मात् संस्कारात् ‘मे’ मम ‘किम्’ प्रयोजनं ‘भविष्यतीति’ ॥ ३ ॥

तस्योत्तरं दर्शयति— “तेऽब्रुवन्निति । अन्नरूपो हि ‘अयं प्रजापतिः’ । तस्य च त्वयि संस्कारे सति वयं सर्वे ‘त्वन्मुखाः’ ‘एतदन्नम्’ ‘अदाम’ भुञ्जीमहि । ‘त्वन्मुखानाम्’ एवास्माकम् ‘एषः’ संस्कृतः प्रजापतिः ‘अन्नं’ भवत्विति \* । ‘तथेति’ सोऽग्निरङ्गीकृतवान् ॥

इदानीन्तनप्रसिद्धा देवाना मग्निमुखत्वं द्रढयति— “यस्या इति । इन्द्रादीनां मध्ये ‘यस्यै कस्यै चिद् देवतायै’ यत् किञ्चिद्देविः प्रयच्छन्ति, तत् सर्वम् ‘अग्नावेव जुह्वति’ । तत्र कारणं माह— “अग्निमुखा हीति । ‘हि’ यस्मात् ते ‘देवाः’ ‘तत्’ तदानीं प्रजापतिरूपम् ‘अन्नम्’ अग्निमुखा एव ‘अकुर्वत’, तस्मादग्नौ ह्ययमानं हविर्लक्षणं मन्नं सर्वं देवा अग्नन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

उत्क्रान्तानां परिणामविशेषं माह— “स योऽस्मादिति । प्रजापतिशरीरादुत्क्रान्तः प्राणवायुरेव भूतात्मकवाह्यवायुरूपेणोत्पन्नः । यदुत्क्रान्तं वीर्यं ‘तदेवासौ’ द्युलोके आदित्योऽभवत् । “यदेव संवत्सरेऽन्नं मिति । ‘यत्’ खलु संवत्सरस्य मध्ये व्रीहि-सवादिरूपम् ‘अन्नं’ पचते, ‘तत् तत्’ तदात्मना प्रजापतिर्विस्मस्त † मन्नं परिणतं सम्भवदित्यर्थः ॥ ५ ॥

\* ‘भवति’—इत्येव च, क ।

† ‘प्रजापतेर्विस्मस्त’—इति क, ‘प्रजापतिर्विस्मस्त’—इति ज ।

प्रकृत मनुसरति— “तं देवा इति । ‘तं’ प्रजापतिदेहं  
 ‘देवाः’ ‘अग्नी’ ‘ग्राहञ्चन्’ प्रतपनेन समस्तुर्वन् । ‘तत्’ तच्च  
 ग्रहञ्चने सति ‘एनं’ ग्रहं प्रजापतिं यः ‘अग्निः’ ‘आरोहत्’ \*  
 सङ्ग्रामति (स्र १), तदात्मना ग्राह् निष्क्रान्तः प्राणः ‘एव’ ‘एनं’  
 प्रजापतिं पुनः ‘आपद्यत’ प्राप्नोत् । तथा च ‘तं’ प्राणं वीर्यादिकं  
 ‘अग्निन्’ प्रजापतौ ग्रहञ्चनेन स्थापितवन्त इत्यर्थः । “तत् सर्वं  
 मित्वादि । इत्थं ग्रहञ्चनेन ‘तं’ प्रजापतिं ‘सर्वं’ निरवशेषं पूर्णा-  
 वयवं ‘संस्कृत्य’ पुनः ‘जह्वं’ मुदश्रयन् गमनागमनव्यवहारसमर्थं  
 मूर्द्धाकारं मुच्छितं मकुर्वन् । ‘तत्’ तच्च च ‘यम्’ प्रजापतिम् ‘उद-  
 श्रयन्’ देवाः, ‘सः’ एव ‘इमे’ त्रयो ‘लोकाः’ लोकत्रयात्मको-  
 भवदित्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य कीदृक् किं मङ्गं मिति, तदाह— “तस्याय मेवे-  
 त्यादिना । ‘अयं’ भूलोकः ‘एव’ ‘तस्य’ विराडात्मकस्य प्रजा-  
 पतेः ‘प्रतिष्ठा’ । प्रतितिष्ठत्यस्या मिति प्रतिष्ठाशब्देन पादा-  
 वुच्यते । पार्थिवोऽग्निस्तस्य अवाचीनः प्राणः, येन मूत्रपुरी-  
 षादिकं मुत्सृज्यते । अन्तरिक्षलोकोऽस्य प्रजापतेः ‘आत्मा’ मध्य-  
 देहः । तत्र सञ्चरन् ‘वायुः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि मध्यदेहेऽवस्थितः  
 प्राणः । “सोऽस्य स इति । स वायुरेवास्य प्राण इत्यर्थः ।  
 “द्यौरेवास्येति । द्युलोकोऽस्य प्रजापतेर्मूर्धा । तत्रत्यौ ‘सूर्याचन्द्र-  
 मसौ चक्षुषी’ तयोर्मध्ये ‘यश्चक्षुरध्यसेत’ यस्मिन् चक्षुषि ज्योति-  
 श्चक्षुरवस्थितं मभवत्, तच्चक्षुः ‘चन्द्रमाः’ । तदुपपादयति—

\* ‘आरोहति’—इति च, ह, ज ।

† उ-पुस्तकादन्वयं नास्तीदं पदम् ।

“तस्मादिति । ‘हि’ यस्मात्, ‘तस्मात्’ चक्षुषःऽन्न मस्त्रवत्, तस्मात् कारणात् तच्चक्षुरूपः ‘चक्षुर्मा’ ‘मीलिततरः’ अतिशयेन मीलितः ; सूर्यादित्यप्रकाशो दृश्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

“तदेवा वा इत्यादि । ‘तत्’ तथा सति देवादौनां प्रजानाम् ‘एवा’ प्रजापत्यात्मिका ‘सा प्रतिष्ठा’, अभवदिति शेषः । ‘तत्’ तदानीं ‘यां’ ‘समस्तान्’ उदीरितरीत्या संस्कृतवन्तः । न केवल मतीतकाल एव प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपता, वर्त्तमानभविष्यकालयोरपोत्याह— “सैवेय मिति । ‘अद्य’ इदानीं वर्त्तमानकालेऽपोत्यर्थः । “अतोऽधिभवितेति । ‘अतः’ अस्माद्वर्त्तमानादूर्ध्वकालेऽपि सैव प्रतिष्ठा ‘भविता’ “अनद्यतने लुट्”—इति \* भविष्यत्यनद्यतने लुट् ॥ ८ ॥

प्रतिष्ठारूपस्य प्रजापतेः संस्कार मभिधाय चित्याग्नेरपि तादृक् संस्कारं वक्तुं तयोस्तादात्म्य माह— “त य इति । ‘सः’—इत्येकस्तच्छब्दः प्रसिद्धौ, अपरः प्रकृतपरामर्शकः । “योऽय मग्निरिति । गार्हपत्यचितिरूपो योऽग्निरित्यर्थः । तयोस्तादात्म्योपपत्तये प्रजापतेरवस्थाविशेष मत्रापि दर्शयति— “तद्यदेवेति । ‘तत्’ तत्र आहवनीये ‘प्रवृज्जनात्’ † पूर्वं ‘रिक्ता उखा श्येते’ इति ‘यत्’, अस्य उत्क्रान्तप्राणादिकस्य प्रजापतेरेतद्रूपमित्यर्थः ॥ ९ ॥

संस्कारसाम्य माह— “ता मग्नाविति । ‘ताम्’ उखाम् ‘अग्नी’ आहवनीये ‘प्रवृणक्ति’ प्रतपति । “यथैवेन मिति ।

\* पा० छ० ३. ३. १५ ।

† प्रवर्जनादिति मूल पाठः ; तस्यैव वा व्याख्यानपद मिहं स्थात् प्रवृज्जनादिति ।

प्रजापतिसाम्यवर्चनम् । प्रजापतिः (१) \* 'अद्ः' असुस्मिन् दृष्टि-  
काले इत्यर्थः । "तद्य एना मिति । 'एनाम्' उखां 'प्रवृत्तां'  
प्रतप्ताम् 'अग्निः' 'आरोहति' आक्रमते, अन्तर्जायत इति 'यः',  
अनेन पुरा प्रजापतिशरोरादुत्क्रान्तः 'सः' प्राणः 'एव' 'सः'  
अग्निर्भूत्वा 'एनम्' उखात्मकं प्रजापतिम् 'आपयति' आगच्छति ।  
'तं' प्राणम् 'अस्मिन्' 'दधाति' स्थापयति । "अथ यदुक्त्वा मित्यादि ।  
यजमानः सौवर्षं रुक्मं 'प्रतिसुच्य' † कण्ठे सूत्रेण बद्ध्वा तस्यो-  
परि त सुख्यं विभर्तीति 'यत्', तेन प्रागुत्क्रान्तवोर्य मेवा-  
स्मिन् पुनः स्थापयतीत्यर्थः । "अथ याः समिध इति । उखाया  
मग्न्यारोहणानन्तरं तस्मिन् 'याः समिध आदधाति', ताभिस्तत्-  
प्रागुत्क्रान्तं स्मृत मप्यत्र पुनरस्मिन् स्थापयति । यदाह कात्या-  
तनः— "अग्नावाकृते त्रयोदशास्यां प्रादेशमाचोः समिध आद-  
धाति"—इति ‡ ॥ १० ॥ •

तासां महारुहभ्याधाह मनुद्य, तच्च कारणमाह— 'ता  
वा इति । 'तत्' तदानीम् 'अङ्गो रात्रेश' सकाशात् प्रजा-  
पतिशरोरात् 'अत्र मस्त्रवत्', अतस्तस्य पुनरवाप्तये समिधा  
माधानम् एतस्मिन् § 'संवत्सरे' प्रत्यहं कालत्रयेऽपि कर्त्तव्य  
मित्यर्थः । अत एवोक्तं सूत्रकर्ता— "पालाशीः प्रत्युच महारुह-  
रिति"—इति ॥ रुक्मप्रतिमोचनोऽप्यभरणादीनां संवत्सरकालव्याप्ति

\* पद् मिदं मिह सर्वेष्वेव पुस्तकेषु ।

† शास्त्रीदम्पदमिह ज-पुस्तके ।

‡ का० श्रौ० सू० १६. ४. ३३ ।

§ 'तस्मिन्'—इति ज ।

॥ का० श्रौ० सू० १६. ४. ४० द्रष्टव्यम् ।

माह— “तान्येतानीति । ‘तानि’ रक्त्वप्रतिमोचनीख्यभरणसमि-  
 दाधानविष्णुक्रमणादीनि पूर्वोक्तान्येतानि \* प्राणवीर्याङ्गरूपेणा-  
 नुक्रान्तानीत्यर्थः । † ‘सर्वस्मिन्’ कृत्स्ने ‘एवं’ ‘संवत्सरे’ भवेयुरिति  
 विधिवाच्य मेतत् । तेषां संवत्सरकर्त्तव्यत्वे उपपत्ति माह—  
 “संवत्सरो हीति । यस्मात् प्रजापतेस्तानि प्राणवीर्याङ्गानि  
 उत्क्रान्तानि । स हि संवत्सरकालात्मकः खलु ‘एतत्’ एतेन  
 रक्त्वप्रतिमोचनादीनां संवत्सर मनुष्ठानेन अस्मिन् प्रकृते सर्वात्मके  
 प्रजापतौ सर्वं निरवशेषं विश्वं ‘दधाति’ स्थापयति । व्यरि-  
 रेके बाध माह— “यस्मिन् हेति । ‘अस्य’ संवत्सरात्मकस्य प्रजा-  
 पतेः ‘यस्मिन्’ ऋतौ वसन्तादिके कालावयवे ‘एतत्’ पूर्वोक्तं ‘न’  
 स्थापयेत् । इत्थं प्रतिपादितं संवत्सरावयवे सर्वानाधानलक्षणं  
 दोषं स्पष्टयितुं संवत्सरभृतस्याग्नेः द्रष्टृत्व मपि निषेधयति—  
 “नासंवत्सरभृतस्येति । न संवत्सरपर्यन्तं भृतः’ उन्नायां भृतः ,  
 सोऽयम् ‘असंवत्सरभृतः’, तस्य ‘क्षेत्रकेण चन’ द्रष्टापि ‘न’  
 भाव्यम् , किं सुतत्विजा । ‘इति’ एवं ‘वामकच्चायणः’ वाम-  
 कक्षस्यापत्य सृषिः ‘आह’ उक्तवान् । ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थः । एवं  
 ब्रुवतो वामकच्चायणस्याभिप्राय माह— “नेदिम मिति ।

\* पूर्वस्मिन् काण्डे “रक्त्व” प्रतिसुच्य विभर्त्ति— इत्यादिको गत्यः ,  
 कात्यायनीयश्च “यजमानः कण्डे रक्त्वम्”—इत्यादिको द्रष्टव्यः ( शत०  
 ६ का० ५ प्र० १ ब्रा० ३७१ पृ० , कात्या० १६. ५. १० ) ।

† इत उत्तरं ‘मूनविंशकण्ठीयाख्यानो गत्यो . च-पुस्तकीयादर्शेण  
 नैव लब्धः । मन्त्रस्यादितादर्शपुस्तकेष्वपि च-ह-पुस्तकयोरिह लिखि-  
 तम्— “अथ प्रतिपुस्तके पञ्चदशं गतम्”—इति । ततो ह-पुस्तक-  
 मात्रं मन्त्रावलम्बनम् ।

नेदिति परिभये \* । 'पितरं' पालकं 'इमम्' अधियन्नात्मकं 'प्रजापतिं' 'विच्छिद्यमानं' विशेषेण भिद्यमानं 'नेत्यश्नानि' नैव ईक्षे' इति । 'इति'—शब्दस्तदभिप्रायपरिसमाप्त्युक्तकः । उक्तं मर्थं निगमयति— "तत् संवत्सर इति । संवत्सरे अतोते 'तं' प्रजापतिं 'सर्वं' निरवशेषं 'कृत्स्नं' सम्पूर्णवयवम् 'संस्कृत्य' 'जहु' सुच्छयति' गमनागमनव्यवहारसमर्थं मूर्ध्नाकारं सुच्छितं करोति । 'यथैव' येनैव प्रकारेण 'अदः' पूर्वं 'देवाः' 'एनं' प्रजापतिम् 'उदश्रयन्' उच्छितं कृतवन्तः, तथेत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रकृतस्य चयनात्मकस्य प्रजापतेर्लौकत्रयात्मकतां तदधिष्ठात्र-  
ग्निवाद्यादित्यात्मकताञ्च प्रतिपादयति— "तस्य गार्हपत्य इत्या-  
दिना । "स यः प्रजापतिर्यस्यैतत् स योऽयं मग्निश्चोयते"  
—इत्युक्तम् \* , 'तस्य' प्रजापतेः 'गार्हपत्य एव' चित्तिरूपस्थलविशेष  
एव 'अयं लोकः' पृथिवी । 'अथ यो गार्हपत्ये' अधिकरणे उच्यः  
'अग्निः' स्थापितः, यश्चायं मग्निः लोके पृथिव्या मधिष्ठातृत्वेन  
स्थितोऽग्निः, स उच्योऽग्निः पृथिवोऽस्थानोऽग्निरपि अस्य प्रजापतेः  
सम्बन्धो ; स जाठरोऽग्निर्बौद्धव्य इति शेषः । 'अथ' 'आहवनीयं  
गार्हपत्यञ्च' 'अन्तरा' मध्ये, चित्तोरन्तराल इति यावत्, यत् स्थलं  
तदन्तरिक्षं मध्यलोक इत्यर्थः । 'अथ' च 'युः' अयम् 'आग्नी-  
ध्रीये' धिषो 'अग्निः' स्थापितः, य एव चायं मन्तरिक्षे अधिष्ठा-  
तृत्वेन स्थितो वायुः, स आग्नीध्रीयस्योऽन्तरिक्षस्यो वायुश्चेत्युभय-  
विधोऽप्यस्य प्रजापतेः स पञ्चवृत्त्यात्मकः प्राण इत्यर्थः । 'आह-  
वनीयः' चित्तात्मकः 'एव' 'द्यौः' द्युलोकः । 'अथ' 'आहवनीये'

\* निरु० १. ३. ६ ।

† इहैव पुरस्तात् नवमी कञ्ची (५१ पृ०) द्रष्टव्या ।

अधिकारणे 'यः अग्निः' अतिप्रणीतः स्थापितः, तौ सूर्याचन्द्रमसौ  
दुल्लोकेऽधिष्ठातृत्वेन स्थितौ । 'स एषः' आहवनीयादिः चन्द्रान्तः  
'अस्य' 'आत्मैव' मध्यदेह एवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

तस्य प्रजापतेराधियज्ञिक माध्यात्मिकञ्च रूपं प्रतिपिपा-  
दयिषुराह — "तस्य शिर इति । 'तस्य' प्रजापतेः 'आह-  
वनीयः' चित्वात्मकः 'शिरः' मूर्द्धा । 'अथ' 'यः' तत्र निधीय-  
मानः 'अग्निः', 'योऽयं' 'शीर्षन्' शीर्ष्णि 'प्राणः' नासिका-  
सञ्चारी, स उभयविधोऽपि 'अस्य' प्रजापतेः 'स एव' शीर्षस्थः  
प्राण एवेत्यर्थः ॥

चित्वात्मकस्याहवनीयस्य, तत्र निधीयमानस्याग्नेश्च क्रमेण  
शीर्षत्वं शीर्षस्थप्राणत्वञ्च प्रतिपाद्य, तयोरेव पक्षपुच्छवत्त्वं प्रति-  
पादयति— "तद्यत् स इति । 'तत्' तत्र 'यत्' यस्मात् 'सः' चित्वा-  
त्मक आहवनीयः 'पक्षपुच्छवान्' पुक्षाभ्यां पुच्छेन ज्ञ युक्तोऽस्ति,  
'अयं' 'शीर्षन्' शीर्ष्णि वर्तमानः 'प्राणः' नासिक्य इति यावत् ।  
सोऽपि 'पक्षपुच्छवान्' हि 'पक्षपुच्छैरन्वितः' खलु । पक्षपुच्छ-  
वत्त्वमेवोपपादयति— "चक्षुः शिर इत्यादिना । 'चक्षुः' सव्य-  
दक्षिणात्मकं चक्षुरिन्द्रियम् नासिक्यप्राणस्य 'शिरः' मूर्धभूतम् ;  
तदुपरि वर्तमानत्वात् । दक्षिणकर्णो दक्षिणपक्षस्थानीयः ;  
तस्य दक्षिणपार्श्ववर्तित्वात् । उत्तरकर्णोऽप्युत्तरपक्षस्थानीयः ;  
उत्तरपार्श्ववर्तित्वादेव । 'प्राणः' स एव नासिक्यः । 'मध्यम्'  
अन्तर्वर्ति 'आत्मा' शरीरम् । 'वागायमनत्वाद' वाङ् मुखम्,  
तदायतनं रसन मंपि वा, तत् पुच्छम् ; पश्चाद्भावित्वात् । सैव  
'प्रतिष्ठा' आसदम् । प्रतिष्ठात्वमेवोपपादयति— "तद्यदिति ।  
'यत्' यस्मात् 'प्राणाः' नासिक्यादयो 'वाचा' मुखेन 'अन्नं' 'जम्बा'



भक्षयित्वा शरीरे 'प्रतिष्ठन्ति' नोत्क्रामन्ति, 'तस्मात्' हेतोः प्राणानां 'वाक् पुच्छे' प्रतिष्ठेत्युपपन्नम् ॥ १३ ॥

प्रकारान्तरेणापि तस्याधियज्ञिकाध्यात्मिकरूपता मेव प्रतिपादयति — "अथ यदन्तरेति । आहवनीयगार्हपत्ययोः अन्तरालदेश इति 'यत्', 'स आत्मा' शरीरम् । 'आग्नीध्रीये' तदादौ धियो 'योऽग्निः' निहितः । प्रदर्शनार्थं आग्नीध्रीयग्रहणम्; उत्तरत्र "अन्तरिक्षं धियाः"—इति बहुवचनोपदेशात् \* । योऽयम् अन्तरात्मनि 'प्राणः' पञ्चउत्थात्मकः, 'सः' सर्वधियास्थ एव 'अस्य' पञ्चउत्तिकः प्राण इत्यर्थः । 'गार्हपत्योऽस्य' 'प्रतिष्ठा' पादौ । यत्र तत्रत्यः 'अग्निः' 'सोऽस्य' अवाचोनः 'प्राणः'; पञ्चाहर्त्तित्वात् ॥ १४ ॥

त्रिचितिको गार्हपत्ययेतस्य इत्येकीयमतं सुपन्यस्यति — "तत् हैक इति । 'एके' शाखिनः तं प्रकृतं गार्हपत्यं 'त्रिचितम्' उपर्युपरि चितित्रयात्मकं 'चिन्वन्ति' । तिसृभिश्चितिभिश्चित-क्लितस्त्वं तथाविधम् । चिन्वता मभिप्राय माह — "त्रयो वा इमे इति । प्रजननमूलपुरीषसर्गवृत्तिभेदेन त्रित्वम्, ततश्च तिसृभिश्चितिभिस्त्रीण्येव प्राणायतनानि कल्पितानि भविष्यन्तीत्याशयः । वक्ष्यमाणसम्पत्तित्रयातिरेकात्मकदोषाधानेन तमेतं पक्षं निराचष्टे — "न तथेति । ये शाखिनः तथा त्रिचितचयनं कुर्वन्ति, 'ते' 'एकविंशसम्पदं' "ता उभय एकविंशतिः सम्पद्यन्ते"—इत्यादिनोक्ताम्† । 'एकविंशतेरिष्टकानां सम्पदम्' 'अतिरेचयन्ति' अतिरिक्तां कुर्वन्ति । त्रिचितिके हि बहुतरा

\* ५७ पृ० २३ कक्षी द्रष्टव्या ।

† इहैवाद्यब्राह्मणे ( १२ पृ० २ पं० ) ३४ कक्षी द्रष्टव्या ।

द्रष्टकाः स्युः ; तथा , आनुष्टुभेषु “अथातः सम्मदेवैकविंशति-  
रिष्टकाः”-इत्यादिना \* वक्ष्यमाणायास्त्रिविधाया अपि सम्म-  
दम् , तथा “सैषा बृहत्येवः”-इत्यादिना † वक्ष्यमाणाया बृहत्याः  
सम्मद मपि अतिरेचयन्तीत्यनुषङ्गः ॥

“त्रयो वा इमेऽवाञ्चः प्राणाः”-इति यदुक्तम् ‡ , तदप्यङ्गीकृत्य  
निराकरोति—“एकं ह्येवेत्यादिना । एतस्य प्राणस्य रूपम् ‘एत-  
द्रूपम्’ एक मेव खलु , ‘यदेतेऽवाञ्चः प्राणाः’ प्रज्जननमूत्रपुरीष-  
सर्गवृत्तिभेदेन त्रयोऽपि । किम्पुनस्तदित्याह— “योनिरेवेति ।  
‘योनिः’ स्थानं कारणम् । मूत्रपुरीषरेतसा मेकं मेवैतद्रूपं कारण  
मनादित्यापि कर्मविवक्षया आह— “प्रजापतिरेवेति । मूत्र-  
पुरीषसर्गात्मना प्रजापतेरेकत्वं मित्यर्थः । तदेवोपपादयति—  
“यद्वेति । ‘यन्मूत्रं करोति’, ‘यत्’ च ‘पुरीषं करोति’, ‘तत्  
जायत एव’ इति प्रजातिरूपेण त्रयाणां अभ्येकत्वं सिद्धं  
मेवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

पूर्वं सुपक्षिता मनुष्टुबृहहत्योः सम्मद माह— “अथातः  
सम्मदेवेत्यादिना । ‘वक्ष्यते’-इति शेषः । “अयं सो अग्निः”-  
इत्यादिभिर्मन्त्रैरुपहिता अष्टौ यजुषस्त्यः , लौकस्मृणास्त्रयोदशेति  
‘एकविंशतिरिष्टकाः’ । “नव यजूंषीति । अष्टानां मर्कटवृत्ती-  
प्रभृतीनां यजुषतीनां अष्टौ “अयं सो अग्नि रित्यादीनि § , लोक-  
स्मृणानां मेकं “लोकं पृषेति || , एवम् नव । ‘तत्’ तत्र ‘त्रिंशत्’

\* उत्तरत्यां कण्डिकायां ( ५४ पृ० ६ प० ) द्रष्टव्यम् ।

† ङाविंशी कण्ठी द्रष्टव्या ( ५६ पृ० १० पं० ) ।

‡ आनुष्टुभं गतं द्रष्टव्यं मिहैव ( ५४ पृ० ३ प० , ६६ पृ० १ प० ) ।

§ वा० सं० १२. ४७—५३ ।      || वा० सं० १२. ५४ ।

सङ्ख्या सम्पद्यते । 'सादनश्च' यजुः "तया देवतयेति \* ।  
 सृद्धोद्वाङ् 'ता अयेति †' । 'तत्' तेन 'डात्रिंशत्' अनुष्टुप्,  
 डात्रिंशदक्षरा 'सैवा' प्रसिद्धा 'अनुष्टुप्' गार्हपत्यचिती सम्पन्ना  
 द्रष्टव्या ॥ १६ ॥

एव मेक अनुष्टुभं सम्पाद्य अपरे हे अनुष्टुभावेव सम्पादयितु  
 माह — "एकविंशतिर्वेति । 'उ, एव'-इति पदच्छेदः । 'परि-  
 श्रितः' एकविंशतिसङ्ख्या एव । यदुक्तं सूत्रकृता — "परिश्रिद्धिः  
 परिश्रयति पूर्ववदेकविंशत्या चित स्वेति" इति ‡ । "यजुर्द्वाविंश  
 मिति । परिश्रिता मेवोपधाने विहितं "चितः स्वेति § "व्युद्-  
 हनस्य यजुः" । "अपेत वेति ॥ त्रयोविंशम् । 'जषाः' तन्निवापे  
 विहितं यजुः "सञ्ज्ञान मिति च हे ण चतुर्विंशपञ्चविंशे । 'सिक-  
 ताश्च' तन्निवापयजुः "अग्नेर्भस्मेति\*\* च हे षड्विंशसप्तविंशे । 'पुरी-  
 षश्च' तन्निवापयजुश्च "इदं विश्वा इति †† हे अष्टाविंशैकोनविंशे ।  
 'चतुर्भिः' यजुर्भिः "समित मिथादिभिः ‡‡ उख्य मग्निं 'सन्निव-  
 पति', तत् सन्निवापस्त्रिंशः । "विमुञ्चति पञ्चमेनेति । "मातेव पुत्र  
 मिति §§ यजुषा विहितः शिक्वादुखाविमोक एकत्रिंशः । अग्नि-  
 सन्निवापोखाविमोकयोरुपयुक्तसङ्ख्यातः पातात् तत्सम्बद्धानि पञ्च  
 यजुंश्चवशिष्टानीत्यभिप्रेत्य तेषां पञ्चानां सुपयोग माह — "तत-  
 स्त्रिभिरिति । 'ततः' तेभ्यः पञ्चभ्यो यजुर्भ्यः 'त्रिभिः' यजुर्भिः

\* वा० सं० १२. ५३. ३ ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

॥ वा० सं० १२. ४५ ।

\*\* वा० सं० १२. ४६. २ ।

†† वा० सं० १२. ५७-६० ।

† वा० सं० १२. ५५ ।

§ वा० सं० १२. ४६. ३ ।

¶ वा० सं० १२. ४६. १ ।

†† वा० सं० १२. ५६ ।

§§ वा० सं० १२. ६१ ।

एकदेशभूतैरेका द्वात्रिंशत्तमी सङ्ख्या । एवम् 'इयम्' इदानीं  
प्रतिपादिता 'द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप्', सम्पद्यत इति शेषः । 'सैषा'  
प्रसिद्धा द्वितीया 'अनुष्टुप्' ॥ १० ॥

अथ वायुपां तृतीया मनुष्टुभ माह — "अथैते हे इति ।  
पञ्चसु मयमानुष्टुभि वीण्युपयुक्तानि, 'अथैते' ये अन्तिमे 'हे'  
'यजुषी' अवशिष्येते, 'सा' 'तु' पुनर्यजुर्इयात्मिका 'अनुष्टुबेव' । ननु  
यजुर्इयात्मिकाया अस्याः कथं मनुष्टुष मित्यत आह — "वाग्  
वा इति । 'वाक्' खलु 'अनुष्टुप्' ; "वागनुष्टुबित्यग्निरहस्ये श्रुत-  
त्वात् \* । यजुर्इयात्मिकानुष्टुबैकात्म्यप्रतिपादनाय वाचो द्विरुपता  
माह — "तद्यदिदम्बय मिति । इय मेव इयात्मक मित्यर्थः । तदेव  
हेधा विवृणोति — "दैवञ्चेत्यादिना । 'दैवं' देवसम्बन्धि वाक्यं  
संस्कृतम्, 'मानुषं' मनुष्यसम्बन्धि भाषामयं वाक्यञ्च ; — 'उच्चैः'  
तारस्वरं वाक्यम्, 'शनैः' मन्द्रस्वरञ्चेति । 'तदेते हे' इत्युपचिन्त-  
निगमनम् । एवं तृतीयानुष्टुप् सम्पन्ना ॥ १८ ॥

प्रतिपादितानां तिष्ठणा मनुष्टुभा सुपयोगं विधत्ते —  
"ता वा एता इति । 'एषः' 'चितः' चित्वा सम्पादितः  
'गार्हपत्यः', 'ताः' प्रसिद्धाः 'एतास्त्रिस्तोऽनुष्टुभः' खलु,  
सम्पादितानुष्टुप्त्रयात्मक इत्यर्थः । अनुष्टुप्त्रयसम्पादनस्य गार्ह-  
पत्यचित्वा लोकात्रयसम्पादनहेतुता माह — "तद्यदेता इति ।  
'अत्र' गार्हपत्यचित्वा यत् 'एतास्त्रिस्तः अनुष्टुभः' सम्पा-  
दयन्ति, वेदवादिन इति शेषः । 'तदा' आहूनीयचयनात्  
प्रागेवात्रैव गार्हपत्ये इमे सर्वे 'लोकाः' त्रयोऽपि 'भवन्ति' ।

\* उपरिष्ठात् १० क० १ प्र० ३ ब्रा० १ का० "वाग्वा अनुष्टुप्" — इति ।

कारणे कार्यस्यान्तर्गतत्वादुत्तरेऽग्नयोऽपि गार्हपत्ये एवान्तर्गताः ,  
 पृथिवीलोके चेतरी लोकावन्तर्गतौ । “सोऽग्निना पृथिवीं  
 मिथुनं समभवत् तत आण्डं समवर्तत”-इति तत एवो-  
 त्पत्तिश्रुतेः \* । तासा मेव अनुष्टुभा सुपयोगान्तर मपि विधत्ते—  
 “ततोऽन्यतरा मिति । तयोर्द्वात्रिंशदक्षरयोः अनुष्टुभोर्मध्ये ‘अन्य-  
 तराम्’ एकाम् ‘द्वात्रिंशदक्षरा मनुष्टुभं’ बुद्ध्या विविच्य आहवनीय  
 स्थानं ‘हरन्ति’, अनुसन्धानाय हरेयुरित्यर्थः । ‘सा’ चाहता  
 अनुष्टुप् आहवनीयचितिः , सैव द्युलोकः , तदेव चित्वाग्नि-  
 रूपस्य प्रजापतेः ‘शिरः’ भवति । ‘इह’ अग्निन् गार्हपत्य-  
 स्थाने ‘अन्यतरा’ एका द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुप् ‘परिशिष्यते’, ‘सः’  
 एव ‘गार्हपत्यः’ अग्निरिति । चित्वाग्निरूपस्य प्रजापतेः ‘सा’  
 एव ‘प्रतिष्ठा’ पादौ । ‘सः’ एव ‘अयं लोकः’ भूलोकात्मिका-  
 पीत्यर्थः ॥ १६ ॥

द्विसङ्ख्यायोगाद् गौणी तृतीया अनुष्टुप् , तस्या अन्तरि-  
 चादिरूपता साह—“अथ ये एते इति । आहवनीयगार्हपत्य-  
 चित्त्रोर्मध्ये यदस्ति स्थान माग्नीध्रीयाख्यम् , एतदेव सा यजुर्द्वया-  
 त्मिका अनुष्टुप् , ‘तदेवान्तरिक्षम्’ तृतीयानुष्टुबात्मकोऽय मन्त-  
 रिच्छलोक इत्यर्थः । सैव आनुष्टुभस्य ‘चित्वाग्निरूपस्य प्रजापतेः  
 ‘आत्मा’ मध्यदेहः । द्वात्रिंशदक्षराभ्यां पूर्वाभ्या अनुष्टुब्भ्यां  
 द्विसङ्ख्यायोगिन्यास्तृतीयस्या अनुष्टुभोऽप्यीयस्त्वात् तदात्मकतयो-  
 ज्ञाना मत्पपरिमाणत्वं साह—“तद्यत् ते हे भवत इत्यादिना ।  
 यस्मात् तृतीया अनुष्टुप् द्विसङ्ख्यायोगिनी , तस्मात् तदात्मकं

गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालं 'तनीयः' तनुतरम्, अल्पपरिमाण  
मेव भवति । 'तस्मात्' एव कारणात् 'एषां लोकानां' मध्ये  
'अन्तरिक्षलोकः' 'तनिष्ठः' सूक्ष्मतमो भवति ॥ २० ॥

“सैषा त्रेधा विहितेत्यादि । त्रिप्रकारेण विहिता 'सैषा  
अनुष्टुप्' 'वाक्' एव । 'ताः' 'एषः' उख्यः 'अग्निः' 'प्राणो  
भूत्वा अनुसञ्चरति' आहवनीयगार्हपत्याग्नीध्रीयाख्येषु स्थानेषु  
क्रमेण व्याप्नोति । तत्स्थानगतेऽग्नौ प्राणोदानव्यानवृत्त्यात्मना  
सूर्यादिभेदेन तस्य व्याप्ति माचष्टे — “य आहवनीयेऽग्नि-  
रिति । 'आहवनीये' आहवनीयस्थाने निहितो 'यः अग्निः',  
'सः' 'प्राणः' प्राणात्मकः, 'सोऽसावादित्यः' आदित्यात्मकश्च ।  
'आग्नीध्रीये' निहितसु व्यानात्मकः, वायात्मकश्च । गार्हपत्ये  
निहितसु उदानात्मकः, पार्थिवान्गिरूपश्च । आहवनीयादीनां  
द्युलोकादिरूपत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ऊर्ध्वमध्याधोदेशसम्बन्धेन  
प्राणादीनां तत्तदग्न्यात्मकता अवगन्तव्या ।

प्रतिपादितं मर्थं विदुषः फल माह — “एवंविदिति ।  
अग्न्याश्विष्ठितलोकत्रयाणां प्रजापत्यात्मकत्वम्, गार्हपत्यचितौ  
सम्पादितास्त्रुष्टुप्सु उदीरितरीत्या जानन् कृत्स्नां 'वाचम्'  
कृत्स्नम् 'प्राणम्', एतैरेव सर्वैः सम्पूर्णम् 'आत्मानम्' अग्निशरीरं  
'संस्क्रुते' उत्पादयति ॥ २१ ॥

“अथो ब्रह्मतीसम्पद मिति \* प्राक्सूचितां' सम्पत्ति माह  
— “सैषेति । 'सैषा' गार्हपत्यचितिः, 'ब्रह्मत्येव', सम्पद्यत इति  
शेषः । ता मेव सम्पत्तिं दर्शयति — “ये वा' इति । 'ये' खलु

पूर्वं सुक्ते द्वात्रिंशदक्षरे अनुष्टुभौ, तदुभयं मिलित्वा द्वा-  
त्रिंशदेवात्र सम्पद्यते । अवशिष्टे 'हे यजुषी', 'अग्निरेव'  
'पञ्चत्रिंशः' पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्यापूरकः ॥

ननु षट्त्रिंशदक्षरा बृहतीति श्रुतेः इतः पर मध्येकेन  
भवितव्यमित्यत आह — "नाक्षरादिति । न चेकस्मादक्षरा-  
दविद्यमानात् 'हृद्' 'व्येति' विगच्छति, अन्यथा भवति ।  
'न' च 'द्वाभ्याम्' अक्षराभ्याम् । एकेन द्वाभ्यां वा न्यूनं  
हृद् न वैकल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा चैषां पञ्चत्रिंशत्-  
सङ्ख्यापि \* बृहत्येवेति तत्सम्पत्तिरविरुद्धा । सङ्ख्यापूर्तिं मपि  
दर्शयति — "स उ द्वाक्षर इति । यः पञ्चत्रिंशोऽग्निः स  
खल्वक्षरद्वयवाच्यः, ततस्ताभ्या मग्निरित्यक्षराभ्यां सह षट्-  
त्रिंशत् सङ्ख्या सम्पद्यते; तथा च षट्त्रिंशदक्षरा बृहती  
सम्पन्ना । अपि च 'एषः' आहवनीयस्थाने 'सञ्चितः'  
अग्निरपि 'बृहती मपि सम्पद्यते' । तत्र गार्हपत्यचिते-  
र्बृहतीसम्पत्तिरेव कारणमित्याह — "यादृग् वा इति ।  
'योनौ' गर्भाशये यादृगाकारविशिष्टं 'रितः' 'सिच्यते' तादृ-  
ग्रूप एवोत्पत्तिसमये 'जायते'; यथैव लोके, 'तत्' तथैवा-  
नापि । योनिरूपायां गार्हपत्यचितौ, 'यद्' यस्मात् 'एतां बृहतीं  
करोति', 'तस्मात्' इत उत्पद्यमानः 'एषः सञ्चितः' अयं माह-  
वनीयोऽग्निरपि † 'बृहती मभिसम्पद्यते' । तां सम्पत्तिं यजुष-  
तीनां षड्युत्तरत्रिंशत्सङ्ख्यायां दश बृहत्यः सम्पद्यत इति दशम-  
काण्डे दर्शयिष्यामः ॥ २२ ॥

\* 'पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्याया मपि'—इति ज ।

† "एष सञ्चितः' महाधिरपि"—इति ज ।

गार्हपत्याग्नीध्रीयाहवनीयानां क्रमेण पृथिव्यन्तरिक्षद्युलो-  
कात्मकत्वात् क्रमेणैव तेषां संस्कारो युक्त इत्याशङ्क्य व्युत्क्र-  
मानुष्ठानमुपपादयति— “तदाहुरित्यादिना । “अन्तरिक्षं  
धिष्ण्या इति । गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालवर्तिन आग्नीध्रीया-  
दयो \* धिष्ण्याः, ते अन्तरिक्षलोकात्मका इत्यर्थः । तत्र गार्ह-  
पत्यचयनानन्तर्यम् आहवनीयचितेराक्षिपति— “अन्तरिक्षं लोका-  
त् इति । ‘अस्माद् लोकात्’ ‘अन्तरिक्षलोकः’ ‘अनन्तर्हितः’  
प्रत्यासन्नः । तथा च गार्हपत्यचयनानन्तरं धिष्ण्यानिव-  
पनं मज्जत्वा ‘अथ कस्मात्’ हेतोराहवनीयचयनमेव क्रियते ।  
‘अथ’ अनन्तरमेव ‘धिष्ण्यान्’ चिनोतीत्यनुषज्यते । इत्यमनु-  
ष्ठङ्गकारणं वक्तुमाह— “सहैवेमा मिति । ‘अथे’ पुरा  
‘इमौ’ भूस्वर्गाख्यौ ‘लोको’ ‘सहासतुः’ । ‘तयोः’ ‘वियतोः’ विविधं  
गच्छतोः वियुज्यमानयोः ‘यः’ मध्ये ‘आकाशः’ अवकाशः ‘आ-  
सीत्’, ‘तदन्तरिक्षं मभवत्’ । ‘ततः पुरा’ द्यावापृथिव्योर्विगमनात्  
पूर्वम् ‘ईक्षम्’ इति आकाशस्य ‘नाम’ ; द्यावापृथिव्योर्विशेषे  
सति ‘अन्तरा’ तयोर्मध्ये खलु ‘इदं मीक्षं मभूत्’ । ‘इति’  
हेतोः ; यस्मादेवं तस्मादिदं आकाशं मन्तरिक्षनामकं सम्पन्नं  
मित्यर्थः ॥

“तद् यद् गार्हपत्यं मित्यादि । एवमन्तरिक्षनिष्पत्ते-  
र्लोकद्वयानन्तरभावित्वाद् गार्हपत्यचयनानन्तरं मन्तरिक्षसंस्तु-  
तान् धिष्ण्यानतिक्रम्य ‘आहवनीयं’ ‘चिनोति’ चयनेन संस्कारो-  
तीति । ‘यत्’ यस्मात् तौ भूस्वर्गौ ‘अथे’ खलु सह

\* ‘आग्नीध्रीयाः’—इत्येव ज ।



‘अष्टज्येतां’ सृष्टावभवताम्, ‘अथ’ आहवनीयचयनानन्तरं ‘प्रत्येत्य’  
 प्रतिनिवृत्त्य सदसि ‘धिष्ण्यान्’ ‘निवपति’ निर्मिमैति । अत्र  
 प्रयोजनं ग्राह— “कर्मण एवेति । तत्र धिष्ण्यानां निवपनं  
 कर्मणः क्रियाकलापस्य ‘अनन्तरयाय’ अविच्छेदायैव भवति ।  
 न त्वनेन किञ्चित् संस्कर्तव्यं मस्तीत्याह— “अथो इति ।  
 अपि च उभयोः ‘अस्तयोः’ आहवनीयगार्हपत्ययोश्चयनेन ‘संस्क्रिय-  
 मास्तयोः’ ‘मध्यम्’ अपि स्थलं ‘संस्क्रियते’, तेनैव संस्कारेण संस्क्रुत  
 मेव भवति ; तस्माद् गार्हपत्यचयनानन्तरं आहवनीयस्यैव चयनम्,  
 पश्चाद्धिष्ण्यानां मिति क्रमः सिद्ध इति भावः ॥ २१ ॥ २ ॥

इति श्रोत्रायाणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमेऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्ह निवारयन् ।

पुमर्थास्तुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूर्वम् स्वर्णगर्भम् ,

सप्ताब्देन पञ्चसौरींस्त्रिदशतत्त्वतापेनुसीवर्णभूमीः ।

रत्नोक्ता रत्नवाजिद्विपद्महितरथौ साययिः सिङ्गणार्यौ ,

व्यन्त्राणीदृक्चक्रं प्रथितविधिमहाभूतशुभां घटश्च ॥

धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभवं मतुलः स्वर्णजं वर्णसुख्यः ,

कार्पासीयं क्षपावान् गुडकृतं मज्जो राजतं राजपूष्यः ।

आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्वृणः शर्करा चार्कतेजाः ,  
रत्नाब्जो रत्नरूपं गिरि मल्लत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरकैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्नाज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥\*

( अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

अथातो नैर्ऋतौर्हरन्ति । एतद्दे देवा गार्ह-  
पत्यं चित्वा समारोहन्नयं वै लोको गार्हपत्य इमं  
मेव तं लोकं संस्तुत्य समारोहंस्ते तम एवा-  
नतिदृश्यं मपश्यन् \* ॥ १ ॥

ते ऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथेदं तमः पा-  
प्मान मपह्नामहा ऽद्वृति ते ऽब्रुवंश्चेतयध्व मिति  
चित्ति मिच्छतेति व्याव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेदं तमः  
पाप्मान मपह्नामहा ऽद्वृति ॥ २ ॥

ते चेतयमानाः । एता इष्टका अपश्यन्  
नैर्ऋतौस्त्रा उपादधत ताभिस्तत्तमः पाप्मान मपा-  
घ्नत पाप्मा वै निर्ऋतिस्तद्यदेताभिः पाप्मानं नि-  
र्ऋति मपाघ्नत तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ३ ॥

तद्वा ऽपृतत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं नु  
तत् तमः सं पाप्मां देवैरेवापहतो यत्चेतत् करो-  
ति यद्देवा अकुर्वन्स्तत् करवाणीत्यथो य एव

\* 'मपश्यन्' - इति ग, घ ।

पाप्मा या निर्वृतिस्तु मेताभिरुपहृते तद्यदेताभिः  
पाप्मानं निर्वृति मपहृते तस्मादेता नैर्वृत्यः ॥ ४ ॥

यद्वैता नैर्वृतीरुन्ति । प्रजापतिं विव्रस्तं  
यत्र देवाः समस्कुर्वन्तु मुखायां योनौ रेतो  
भूत मसिञ्चन्त्योनिर्वृता ऽउखा तस्मा ऽएताः संवत्सरे  
प्रतिष्ठाः समस्कुर्वन्निम मेव लोक मयं वै लोको  
गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्राजनयन्तस्य यः पाप्मा यः  
श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरुपाघ्नस्तद्यदस्यै-  
ताभिः पाप्मानं निर्वृति मपाघ्नस्तस्मादेता नै-  
र्वृत्यः ॥ ५ ॥

तथैवैतद्यजमानः । आत्मानं मुखायां योनौ  
रेतो भूतः सिञ्चति योनिर्वृता ऽउखा तस्मा ऽएताः  
संवत्सरे प्रतिष्ठाः संस्करोतीम मेव लोक मयं  
वै लोको गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्राजनयति तस्य यः  
पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरुप-  
हन्ति तद्यदस्यैताभिः पाप्मानं निर्वृति मपहन्ति  
तस्मादेता नैर्वृत्यः ॥ ६ ॥

पादमात्र्यो भवन्ति । अधस्पद् मेव तत्

पाप्मानं निरुक्तिं कुरुतेऽलक्षणा भवन्ति यद्वै  
नास्ति तदलक्षणा मसन्त मेव तत् पाप्मानं नि-  
रुक्तिं कुरुते तुषपक्ता भवन्ति नैरुक्ता वै तुषा  
नैरुक्तैरेव तन्नैरुक्तं कर्म करोति कृष्णा भवन्ति  
कृष्णा हि तत्तम आसीदथो कृष्णा वै नि-  
रुक्तिः ॥ ७ ॥

ताभिरेतां दिशं यन्ति । एषा वै नैरुक्ती  
दिङ् नैरुक्त्या मेव तद्दिशि निरुक्तिं दधाति स  
यत्र स्वकृतं वेरिष्णुं श्वभप्रदरो वा स्यात्तदेना  
उपदध्याद्यत्र वा ऽअस्या ऽअवदीर्यते यत्र वास्या  
ऽओषधयो न जायन्ते निरुक्तिर्हास्यै तद् गृह्णाति  
नैरुक्तः ऽएव तद्भूमेनिरुक्तिं दधाति ताः पराची-  
र्लोकभाजः कृत्वोपदधाति ॥ ८ ॥

अमुन्वन्त मयजमानं मिच्छेति । यो वै न  
मुनोति न युजते तं निरुक्तिरुच्छति स्ने-  
स्येत्या मन्विहि तस्करस्येति स्नेस्य चेत्या मन्वि-  
हि तस्करस्यं चेत्येतदथो यथा स्नेस्तस्करः प्र-  
क्षाय मेत्येवं प्रलाय मिहीत्यन्य मस्यदिच्छ सा त

ऽद्विष्येत्यनित्यं विद्वांस मिष्येत्येतन्नमो देवि नि-  
र्ऋते तुभ्य मस्त्विति नमस्कारेणैवैना मपहृते ॥ ८ ॥

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेज इति । तिग्म-  
तेजा वै निर्ऋतिस्तस्या ऽएतन्नमस्कारोत्ययस्मयं  
व्विचृता बभू मेत मित्ययस्मयेन ह वै तं बभूनेन  
निर्ऋतिर्बध्नाति यं बध्नाति यमेन त्वं यस्या  
संविदानेत्यग्निर्वै यम इयं यस्याभ्यां ह्रीदं  
सुर्वं यत् माभ्यां त्वं संविदानेत्येतदुत्तमे नाके  
ऽअधि रोहयैन मिति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गे  
लोके यजमान मधिरोहयेत्येतत् \* ॥ १० ॥

यस्यास्ते घोर ऽआसन् जुहोमीति । घोरा  
वै निर्ऋतिस्तस्या एतदासन् जुहोति यत् तद्दे-  
वत्यं कर्म करोत्येषां बभूना मवसृर्जनायेति यै-  
र्बभूवैर्बहो भवति यां त्वा जनो भूमिरिति प्र-  
मन्दत ऽद्वितीयं वै भूमिरस्यां वै सु भवति यो  
भवति निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद व्विश्रुत इति  
निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद सञ्चत इत्येतदियं

वै निऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निऋच्छति  
तद्यथा वै ब्रूयादसावामुध्यायणोऽसि व्वेद त्वा  
मा मा हिःसीरित्येव मेतदाह नतरां हि वि-  
दित आमन्वितो हिनस्ति ॥ ११ ॥

नोपस्पृशति । पाप्मा वै निऋतिर्नेत् पाप्मना  
स्स्पृशा ऽद्भुति न सादयति प्रतिष्ठा वै सा-  
दनं नेत्पाप्मानं प्रतिष्ठापयानीति न सुददोहसाधि-  
वदति प्राणो वै सुददोहा नेत्पाप्मानं प्राणेन  
सन्तनवानि सन्दधानीति ॥ १२ ॥

ता हैके परस्तादर्व्याचीरुपदधाति । पाप्मा  
वै निऋतिर्नेत् पाप्मानं निऋति मन्वत्रायामेति न  
तथा कुर्यात् पराचीरेवोपदध्यात् पराञ्च मेव तत्  
पाप्मानं निऋति मपहते ॥ १३ ॥

तिस्र इष्टका उपदधालि । त्रिवृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत् पाप्मानं नि-  
ऋति मपहते \* ॥ १४ ॥

अथांसन्दीधुं शिक्थं । रुक्मपाशं मिण्डुं तत्

पराङ्गे न्यस्यति नैर्ऋतो वै पाशो निर्ऋतिपाशा-  
 देव तत् प्रमुच्यते यं ते देवी . निर्ऋतिराबबन्ध  
 पाशं ग्रीवास्त्रविचृत्य मित्यनेवंविदुषा हाविचृत्यस्तु  
 ते विष्ट्याम्यायुषो न मध्यादित्यग्निर्वा ऽत्रायुस्तस्यै-  
 तन्मध्यं युञ्जितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीय-  
 स्तस्माद्यदि युवाग्निं चिनुते यदि स्थविरं आयुषो  
 न मध्यादित्येवाहाथैतं पितुमङ्घ्रि प्रसूत इत्यन्नं  
 वै पितुरथैतदन्नमङ्घ्रि प्रमुक्त इत्येतत् विष्टुर्बभि-  
 र्वृञ्चो वै विष्टुर्बवृञ्चैव तत् पाप्मानं निर्ऋति  
 मपहते ॥ १५ ॥

तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्दौ शिक्वा  
 रुक्मपाश इण्डु तदष्टावष्टाक्षरा गायत्री गायत्री-  
 ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत् पा-  
 प्मानं निर्ऋति मपहते ॥ १६ ॥

अथान्तरेणोदचमसं निनयति । वृञ्चो वा  
 ऽत्रापि वृञ्चैव तत् पाप्मानं निर्ऋति मन्तुर्द्धत्ते  
 नमो भूत्यै यद् चकारेत्युपोत्तिष्ठन्ति भूत्यै वा  
 ऽएतदुपे देवाः कर्माकुर्वन्त तस्या ऽएतन्नमोऽकुं



व्वन् भूत्या ऽउ एवाय मेतत् कर्म कुरुते तस्या  
 ऽएतन्नमश्करोत्यप्रतीक्ष मायन्यप्रतीक्ष मेव तत् पा-  
 प्मानं निर्वृतिं जहति ॥ १७ ॥

प्रथेत्याग्नि मुपतिष्ठते । एतद्वा ऽएतदुयथा-  
 यथं करोति यदग्नौ सामिचित ऽएतां दिश मेति  
 तस्मा ऽएवैतन्निष्ठुते ऽहिंसायै ॥ १८ ॥

यदेवोपतिष्ठते । अयं वै लोको गार्हपत्यः  
 प्रतिष्ठा वै गार्हपत्य इयं मु वै प्रतिष्ठायैतदुपय  
 मिवैति यदेतां दिश मेति तद्यदुपतिष्ठत ऽइमा  
 मेवैतत् प्रतिष्ठा मभिप्रत्यैत्यस्या मेवैतत् प्रति-  
 ष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥ १९ ॥

दिवेशनः सङ्गमनो व्वसूना मिति । निवे-  
 शनो अयं लोकः सङ्गमनो व्वसूनां विश्वा  
 रूपाभिचष्टे शुचीभिरिति सर्वाणि रूपाण्यभिचष्टे  
 शुचीभिरित्येतदेव इव सविता सत्यधर्मोन्द्रो  
 न तस्यौ समरे पथीना मिति यथैव यजुस्तथा  
 बन्धुः ॥ २० ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।  
निर्गमे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथाख्यायिकया प्रयोजनप्रतिपादनपुरःसरं नैर्ऋतीना मिष्ट-  
काना सुपधानं विधित्सुस्तासां हरणं सङ्गहेण प्रतिजातीते—  
“अथात इति । ‘अथ’ गार्हपत्यचयनानन्तरम् ‘अतः’ अस्मात्  
स्थानात् निर्ऋतिदेवताकाः इष्टकाः ‘हरन्ति’ , नैर्ऋत्यां  
दिशि निरस्येयुरित्यर्थः । तासां सुपधानस्य प्रयोजनं माख्या-  
यिकयाचष्टे— “एतद्वा इति । ‘एतद्’ एतस्मिन् खलु  
गार्हपत्यचयनानन्तरकाले ‘देवाः’ ‘समारोहन्’ सम्प्राप्नुवन् ।  
एतदेव विवृणोति— “अथं वा इति । “ते तम एवेति । चय-  
नेन संस्मृतं भूलोकं मारुटाः ‘ते’ ‘अनतिदृश्यम्’ दृश्यमतिक्रम्य  
द्रष्टुं मशक्यं सर्ववस्त्वाच्छादकम् पापरूपं ‘तम एव’ सर्वत्र  
अपश्यन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

“तेऽमुवन्निति । “उप तज्जानीतेति । उपेत्य तत् तमोऽपहन्तु  
मुपायं विचारयतेत्यर्थः । “तमः पाप्मानं मिति । तमोरूपं पाप्मानं  
चेतयध्वं मितोच्छार्थे णिजिति \* व्याचष्टे—“चिति मिच्छतेतीति ।  
चितिं पापहननसाधनं मिष्टकानां चयनं मिच्छतेत्यर्थः । “तदि-  
च्छतेति । हे देवाः ! ‘तत्’ चयनम् ‘इच्छत’, ‘यथा’ येन चयनेन  
‘इदं’ तमोरूपं पापं नाशयेमित्यर्थः ॥ २ ॥

“ते चेतयमाना इति । ‘चिति’ मिच्छन्तः इत्यर्थः ।  
“पाप्मा वै निर्ऋतिरिति । दक्षिणाग्रदिगधिदेवता सा ‘पाप्मा

वै' पापरूपैव । एतत्तादात्म्यं सुपजीव्य पापापहतिहेतुभूतानां मिष्टकानां 'नैऋत्यः'—इति नाम निर्वृत्तम् । “तद्यदेताभिरिति । ‘अपाघ्नत’ अनाशयन् ॥ ३ ॥

इत्थं आख्यायिकया नैऋतीनामप्रधानस्य पापरूपतमोनिवृत्त्यर्थतां प्रतिपाद्य, इदानीन्तनानुष्ठानस्यापि तदर्थता माह—  
“तद्वा एतत् क्रियत इति । ‘तत्’ खलु ‘एतत्’ इदानीं यजमानेन ‘क्रियते’, ‘यद्देवाः’ पुरा ‘अकुर्वन्’ । यथा ‘देवैः’ ‘अपहृतः’ नाशितः तमोरूपः ‘स पाप्मा’, इदानीं मध्यनुष्ठानेन निवर्त्तते । “यत्स्वेतदिति । ‘यत्’ खलु ‘एतद्’ यजमानः अनुतिष्ठति, देवैर्यत् कृतम्, ‘तत्’ अहं मपि ‘करवाणि’, ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तदनुष्ठीयत इत्यर्थः । न केवलं मनुकरणमात्रं तथाविधफलसाधनं मपीत्याह— “अथो इति । उक्तं मर्थं मनूय नैऋतीनां मिष्टकानां मपहन्तृत्वद्वारा नाम निर्वृत्ते—  
—“तद्यदेताभिरिति ॥ ४ ॥

प्रयोजनान्तरं वक्तुं नैऋतीनां हरणं मनुवदति— “यद्देवैता इति । ‘यत् उ एव’ यस्मादेव प्रयोजनान्तरात् ‘एता नैऋतोः’ इष्टकाः ‘हरन्ति’, तदुच्यत इति शेषः । आख्यायिकया तत् प्रतिपादयति— “प्रजापतिं विस्त्रस्तं मिति । यदा खलु ‘देवाः’ ‘विस्त्रस्तं’ विस्त्रिष्टावयवं ‘प्रजापतिं’ ‘समस्कुर्वन्’ पुनरजनयन्, तदा ‘तम्’ प्रजापतिम्, उखालक्षणायां ‘योनौ’ उख्याग्निरूपेण ‘रितोभूतम्’ अस्मिन्नन् । “योनिर्वा उखेति । उख्याग्नेस्तत उत्यत्तेः । “तस्मा एता मिति । ‘तस्मै’ प्रजापतये ‘संवक्षरे’ उख्याग्निभरणेन नीते सति ‘एतां प्रतिष्ठां’ प्रतितिष्ठत्यनेनेति पादद्वयं प्रतिष्ठा ; भूलोकात्मकं पादद्वय

मजनयन्नित्यर्थः । ननु संवत्सरे अतिक्रान्ते गार्हपत्य एव  
 चीयते, न भूलोकस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य तयोश्चादात्म्यं माह—  
 “अथ वै लोक इति । “तस्मिन्नेन मिति । ‘तस्मिन्’ भूलोकात्मके  
 गार्हपत्ये ‘एनं’ प्रतिष्ठारूपं प्रजापत्यवयवं ‘प्राजनयन्’, उदपा-  
 दयन् । ‘तस्य’ प्रजायमानस्य ‘यः पाप्मा’ शरीरे लिप्तः, ‘यः श्लेष्मा’,  
 ‘यत्’ च ‘उषबं’ गर्भवेष्टनम्, ‘यत्’ च जराय्वास्थं गर्भस्य बाह्य-  
 वेष्टनम्, ‘तत्’ सर्वं पापरूपम् ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘एताभिः’  
 दृष्टकाभिः ‘अपाप्नन्’ अपहृतवन्तः । अत्रापि पूर्ववन्नामनिर्वचनं  
 करोति— “तद्यदस्येति ॥ ५ ॥

इतिहाससिद्धं मर्थं दृष्टान्तोक्त्य दार्ष्टान्तिके योजयति—  
 “तथैवेतदिति । यथा प्रजापति मुदीरितरीत्या देवाः समस्तु-  
 र्वन्, तथैवेदानीं यजमानोऽपि प्रजापतिरूपं माम्भानम् “उखाया  
 मित्यादि पूर्ववद् योज्यम् \* ॥ ६ ॥

इत्थं पापरूपस्य तमसः, गर्भसम्बन्धिश्लेष्मादिरूपस्य च  
 पाप्मनो निर्हरणहेतुत्वेन नैर्ऋतीरिष्टकाः प्रशस्य, तासां  
 लक्षणं माह— “पादमात्रं इति । विंशत्यधिकशताङ्गुलि-  
 परिमितः पुरुषः, तस्य दशमोऽंशः पादः, स प्रमाणं यासां  
 ताः ‘पादमात्राः’ । तदुक्तं कात्यायनेन— “पञ्चारिदंशवित-  
 स्त्रिंशतिशताङ्गुलः पुरुषः, तस्य दशमेन पादमात्रो भवति”  
 -इति † । तत् परिमाणं प्रशंसति—, “अधस्यद मेवेति ।  
 ‘एतत्’ एतेन नैर्ऋतीनां पादमात्रपरिमाणकरणेन ‘अधस्यदं’  
 पादस्याधस्यादेव निर्ऋतिरूपम् ‘पाप्मानं’ कृतवान् भवतीत्यर्थः ।

\* एतत्पूर्वस्या मेव कष्टिकायां ( ८४ ए० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १६. ८. २१ ।

एतेन पादमात्र इत्यत्र \* पादशब्दोऽङ्घ्रिपर्यायः, न तु चतुर्थीश-  
वाचक इति व्याख्यातं भवति । धर्मविशेषं विधत्ते— “अलक्षण-  
भवन्तीति । आलिखितादिकं लक्षणम्, तद्द्रष्टा भवेयुरित्यर्थः ।  
एतदुपपादयति— “यद् नैर्ऋतीति । ‘यत्’ खल्वभावप्रतियोगि,  
‘तत्’ निस्वरूपत्वाद् ‘अलक्षणं’ व्यावर्त्तकचिह्नरहितम् ; अतोऽत्रा-  
लक्षणकरणेन ‘निर्ऋतिं’ पाप्मानम् ‘असन्तम्’ अभावप्रतियोगिन  
मेव करोति । ननु पाके सतोऽकान्तरलक्षणवत्त्वं मासा मर्क-  
जीय मित्याशङ्क्य, तासां पाकप्रकार माह— “तुषपक्वा भव-  
न्तीति । तुषैः पक्वाः ‘तुषपक्वाः’ । पचैः कर्मणि क्तः, “पचो वः”—  
इति † निष्ठातकारस्य वत्वम् । तत् प्रशंसति— “नैर्ऋता वा  
इति । दर्शपूर्णमासप्रकरणे “अथ तुषान् प्रहृत्यपहतं रक्ष इति”—  
इति ‡ रक्षःसम्बन्धस्य समाख्यातत्वात् तुषाणां नैर्ऋतत्वम् । तासां  
कार्त्तव्यं विधत्ते— “कृष्णा भवन्तीति § । ताः तिस्र इष्टकाः कृष्ण-  
वर्णाः । तत्र कारण माह— “कृष्णं हीति । अपहृत्यव्यस्य तमसः  
कृष्णवर्णत्वात् तदभिमानिन्या निर्ऋतिदेवतायाश्च तादृग्वर्ण-  
त्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

तासां मुपधानार्थं दिग्विशेष मभिनयेन दर्शयति— “ताभि-  
रेता मिति । ‘एतां’ दक्षिणाधरां दिशं ‘ताभिः’ सह  
‘यन्ति’ गच्छेयुः । ‘एषा’ खलु ‘नैर्ऋतीः’ निर्ऋतिदेवताधिष्ठिता  
‘दिक्’ । तथा सति स्वकीयदिग्भवेतां ‘निर्ऋतिं’ ‘दधाति’

\* ‘पादमात्र इत्यत्र’—इति च, ज ।

† पा० सू० ८. २. ५२ ।

‡ अत० ब्रा० १. ४. २१ ( १ भा० ७६ पृ० ६ पं० ) ।

§ का० औ० सू० १७. १. २३ ।

स्थापयति । तथापि देशविशेष माह— “स यच्चेति । ‘सः’ अर्धार्थः नैर्ऋत्यां दिशि ‘यच्’ यस्मिन् स्थाने ‘स्वकृतं’ स्वयं निव सञ्जातम् ‘हरिणं’ निस्तृणम्, जपरस्थानं वा भवति \* , ‘श्वभ्र-  
प्रदरो वा’, श्वभाकारेण प्रदीर्घः प्रदेशो भवेत्, ‘तत्’ तस्मिन् स्थाने ‘एनाः’ नैर्ऋतीः ‘उपदध्यात्’ । तादृक्स्थानस्य निर्ऋति-  
देवताधिष्ठितत्वं माह— “यत्र वा इति । ‘यच्’ खल्वस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनि स्थाने आत्मा ‘भवदीर्यते’ भिद्यते,  
‘यच् वा’ जपरस्थाने ‘ओषधयो न जायन्ते’, तदेतत् स्थानद्वयं  
निर्ऋतिरुद्धीतम्; तथा च निर्ऋतिसम्बन्धे ‘स्थाने एव  
नैर्ऋतीनां सुपधानेन निर्ऋतिं स्थापितवान् भवति । धर्म-  
विशेषं विधत्ते— “ताः पराचीरिति † । पराक्ष्णाः स्वस्थानभि-  
मुखा यथा भवन्ति तथा ‘लोकभाजः’ स्थानभाजः ‘कृत्वा’ ‘ताः’  
इष्टका उपदध्यात् । एतच्च पराक्ष्ण मध्ये प्रतिपादयिष्यते ॥ ८ ॥

तत्र तिष्ठणा मिष्टकानां त्रयो मन्त्राः, तान् क्रमेण प्रदर्शयन्  
व्याचष्टे— “असुन्वन्त मयजमान मित्वादिना ‡ । “यो वै न  
सुनोतीति । ‘यः’ पुरुषः सोमाभिषवं न करोति, ‘यस्य’ दर्श-  
पूर्णमासादिभिर्हविर्यज्ञैः ‘न यजते’, ‘तं’ ‘निर्ऋतिः’ पापदेवता  
‘ऋच्छति’ प्राप्नोति । तस्मान्निर्ऋतिं सम्बोध्य “असुन्वन्त मयज-  
मान मिच्छेति § मन्त्रपाठो युक्त इत्यर्थः ।

“स्तेनस्य चेत्या मिति । प्रच्छन्नचोदस्तेनः, प्रत्यक्षं परेषां

\* ‘हरिणं’ निस्तृणं सुषरस्थानम्—इत्येव ज-पुस्तके ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १ ।

‡ वा० सं० १२. ६२, ६३, ६४ ।

§ वा० सं० १२. ६२ ।

धनं मपहरति यः स तस्करः ; अनयोः परस्परविलक्षणत्वात्  
 अवियमानं मपि 'च'-शब्द मध्याहृत्य योजयति । स्तेनस्य  
 तस्करस्य च या 'इत्या' गतिः , "सञ्ज्ञायां समजित्यादिना \*  
 "इण् गतौ"—इत्यस्माद् † भावे क्खप् । तां गतिं हे निर्ऋते !  
 त्वम् 'अन्विहि' अनुगच्छ । एतदेव विवृणोति—"अथो इति ।  
 अपि च यथा स्तेनः तस्करश्च 'प्रलायं' प्रलीय अट्टश्यो भूत्वा  
 'एति' गच्छति । प्रलाय मिति णसुलन्तः ‡ । 'एवं' निर्ऋते !  
 त्वं मपि प्रलयनं मददर्शनम् 'इहि' गच्छेति मन्त्रभागस्या-  
 भिप्रायः । "अनित्यं विद्वांस मिति । 'इत्यम्' अनेन प्रकारेणोक्त  
 मर्थं यो न वेत्ति , सोऽनित्यं विद्वान् अचान्यशब्देन विवक्षित  
 इत्यर्थः । हे निर्ऋते ! अस्मत्तः 'अन्यं' त्वत्स्वरूपानभिज्ञम् 'इच्छ' ।  
 सा तादृशो अविद्वद्विषयैव खलु 'ते' तव 'इत्या' गतिरिति मन्त्र  
 भागस्यार्थः । "नमस्कारेणैवेति । "नमो देवि निर्ऋते"—इत्यन्तिम-  
 पादे नमस्कारप्रतिपादनात् तेनैव नमस्कारेण 'एनां' निर्ऋतिम्  
 'अपहृते' अपवाधते अपसारयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

"नमः सु ते इति । द्वितीयो मन्त्रभागः । तच्च तिग्म-  
 तेज इति विशेषणस्य प्रसिद्धि माह— "तिग्मतेजा वै इति ।  
 तिग्मं तीक्ष्णं तेजो यस्याः सा तिग्मतेजाः , हे तिग्मतेजो  
 निर्ऋते ! 'ते' तुभ्यं नमोऽस्त्विति तस्यार्थः । द्वितीयपाद  
 मनुष्य व्याचष्टे— "अयस्मयेनेति । अयसा लोहेन निर्मितो  
 बन्धोऽयस्मयः । विकारायैः मयद् § तादृशेन खलु बन्धेन

\* पा० ख० ३. ३. ६ ।

† अथा प० ४० धा० ।

‡ पा० ख० ३. ४. २२ इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

§ पा० ख० ४. ३. १४३ ।

‘निर्ऋतिस्तु’ बध्नाति’ यं बन्धनीयं मन्थते । हे निर्ऋते !  
 ‘अयस्मय मेतं बन्धं विचृत’ विमुञ्चेति प्रार्थना युक्ता ।, यस्म-  
 यमोशब्दयोर्विवक्षितं मर्थं माह— “अग्निर्वै यम इति । अन्तः-  
 प्रविष्टः सन् क्तरन्नजगन्नियमनाद् ‘अग्निर्यमः’ ; तदधिष्ठित-  
 त्वात् ‘इयं’ पृथिव्येव ‘यमो’ ; इयं मपि हि आश्रितं सर्वं जगन्निय-  
 ष्छति । तथा ‘आभ्यां’ यमेताग्निना , यस्या पृथिव्या च ‘संवि-  
 दाना सञ्ज्ञानाना ‘त्वम्’ । इति, तृतीयभागस्वार्थः । .

चतुर्थं पादं मनूय व्याचष्टे— “उत्तमे नाक इति । कं  
 सुखम्, न कम् अकं दुःखम्, तदस्मिन् नास्तीति ‘नाकः’  
 स्वर्गाख्यो लोकः । उत्तं हि—

“यन्न दुःखेन सन्धिन्नं न च यस्त मनन्तरम् ।

अभिलाषीयनीतं च तत् सुखं स्वःपदाभिधम्”—इति ।

सिद्धं मन्थत् ॥ १० ॥

“यस्यास्त इति । तृतीयो मन्त्रः \* । तत्र प्रथमपादस्य  
 तात्पर्यं माह— “घोरा वा इति । ‘निर्ऋतिः’ पापदेवतात्वात्  
 पापस्य च दुःखहेतुत्वाद् ‘घोरा’ तीव्रा दुःसहा । तथा च  
 ‘तद्देवत्व मेतत् कर्म करोति’ इति यत्, ‘एतत्’ एतेन  
 ‘तस्याः’ निर्ऋतेः ‘आसन्’ आस्ये ‘जुहोति’ प्रक्षिपति । एवञ्च  
 प्रथमपादस्याय मर्थः— हे घोरे निर्ऋते ! यस्याः तव आस्ये  
 जुहोमि , ताम्वा मित्युपरि सम्बन्धः । .

द्वितीयपादं मनूय एषा मिति इदंशब्दनिर्देशः माह—  
 “यैर्वन्धैरिति । शिखपाशरुक्मसूत्रादिभिर्यैः बन्धनैः दुःखहेतुभिः



‘ब्रह्मो भवति’ यजमानः, ‘एषां बन्धानां’ निऋतिबन्ध-  
हेतुभूतानां पापानाम् ‘अवसर्जनाय’ विस्फेषणाय जुहोमीति  
सम्बन्धः ।

तृतीयपादं मनूय, तत्र भूमिरिति विशेषणस्य तात्पर्यं  
माह—“यां त्वेति । हे निऋति ! ‘जनः’ लोकः ‘यान्त्वां’ ‘भूमिः’  
भवनहेतुः समृद्धिहेतुर्वा ‘इति’ ‘प्रमदते’ स्वीतीति तस्य पाद-  
स्यार्थः । “इयं वा इत्यादि । ‘इयं’ खलु पृथिवी निऋतिरूपा  
‘भूः’ भवनहेतुः । कुत एतदित्याह—“अस्यां वा इति । ‘यो  
भवति’ उत्पद्यते, समृध्यते वा, ‘सः’ ‘अस्यां’ पृथिव्या माधार-  
भूतायां खलु ‘भवति’ । तस्माद् भवनाधिकरणत्वाद् भूमिरिति-  
नाम्ना त्वं स्तूयस इत्यर्थः ।

जनवादं सुपन्थस्य, स्वस्य विशेषज्ञतां चतुर्थपादेनाह—  
“निऋतिं त्वेति । अत्र विश्वशब्दः सर्वशब्दपर्याय एव, न  
तु जगद्वाचीत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—“निऋतिरिति । अयं  
मर्थः,—तृतीयपादे भूमिशब्दादुत्तरत्वेन पठितः ‘इति’-शब्दो-  
ऽचानुषज्यते । ‘अहं’ पुनः ‘त्वां’ ‘निऋतिः’ सर्वतो निरर्पण-  
हेतुः आर्त्तिकारणम् \* ‘इति’ ‘परिवेदं’ परितो जानामि ।  
एवं निऋतिं त्वेति द्वितीयान्तं निऋतिपदं मितिशब्दा-  
नुषङ्गेन व्याख्यायैतदुपपादयति—“इयं वा इति । यो  
निःशेषेण ऋच्छति, आर्त्तिं प्राप्नोति, ‘तं’ पुरुषम् ‘इयम्’ एव

\* “निऋतिः अस्मापत्तिः” स्यादलञ्जीस्तु निऋतिः (अम० को०  
१. २. १३.)—इत्यभिधानात्, भूमिर्वा निऋतिः, दिग्भिमानिनी  
ऽदेवता वा; ‘अलङ्गां दिक्पतौ अपि निऋतिर्नैरुपद्रवे’—इति  
कोशात्—इति महोदरः ।

देवता 'निरर्पयति' निर्वर्तितं प्रयुङ्क्ते । निरूपपदात् ऋच्छतेः  
प्रयोजकव्यापारे णिचि \* “अर्त्तिङ्गीत्यादिना † पुक्, । अतो  
निरर्पणादिय मेव पृथिवी निर्वर्तितिरित्युच्यते । अतो भवत्याः  
स्वरूपं सम्यगहं जानामीत्यर्थः ।

एतज्ज्ञानस्य सदृष्टान्तं प्रयोजन माह— “तद्यथेति ।  
'तत्' तत्र अरण्यादौ चोरादिष्वागतेषु , असौ त्व मेतन्नामासि ,  
अमुष्य यज्ञदत्तस्य पुत्रोऽसि , अतस्त्वा महं जानामि , मां  
'मा हिंसोः' मा वधिष्ठाः 'इति' आगतं प्रति यद्युच्यते ,  
एव मेव खल्वेतं “निर्वर्तितं त्वाह मित्यादिनां निर्वर्ततेः  
स्वरूपप्रतिपादनम् । नामग्रहणस्य फल माह— “नतरा मिति ।  
'विदितः' ज्ञातो नामगोत्रादिना , 'आमन्वितः' आहूतः ,  
चोरादिः आत्मोयत्वेनाह्वातारं पुरुषं 'नतराम्' अतिशयेन नैव  
'हिनस्ति' बाधते ; एव मेव निर्वर्तितनामग्रहणादेनं यजमानं  
निर्वर्तितं बाधत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

उपस्पर्शनसादनसूददोहसा मिष्टकान्तरवदासु प्रसक्तानां ‡  
निषेधं करोति— “नोपस्पर्शतीत्यादिना § । उपहिताया इष्ट-  
कायाः प्रथम उपस्पर्शनं कर्त्तव्यम् , पश्चात् “तया देवतयेति ॥  
सादनम् , ततः “ता अस्थेति मन्त्रेण सूददोहसाधिवदनम् ¶ ;

\* पा० सू० १. ४. ५५ ।

† पा० सू० ७. ३. ६५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. २३ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ३ ।

॥ वा० सं० १२. ५३. १ ।

¶ वा० सं० १२. ५५ ।

तदेतत् त्रितय मत्र न कर्त्तव्यम् । पापसंसर्गो मा भूदित्य-  
भिप्रायः । सन्तनवान्नीत्यस्य विवरणं सन्दधानीति । अन्यत्रि-  
गदसिद्धम् ॥ १२ ॥

तासां सुपधाने प्रकारद्वय माह— “ता एक इत्या-  
दिना \* । ‘एके’ शास्त्रिनः ‘ताः’ नैर्ऋतीष्टकाः ‘परस्ताद्’ वि-  
प्रकृष्टादेशादारभ्य ‘अर्वाचोः’ आत्माभिमुखं सुत्तरोत्तरं मात्मा-  
भिमुखीः ‘उपदधाति’ । तेषां अभिप्राय माह— “पाप्मा  
इति । समोपदेशादारभ्योत्तरोत्तरं विप्रकर्षेणोपधाने हि पूर्वी-  
पङ्क्तिता मिष्टका मतिक्रम्य गमनात्त्रायसंसर्गः स्यात्, तादृशं  
‘निर्ऋतिम्’ ‘नैव अन्ववायानि’ नैव प्राप्तवानि ‘इति’ अनेना-  
भिप्रायेणेत्यर्थः ॥

द्वितीयं पञ्च विधातु मेतन्निषेधति— “न तथेति । तं  
पञ्च माह— “पराचीरेवेति † । ‘पराचीः’ उत्तरोत्तरं विप्र-  
कृष्टाः, ता एवोपदध्यात् । तथा च निर्ऋतिरूपं ‘पाप्मानं’  
‘पराञ्चम्’ आत्माऽनभिमुखं विप्रकृष्टम् ‘एव’ प्रेरयित्वा ‘अपहृते’  
हिनस्ति ॥ १३ ॥

तासां नैर्ऋतीनां सङ्ख्या मनूय, स्तीति— “तिस्र इति ‡ ।  
“वितृदग्निरिति । असङ्ख्यदुक्तार्थम् ॥ १४ ॥

आसन्त्याद्रीनां तत्र प्रासनं विधत्ते— “अयेति § । ‘अयं’  
समिदाधानानन्तरम्, यत् उष्याग्निधारणार्था ‘आसन्दे’, यच्च

\* का० औ० ख० १७. २. ३ ।

† का० औ० ख० १७. २. १ ।

‡ का० औ० ख० १७. २. २२ ।

§ का० औ० ख० १७. २. ४ ।

भरतसमये उख्यधारणार्थं 'शिक्षम्', यद्य सौवर्णस्य रुक्मस्य प्रतिमोचनार्थं 'पाशः' सूत्रम्, ये च 'इष्टु' अग्निसहि-  
ताया उखाया उभयतो धारणाय तृणमयौ पिण्डौ । 'तत्' सर्वं नैर्ऋतीनां 'पराधे' पश्चाद्भागे 'न्यस्यति' क्षिपेत् ।  
“यन्ते देवोति \* तस्य मन्त्रः । तथा च कात्यायनः— “दक्षिणा-  
मुखोऽनुपसृशन्ननुत्तम मिति प्रत्यृचं पराचीरभ्याम् मेके  
नित्याभावः शिक्षरुक्मपाशेष्वासन्धीः परेणास्यति यन्त इति”—  
इति † । आसन्धादीना मुख्याग्निना तप्तत्वात् प्रासनीयत्वं  
स्यष्ट मित्यभिप्रेत्य रुक्मपाशस्य प्रासनीयत्वं सुपपादयति—  
“नैर्ऋतो वा इति । निगदसिद्धोऽर्थः ।

मन्त्रस्य पूर्वाधे “अविचृत्य मितिपदस्याभिप्राय माह—  
“अनेवंविदुषा हेति । उक्तार्थज्ञानरहितः ‘अनेवंविदान्’, तेन  
‘अविचृत्यः’ । “चृती हिंसायन्यनयोः” ‡ । चर्त्तितुं विज्ञेययितुं  
शक्नो न । अयं मर्थः,— हे यजमान ! ‘ते’ तव ‘ग्रीवासु’  
‘अविचृत्यं’ विमोक्तुं मशक्यं यं ‘पाशं’ ‘निर्ऋतिः’ देवता ‘आव-  
बन्ध’ आवहवती, “तं ते विष्णामीत्युत्तरत्र सम्बन्धः । तत्र-  
त्यस्यायुःशब्दस्य विवक्षितं मर्थं माह— “अग्निर्वा आयु-  
रिति । आयुषो दाहत्वादग्निरेवायुःशब्देनोच्यते । “तस्यैतन्मध्य  
मित्यादि । ‘तस्य’ चीयमानस्यायुःशब्दाभिधेयस्याग्नेः ‘एतत्’  
‘मध्यं’ मध्यमशरीरं ‘यद्’ गार्हपत्यचयनादूर्ध्वं माहवनीयचय-  
नात् प्राचीनं कर्म ; तदत्र मन्त्रगतेन मध्यमशब्देनोच्यते

\* वा० सं० १२. ६५ ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. २३-१७. २. ४ ।

‡ तु० प० ३४ धा० ।

इत्यर्थः । फलितं माह— “तस्मादिति । ‘तस्मात्’ आयुः-  
शब्दस्य चोद्यमानाग्निपरत्वात् यूनः स्थविरस्य च यजमानस्य  
प्रयोगे “आयुषो मध्यात्”—इति मन्त्रभागस्य पाठो न विरु-  
ध्यते ; यदि ह्यायुःशब्देन यजमानस्य जीवनकालो विवक्षितः  
स्यात्, तदा यूनः प्रयोगे आयुषश्चादेरिति विपरिणमयितव्यम्,  
स्थविरस्य प्रयोगे आयुषोऽन्तादिति । ‘मध्यादित्येवाह’ इत्येव-  
कारणेऽद्विधपरिणामो व्यावर्त्यते । तथा च तृतीयपाद-  
स्याय मर्थः— “हे यजमान ! ‘ते’ तव प्रीवास्त्राबद्धं तं शिष्य-  
पाशं रुक्मपाशञ्च ‘विश्यामि’ । “स्थतिरुपसृष्टो विमोचने”—इति \*  
यास्तः । ‘आयुषः’ चोद्यमानस्याग्नेः मध्यात् गार्हपत्यचयना-  
दूर्द्धभाविनः, कर्मकलापात् न विमुञ्चामीति । चतुर्थपादं मनूय  
व्याचष्टे— “अथैतं मिति । पितुःशब्दोऽन्नवाची । ‘अथ’ पाश-  
विमोचनानन्तरम्, ‘एतं पितुम्’ अग्निचयनफलभूतं मन्त्रं ‘प्रसूतः’  
निर्ऋतिदेवतयानुज्ञातः सन्, हे यजमान ! त्वम् ‘अग्निं’ अग्ना-  
नेत्यर्थः । “प्रसूत इत्येतदिति, प्रसूत इति मन्त्रपदेन प्रयोजनं  
विवक्षितं मिति भावः ॥

मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति— “त्रिष्टुब्भिरिति । “वज्रो वै  
त्रिष्टुबिति । त्रिष्टुभ इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वाद् ॥, वज्रस्य च तदायु-  
धत्वात् त्रिष्टुभस्तत्तादात्म्यम् ॥ १५ ॥

इष्टकादीन् सभूयः, अनूयः, सङ्ग्राहारेण प्रशंसति—  
“तिस्र इति ॥ १६ ॥

उदकस्य निनयनं विधत्ते— “अथान्तरेणेति । ‘अथ’

\* निरु० १. ६. १ ।

† तै० सं० ७. १. १. ४ ।

आसन्त्यादीनां प्रासनानन्तरम्, 'अन्तरेण' स्वात्मन इष्टकानाञ्च मध्ये उदकपूर्णं चमसं 'निनयति' निषिञ्चति \* । तदेतत् प्रशंसति— “वज्रो वा इति । नैर्ऋत्यौ हि ता इष्टकाः, तासां मात्मनश्च मध्ये वज्रसंस्तुतानां मपां निनयनेन पापरूपां 'निर्ऋतिम्' 'अन्तर्हस्ते' व्यवधाति, तत्संसर्गपरिहारायेत्यर्थः ॥

निषेचनानन्तरं सुपोत्थानं समन्त्रकं विधत्ते— “नमो भूत्या इति † । भूतिलक्षणा देवता 'इदं' नैर्ऋतेष्टकोपधानरूपं कर्म 'चकार' कृतवती । तस्यै 'भूत्यै' श्रियै नमोऽस्त्विति मन्त्रार्थः । तत्रोदकनिनयनपूर्वकं सुपोत्थानं कात्यायनः सूचितवान्— “उदपात्रं निषिञ्चान्तरात्मेष्टकं मुत्तिष्टन्ति नमो भूत्या इति”—इति ‡ ।

पुरावृत्तन्यायेन भूत्यर्थतां कर्मणः प्रदर्शयन् तन्नमस्कारपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—“भूत्यै वा इति । 'भूत्यै' भवनाय ऐश्वर्याय खलु 'एतत् कर्म' देवाः प्राक् 'अकुर्वन्' कृतवन्तः । 'तस्यै' एव भूत्यै 'एतन्नमः' 'अकुर्वन्', तद्वदेव 'अयं' यजमानोऽपि भूत्यर्थं मेव 'एतत् कर्म' कुरुते, 'तस्यै' एतन्नमस्कारोति' इति ॥

उपोत्थानानन्तरं शालां प्रत्यागमनं धर्मविशिष्टं विधाय स्तौति—“अप्रतीक्ष मायन्तीति § । प्रतिनिवृत्य नैर्ऋतस्थानस्येक्षणां मकृत्वा 'आयन्ति' शालां मागच्छन्ति, 'तत्' तेनाप्रतीक्षणेन

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ५ क ।

† वा० सं० १२. ६५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. ५ क, ख ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ६ क ।

निर्ऋतिरूपं 'पापानम्' 'अप्रतीक्ष मेव' प्रतीक्षण मकल्वैव  
'जहति' त्यजन्ति । "ओ हाक् त्यागे"—इति \* धातुः ॥ १७ ॥

गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते— "प्रत्येत्येति । 'प्रत्येत्य' नैर्ऋत-  
स्थानात् प्रतिनिवृत्त्य, गार्हपत्यम् 'अग्निं सुपतिष्ठते' । तदुक्तं  
सूत्रज्ञता— "अनपेक्ष मेव शालाहार्योपस्थानं निवेशन इति"—  
इति † । उपस्थानस्य प्रयोजन माह— "एतद्वा इति । 'एतद्'  
एतस्मिन् समये खलु 'एतदयथायथम्' अयथास्य मन्याव्य' करोति  
किं पुनरेतदिति, तदाह— "यदग्नाविति । 'अग्नी' गार्हपत्य-  
चितिरूपे शालाहार्ये, 'सामिचिते' अर्धचिते 'एतां दिशं'  
नैर्ऋतीम् 'एति' गच्छति । 'अर्धिसायै' हिंसापरिहाराय 'तस्मै'  
गार्हपत्यचितिरूपायाम्नये 'एतत्' निष्कृते एव अयथायथकरण-  
जनितापराधं शमयत्येव ॥ १८ ॥

प्रकारान्तरेणाव्युपस्थानस्य कर्त्तव्यता माह— "यद्देवेति । अयं  
वा इति । 'गार्हपत्यः' पृथिवीलोकात्मकः खलु, प्रतिष्ठात्मकश्च  
सः । 'इयम् उ वै' पृथिव्यपि खलु 'प्रतिष्ठा' आस्यदम् । 'अथैतत्'  
इदानीम् 'अपथ मिवैति' अमार्गेष्वेव प्रतिपद्यते, 'यदेतां' नैर्ऋतीं  
'दिशम्' 'एति' गच्छति । उपस्थानस्य प्रतिष्ठितिहेतुतां प्रति-  
पादयति— "तद्यदिति । 'एतत्' एतेनोपस्थानेन 'इमां' प्रतिष्ठा-  
रूपां पृथिवी मेव 'अभिप्रत्येति' साम्मुख्येन प्रतिपद्यो भवति,  
'प्रतिष्ठायाम्' अस्मां 'प्रतितिष्ठति' च, चिरं स्थितिं लभत  
इत्यर्थः ॥ १९ ॥

\* जु० प० ८ धा० ।

† का० श्री० सू० १७. २. ६ क, ख ।

विहिते शालाहार्योपस्थाने मन्त्र मनुष्य व्याचष्टे— “निवेशन इति \* । निविशन्ते वसूनि अस्मिन्निति ‘निवेशनः’, सङ्गच्छन्ते धनान्यस्मिन्निति ‘सङ्गमनः’ । आधाराच्चेययोरभेदोपचारेणान्तेः पृथिवीलोकत्व मित्यभिप्रेत्याह— “निवेशनो ह्ययं लोक इति । विवशद्दस्य सर्वशब्दाभिधायकत्वं व्याचष्टे— “सर्वाणीति । उत्तरार्धं तु निगदव्याख्यात मित्याह— “यथैव यजुरिति ॥

मन्त्रार्थस्तु,— योऽय मग्निः ‘वसूनां’ धनानां ‘निवेशनः’ एकाग्रयः, ‘सङ्गमनः’ सङ्गत्याधारश्च, ‘विश्वा रूपा’ सर्वाणि रूपाणि आहवनीयदक्षिणाग्न्यतिप्रणीताग्नीष्टुप्तिष्ठाप्रभृतीनि ‘शचीभिः’ कर्मभिः ‘अभिचष्टे’ अभिपश्यति । कथं पश्यतीत्यपेक्षाया माह— ‘सत्यधर्मा’ अविद्यधर्मकारी ‘सविता’ देव इव ; स यथा सर्वं मभिपश्यति, तथेत्यर्थः । यः ‘इन्द्रो न’ इन्द्र इव ‘पथीनां समरे’ परिपन्थिभिः सह सङ्ग्रामे ‘तस्थौ’ स्थितवान् । नकारोऽन्योपमार्थीयः ; “उपमार्थीय उपरिष्टादुपाचारस्तस्य येनोपमिमीते”—इति † हि यास्कः ॥ २० ॥ ३ [२. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* वा० सं० १२. ६६ ।

† वि० १. २. १ ।



( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

अथ प्रायणीयं निर्व्वपति । तस्य हविष्कृतं  
व्वाचं व्विसृजते व्वाचं व्विसृज्य स्तम्बयजुर्ह-  
रति स्तम्बयजुर्हत्वा पूर्वेण परिग्रहेण परिगृह्य  
लिखित्वाह हर विरिति हरति त्रिराग्नीध्रः ॥ १ ॥

प्रथेत्य प्रायणीयेन प्रचरति । प्रायणीयेन  
प्रचुर्य सौरं युनक्त्येतद्वा ऽएनं देवाः संस्करिष्यन्तः  
पुरस्तादग्नेन समर्हयंस्तथैवैन मय मेतत् संस्क-  
रिष्यन् पुरस्तादग्नेन समर्हयति सौरं भवति सैर  
हैतद्यत् सौर मिरा मेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥ २ ॥

श्रौदुम्बरं भवति । जग्वै रस उदुम्बर जुजै-  
वैन मेतद्रसेन समर्हयति मौञ्जं परिसीर्यं चिवत्  
तस्योक्तो बन्धुः \* ॥ ३ ॥

सोऽग्नेर्हविषां श्रोणिम् । जघनेन तिष्ठन्नु-  
त्तरस्यांसस्य पुरस्ताद्यज्यमान मभिमन्वयते सौरा  
युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथगिति ये व्वि-

\* 'बन्धुः'—इति ग, घ ।

हासस्ते कवयस्ते सीरं च युञ्जन्ति युगानि  
च वितन्वते पृथग्धीरा देवेषु सुमयेति यज्ञो  
वै सुमन् धीरा देवेषु यज्ञं तन्वाना इत्ये-  
तत् ॥ ४ ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्व मिति । यु-  
ञ्जन्ति हि सीरं वि युगानि तन्वन्ति कृते योनौ  
वपतेह वीज मिति वीजाय वा ऽएषा योनि-  
ष्क्रियते यत् सीता यथा ह वा ऽअयोनौ रेतः  
सिञ्चेदेवं तद्यदुक्तष्टे वपति गिरा च श्रुष्टिः सु-  
भरा असन्न इति वाग्वै गीरन्नं श्रुष्टिर्नेदीय  
इत्सृण्यः पक्व मेयादिति यदा वा ऽअन्नं पच्यते-  
ऽथ तदसृण्योपचरन्ति हाभ्यां युनक्ति गायत्र्या च  
त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः ॥ ५ ॥

सु दक्षिण मेवाग्रे युनक्ति । अथ सव्य मेवं  
देवचेतरथा मानुषे षड्वं भवति द्वादशगवं वा  
चतुर्विंशतिगवं वा संवत्सर मेवाभिसम्प-  
दम् ॥ ६ ॥

अथैनं विवृणोति । अन्नं वै कृषिरेतद्व

ऽअस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादन्न मदधु-  
स्तयैकस्मिन्नयु मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादन्नं  
दधाति \* ॥ ७ ॥

स वा ऽआत्मान मेव व्विकृषति । न पक्ष-  
पुच्छान्यात्मस्तदन्नं दधाति यदु वा ऽआत्मन्नन्नं  
धीयते तदात्मान मवति तत् पक्षपुच्छान्यथ यत्  
पक्षपुच्छेषु नैव तदात्मान मवति न पक्ष-  
पुच्छानि ॥ ८ ॥

स दक्षिणार्धेनाग्नेः † । अन्तरेण परिश्रितः प्रा-  
चीं प्रथमां सीतां कृषति शुनं सु फाला  
व्विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु व्वा-  
हैरिति शुनं शुन मिति यद्वै समृद्धं तच्छुनं  
समर्द्धयत्येवैना मेतत् ‡ ॥ ९ ॥

अथ जघनार्धेनोदीचीम् । घृतेन सीता मधुना  
समज्यता मिति यथैव यजुस्तथा बभ्रुर्विश्वैर्देवै-  
रनुमता मरुद्भिरिति विश्वे च वै देवा मरुतश्च

\* 'दधाति'—इति क ।

† 'दक्षिणार्धेनाग्नेः'—इति ग, घ ।

‡ 'मेतत्'—इति ग, घ ।

वर्षस्येशतऽजुर्जस्वती पयसा पिब्वमानेति रसो  
वै पय जुर्जस्वती रसेनान्नेन, पिब्वमानेतद्-  
स्मान्त्सीते पयसाभ्याववृत्स्वेत्यस्मान्त्सीते रसेनाभ्या-  
ववृत्स्वेत्येतत् \* ॥ १० ॥

अथोत्तरार्द्धेन प्राचीम् । लाङ्गलं पवीरवदिति  
लाङ्गलं रयिमदित्येतत् सुशेवः सोमं पितृस्वित्-  
त्यन्नं वै सोमस्तदुद् वपति गा मविं प्रफुर्व्यं च  
पौवरीं प्रस्थावद्रथवाहन मित्येतद्वि सर्व्वं सौ-  
तोद्वपति ॥ ११ ॥

अथ पूर्व्वार्द्धेन दक्षिणाम् † । कामं कामदुघे  
धुत्त्व मित्राय व्वरुणाय च । इन्द्रायाश्विभ्यां  
पूषो प्रजाभ्य ओषधीभ्य इति सर्व्वदेवत्या वै  
कृषिरेताभ्यो देवताभ्यः सर्व्वान् कामान्मुक्ष्वेत्ये-  
तदित्यग्रे कृषत्यथेति अथेत्येति तद्वक्षिणावृत्तद्वि  
देवता ‡ ॥ १२ ॥

\* 'व्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'दक्षिणाम्'—इति ग, घ ।

‡ 'देवता'—इति ग, घ ।

चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्यच्चतसृषु  
दिक्षुन्नं\* तदस्मिन्नेतदधाति तद्वै यजुषाद्वा वै तद्य-  
द्यजुरङ्घो तद्यदिमा दिशः\* ॥ १३ ॥

अथात्मानं विवृणोति । तद्यदेव संवत्सरेऽन्नं  
तदस्मिन्नेतदधाति तूष्णीं मनिरुक्तं वै तद्यत् तूष्णीं  
सुर्वं वा ऽअनिरुक्तं सुर्वेणैवास्मिन्नेतदन्नं दधा-  
तौत्यथे कृषत्यथेति अथेत्यथेति तद्विनिष्ठावृत्तद्वि  
देवत्वा ॥ १४ ॥

तिस्रस्तिस्रः सीताः कृषति । त्रिहृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं द-  
धाति ॥ १५ ॥

द्वादश सीतास्तूष्णीं कृषति । द्वादश मासाः  
संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मावा  
तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ १६ ॥

ता उभय्यः षोडश सम्पद्यन्ते । षोडशकलः  
प्रजापतिः\* प्रजापतिरग्निरात्मसम्मित मेवास्मिन्ने-  
तदन्नं दधाति यदु वां ऽआत्मसम्मित मन्नं तद-

\* 'दिशः'—इति ग, घ ।

वति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो  
न तदवति ॥ १७ ॥

यद्देवैनं विकृषति । एतद्वा ऽस्मिन् देवाः  
संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् प्राणानदधुस्तथैवास्मिन्नय-  
मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात् प्राणान् दधाति लेखा  
भवन्ति लेखामु ह्रीमे प्राणाः \* ॥ १८ ॥

चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्य ऽङ्गमे  
शीर्षंश्चत्वारो निरुक्ताः प्राणास्तानस्मिन्नेतद्वधाति  
तद्वै यजुषाद्वा वै तद्यद्यजुरङ्गो तद्यदिमे शीर्षन्  
प्राणाः † ॥ १९ ॥

यद्देवात्मानं विकृषति । यऽएवेमेऽन्तरात्मन्  
प्राणास्तानस्मिन्नेतद्वधाति तूष्णीं को हि तद् वेद  
यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः ‡ ॥ २० ॥

अथैनान् विमुञ्चति । आप्त्वा तं कामं यस्मै  
कामाथैनान्युङ्क्ते विमुच्यध्व मघ्ना इत्यघ्ना हैते  
देवत्रा देवयाना इति देवेषु ह्येभिः कर्म करो-  
त्यगन्म तमसस्पार मस्येत्यशनाद्या वै तमोऽगन्मास्या

ऽअशनायायै पार मित्येतज्जोतिरापामेति ज्योति-  
 ह्याप्नोति यो देवान्यो यज्ञ मयैनानुदीचः प्राचः  
 प्रसृजति तस्योक्तो बभ्रुस्तानध्वर्यवे ददाति स  
 हि तैः करोति तांस्तु दक्षिणानां कालेऽनु-  
 दिशेत् ॥ २१ ॥ ४ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२. २.] ॥

अथ शालाहार्योपस्थान मभिधाय प्रायणीयेष्टिं विधत्ते—“अथ  
 प्रायणीय मिति । शालाहार्योपस्थानानन्तर्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः ।  
 ‘प्रायणीयम्’ प्राकृतं ज्योतिष्टोमिकम् अदित्यै चरं निर्वपति \* ।  
 अग्रे सौरयोजनं विधातुं प्रायणीयेष्टेः कांश्चित् पदार्थाननुवदति—  
 “तस्य हविष्कृतेत्यादिना । ‘तस्य’ प्रायणीयस्य ‘हविष्कृता’  
 हविष्कृच्छब्देन सह हविष्कृदाह्वानकाले वाग्विसर्गं कुर्यात् ।  
 हविरावापानन्तरं वा हविष्कृदाह्वानकाले वा वाग्विसर्गो विक-  
 ल्पितः, तत्र नियमार्थोऽयं मनुवादः । ‘स्तम्बयज्ञुः’-इति  
 पुरीषहरणकर्मणो नामधेयम् † । यद्वा, स्तम्बस्य यजुषा “पृथिवि  
 देवयजनीत्यादिना पुरीषं लक्ष्यते, तत् पुरीषं हरति । तदनु  
 ‘पूर्वेण परिग्रहेण’ वेदिं ‘परिगृह्य’, ततो ‘लिखित्वा’ स्म्येन  
 प्राचीस्तिस्त्रो लेखाः कृत्वा आग्नीध्रं प्रत्यध्वर्युः ‘आह’ ब्रूते । कि

\* ऐ० ब्रा० १ प्र० २ अ० १ ख० द्रष्टव्यम् । आश्व० श्रौ० सू०

४. २. १८; ३. १. । आ० श्रौ० सू० ७. ५. १३ ।

† १ का० २ प्र० २ ब्रा० १८-२१ क० इत्येवमादौ द्रष्टव्यम् ।

मत्पेक्षाया माह—“हर त्रिरिति । हे आग्नीध्र ! त्वं कृता  
लेखाः त्रिवारं हरेति प्रैषार्थः । प्रेषितेनाग्नीध्रेण कर्त्तव्यं माह—  
“हरति त्रिरिति ॥ १ ॥

विहितस्य प्रायणीयहविषः प्रचारं विधत्ते— “प्रत्ये-  
त्येति \* । ‘प्रत्येत्य’ महावेदेः प्रत्यागत्य ‘प्रायणीयेन’ हविषा  
प्रचरेत् । प्रत्येत्येतिवचनादेव पूर्वं मुक्तं स्तम्बयजुर्हरणादिकं  
महावेद्या मेव कर्त्तव्यम्, न तु प्रायणोयवेद्या मिति प्रती-  
यते । प्रायणीयान्ते श्रुत्यन्ते प्राक्सीमनिवपनात् सीरयोजनं  
विधत्ते— “प्रायणीयेन प्रचर्य सीरं युनक्त्येति † । ‘प्रायणीयेन’  
प्रायणीयशेषेण प्रचारं कृत्वा, ‘सीरं’ हलं ‘युनक्ति’ युञ्ज्यात् ।  
विहिते सीरयोजने प्रजापतिः सीरलक्षणेनान्नेन समर्द्धनहारो  
देवकर्त्तृकं संस्कारं प्रतिपादयति— “एतद्वा एन मिति । ‘एतत्’  
एतर्हि एतस्मिन्नवसरे खलु ‘एनं’ पितरं प्रजापतिं विश्वस्ता-  
वयवं चयनेन संस्कारिष्यन्तो ‘देवाः’ पुरस्तात् ततः प्रागेव सीर-  
लक्षणेनान्नेन समृद्धं मकुर्वन् । एव मेव अयं यजमानोऽपि  
‘एनं’ प्रजापतिं चित्वाग्निरूपेण संस्कारिष्यन् ततः प्रागेव  
सीरलक्षणेनान्नेन समर्द्धयति । नामनिर्वचनेन तस्यान्नरूपता  
माविष्करोति— “सीरं भवतीत्यादिना । इरया अन्नेन सह  
वर्त्तत इति सेरम्, एतदेव पारोक्ष्येण सीर मित्युच्यते । अतः  
कर्षणसाधनत्वेन सीरस्य विधानात् । ‘इराम्’ अन्नम् एव  
‘अस्मिन्’ संस्क्रियमाणे चित्वाग्निरूपे प्रजापतौ ‘एतत्’ एतर्हि  
‘दधाति’ स्थापयति ॥ २ ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ७ ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. ८ क ।



सीरोपादानभूतं वृक्षविशेषं विधाय स्तौति— “ओदुम्बरं  
भवतीति \* । उदुम्बरस्य विकार ओदुम्बरः । “जर्ज्वं रस  
उदुम्बरं” इति । ‘जर्ज्’ बलकर मन्त्रम्, तदात्मको रस  
एव उदुम्बरवृक्षात्मना परिणतः । अत एव श्रूयते— “देवा  
वा जर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति † । “जर्ज्वैव  
मित्यादि । जर्ज्वृषेण रसेनेत्यर्थः । सीरयोजनार्थानां रज्जूनां  
प्रकृतिद्रव्यं विवक्षते— “मौञ्ज मिति ‡ । ‘परिसीर्यं’ परितः  
सीरस्य योजनायोपयुज्यमानं दाम ‘मौञ्जम्’ मुञ्जदणैर्निर्मितं  
‘त्रिष्टत्’ त्रिगुणञ्च कर्तव्यम् । “तस्योक्तो बभ्रुरिति । ‘तस्य’  
मौञ्जस्य च त्रिष्टत्स्य च स्तावकं “सैषा योनिरग्नेर्यन्मुञ्जः”—  
इत्यादिकम् §, “त्रिष्टदग्निर्यावानग्निः”—इत्यादि ॥ च वाक्यं  
प्रागान्नातम्, अत्रानुसन्धेय मित्यर्थः ॥ ३ ॥

युज्यमानस्य सीरस्य स्थानविशेषविशिष्ट मभिमन्त्रणं विवक्षते—  
“सोऽग्नेरिति ¶ । चेष्ट्यमाणस्याग्नेर्यावान् भृभागः शीत्स्वेन मानेन  
चतुरश्रीकृतः, तस्य ‘दक्षिणां श्रोणिं जघनेन’ दक्षिणापरकोणस्य  
पश्चात् \*\* ‘तिष्ठन्’, ‘उत्तरांसस्य’ अग्निक्षेत्रसम्बन्धिन उत्तरपूर्वको-  
णस्य ‘पुरस्तात्’ ‘युज्यमानं’ सीरं युगबलीवर्हादिभिः सह रज्ज्वा

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ८ ख ।

† पुरस्तत् ३ का० १ प्र० ५ ब्रा० ३३ क० सा० भा० (ते सं०) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. ६ ।

§ अत० ब्रा० ६ का० ३ अ० १ ब्रा० २६ क० ।

॥ अत० ब्रा० ६ का० ३ अ० १ ब्रा० २५ क० ।

¶ का० श्रौ० सू० १७. २. ११. ।

\*\* ‘दक्षिणापरकोणस्य पश्चात्’—इति क ।

बध्यमानं “सीरा युञ्जन्ति”—इतिमन्त्रद्वयेन \* ‘अभिमन्त्रयते’ ।  
अभिमन्त्रणं नाम मन्त्रेण स्मर्यमाणस्यार्थस्वेक्षणपूर्वकं, मनुसन्धानम् । उक्तं हि—

“मन्त्र मुञ्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत् ।

सेक्षणं तस्मिन्ना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम् ॥

एतदेवाभिमन्त्रणलक्षणश्चेक्षणवधि”—इति ।

अत्र च सीरयोजनस्य तदभिमन्त्रणस्य च भिन्नदेशकर्तव्यतया †  
योगपद्याय कर्तृभेदोऽवसीयते । तत्राभिमन्त्रणस्य संस्कार्यतया  
प्रधानत्वात् सीरयोजन मध्युः कुर्यात्, तत्संस्कारात्मक  
मभिमन्त्रणन्तु द्वितीयः ‡ प्रतिप्रस्थाता कुर्यात् । उक्तं हि  
सूत्रभाष्यकृता कर्कोपाध्यायेन— “प्रतिप्रस्थाताभिमन्त्रयते  
सीरा युञ्जन्तीत्यनेन मन्त्रेण, योजने तु प्रधानत्वादध्यु-  
रिति § ॥

तत्र “सीरा युञ्जन्तीति गायत्री प्रथमो मन्त्रः॥, तस्याः पूर्वार्धं  
मनूय व्याचष्टे— “सीरा युञ्जन्तीति । “ये विद्वांसस्ते कवयः  
इति । मन्त्रगतेन कविशब्देन सीरयोजनप्रकारं सम्पक् जानाना-  
स्तदभिज्ञा विवक्षिता इत्यर्थः । “सीरश्चेति । “सुपां सुलुगिति ¶  
मन्त्रे सीरशब्दात् परस्य अतः आकारः । “युगानि चेति । “शेम्भ-

\* वा० सं० १२. ६७, ६८ ।

† ‘भिन्नदेशकर्मकर्तव्यतया’—इति ॥

‡ ‘तद्वितीयः’—इति ज ।

§ का० श्रौ० १७. २. ११ सू० ४० ।

॥ वा० सं० १२. ६७ ।

¶ पा० सू० ७. १. ३६ ।

नृत्ति बहुल मिति \* युगशब्दात् परस्य शीर्षे लोप इत्यर्थः ।  
उत्तरार्धे, मनुय आचष्टे—“धीरा देवेभ्यः । सुक्लशब्दात् परस्य  
द्वितीयेकवचनस्य याजादेशः † । सुखहेतुत्वात् यज्ञः खलु सुक्ल-  
शब्दाभिधेयः ‡ । “वितन्वत इति । प्रकृतस्य कर्मणोऽनुषङ्ग  
माह—“तन्वाना इत्येतदिति ॥

तदयं मन्त्रार्थः,—‘कवयः’ तदभिज्ञाः क्षीरं च  
‘युञ्जन्ति’ कर्मणो योग्यं बध्नन्ति षट्त्वादशादिसङ्ख्याना मन-  
जुह्वं योजनाय ‘पृथक्’ भेदेन ‘युगानि च’ ‘वितन्वते’ विस्तार-  
यन्ति । किं कुर्वन्तः ? ‘देवेषु’ ‘सुक्लम्’ अग्निचयनलक्षणं यज्ञं  
‘तन्वानाः’ विस्तारयन्त इति । अत एव ‘धीराः’ तदुपायभूतया  
धिया युक्ताः ‘इति’ ॥ ४ ॥

“युनक्तेति त्रिष्टुप् । तद्वितीयोऽभिमन्त्रणमन्त्रः § । पुरा  
परोक्षवदुक्तोऽत एवास्य मन्त्रस्य पादेन प्रत्यक्षवदुच्यते । हे  
यजमानपुरुषाः ! ‘क्षीरा’ पूर्ववदाकारः ॥ , क्षीरं ‘युनक्त’ बध्नीत ।  
युजेः ॥ लोटि मध्यमपुरुषे बहुवचनस्य “तप्तनप्तनयनाश्च”—इति \*\*  
तदादेशः । अत एव असोऽक्तोपाभावः । ‘युगा’ पूर्ववच्छे-  
क्षीपः ††, ‘युगानि’ च ‘वितनुहुं’ विस्तारयतेति । प्रत्यक्षवदुक्तार्थं

\* पा० सू० ६. १. ७० ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ ‘सुक्लशब्दाभिधेयः’—इति ज ।

§ वा० सं० १२. ६८ ।

॥ एतत्पूर्वस्थां कण्ठां (१०७ पृ० १८ पं०) द्रष्टव्यम् ।

¶ रुघा० उभ० ६ धा० ।

\*\* पा० सू० ७. १. ४५ ।

†† पूर्वस्थां कण्ठां (१ पं०) द्रष्टव्यम् ।

श्रुतिः स्वयं परोक्षवद् व्याचष्टे— “युञ्जन्ति हीति । सीरं युञ्जन्ति, युगानि च वितन्वते, कवय इति शेषः । , ,

द्वितीयपाद मनुद्य व्याचष्टे— “बीजाय वा इति । बीजवपनाय सीतारूपा योनिर्विधीयते । विपक्षे दोष सुज्ञावयति— “यथा ह वा इति । ‘अकष्टे’ अलिखिते ‘यत्’ यदि ‘वपति’, तर्हि ‘अयोनी’ गर्भाशयादन्यत्र यथा रेतःसेकस्तथा व्यर्थो भवेदित्यर्थः ।

तृतीयपाद मनुद्य तत्त्वयोगीःश्रुतिशब्दयोः क्रमेण वागन्तार्यता माह— “वाग्वै गौरक्ष” श्रुतिरिति ।

चतुर्थपाद मनुद्य तत्तात्पर्य माह— “यदा वा इति । ‘यदा’ खलु समये ‘अन्नं’ ब्रीहियवादि स्वयं पक्वं भवति । ‘अथ’ तदानीं ‘सृष्ट्या’ दात्रेण ‘उपचरन्ति’ लुनन्तीत्यर्थः ॥

मन्तार्यस्तु,— हे यजमानपुरुषाः ! ‘सीरा’ सीरं हलं ‘युनक्त’ योजयत, ‘युगा’ युगानि ‘वितनुङ्’ विशेषेण योक्तप्रभृतिभिर्विस्तारयत । ‘इह’ क्षेत्रे ‘योनी’ स्थाने ‘कते’ संस्कृते सति ‘बीजं’ ब्रीह्यादि ‘वपत’ निक्षिपतेत्यर्थः । केन साधनेनेत्यपेक्षाया माह— “गिरा चेति । ‘गिरा’ वाचा “या ओषधीरित्यादिवक्ष्यमाणमन्तरूपया \* च-शब्दाच्चमसेनापि, वपतेति सम्बन्धः । ‘श्रुतिः’ ब्रीह्यादिकाक्षजातिः, ‘सभराः’ फलकृतेन भरसा भरणेन सह वर्तत इति सभराः, अमितफलेति यावत् । तादृशी, ‘न’ अस्माकं यथा ‘असत्’ भवेत् । इच्छद्भ्योऽनर्थकः † । ‘सृष्ट्यः’ अङ्गुशाकारस्य लघनसाधनस्य दात्रस्य ‘नेदीयः’ अन्तिकतमं ‘पक्वं’ ब्रीह्याद्यन्नं यथा ‘आ इयात्’

\* वा० सं० १२. ७५ ।. का० श्रौः सू० १७. ३. ८ । इहोपरि  
छातु २ अ० ४ ब्रा० ६ क० द्रष्टव्यम् । † निह० १. ३. ५ ।

अगच्छेत्, तथा वपतेति सम्बन्धः । “अणिरङ्गुशो भवति, सरणात्”-इति \* हि यास्कः ॥

तच्च युज्यमानाभिमन्त्रणं हाभ्यां गायत्रीत्रिष्टुब्भ्यां कुर्यादित्याह— “हाभ्या मिति । तस्य द्विसङ्ख्यायोगस्वार्थवादो “हाभ्यां प्रवृणक्ति द्विपाद्यजमान इत्यादिना षष्ठकाण्डे † प्रागाज्जात इत्याह— “तस्योक्त इति ॥ ५ ॥

विहिते सौरयोजने दक्षिणसव्ययोर्धूर्ययोः पौर्वापर्यं विधत्ते— “स दक्षिण मेवाग्र इति ‡ । ‘सः’ अध्वर्युः दक्षिण मेव धुर्यं प्रथमं युञ्जात्, तदनु ‘सव्यं’ वामं धुर्यं मित्यर्थः । ‘एवम्’ उक्तकरणम् ‘देवना’ देवेषु कृतं स्यात् ; मनुष्यव्यवहारे तु ‘इतरथा’ सव्यः पूर्वो दक्षिणः पश्चादिति भेदः ॥

सौरयोजने अनडुहं वैकल्पिकं सङ्ख्यात्रितयं विधत्ते— “षड्गव मित्यादिना । षड् गावः समाहृताः षड्गवम् । “तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च”-इति § समाहारे तत्पुरुषैकदेशो द्विगुः । ततो “गोरतद्वितलुकि”-इति ॥ समासान्तः । तथा ‘इ-दशगवम्’, ‘चतुर्विंशतिगव’ चेति पक्षौ । तत्रापि पक्षद्वये तथैव समासः, समासान्तश्च । “षट्, द्वादश, चतुर्विंशतिं वा पूर्वेषोत्तरांसम्”-इति ¶ हि सूत्रम् । सङ्ख्यात्रितयेऽप्युपपत्ति माह—“संव-

\* निरु० ५. ४. १० ।

† द. का० ४ प्र० ४ ब्रा० ७ क० ।

‡ का० औ० सू० १७. २. १३ ।

§ पा० सू० २. १. ५१ ।

॥ पा० सू० ५. ४. ६२ ।

¶ का० औ० सू० १७. २. १० ।

क्षर मेवेति । सम्पद्यत इति सम्पत् । षडृतु-द्वादशमास-चतुर्विंश-  
त्यर्द्धमाससम्यत्यात्मको यस्तं तादृशं संवत्सर मभिलक्ष्य त्रयो-  
ऽप्येते पक्षा उपपन्ना इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ चित्याग्निक्षेत्रमध्ये विकर्षणं विधत्ते— “अथैन मिति \* ।  
‘एनम्’ आत्मानम् । तदेव कर्षणं मन्त्रात्मना स्तौति— “अन्नं  
वा इति । ‘अन्नं’ खलु ‘क्षपिः’ ; तद्वेतुत्वात् । कृष्टे एव हि  
सम्यगन्नं पच्यते । कर्षणं मेव तद्देवकर्तृकान्नाधानतया स्तौति—  
“एतद्वा इति । ‘पुरस्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘देवाः’ संस्कारं  
करिष्यन्तः ‘अस्मिन्’ आत्मनि ‘एतत्’ एतेन कर्षणेन ‘अन्नम्’ एव  
स्थापितवन्तः , तथैवायं यजमानोऽपीति ॥ ७ ॥

अथ पक्षपुच्छानि विहायात्मन्येव कर्षणं विधत्ते— “स वा आ-  
त्मान मिति † । “आत्मंस्तदिति । ‘तत्’ तेन विकर्षणेन ‘आत्मन्’  
आत्मनि ‘अन्नम्’ एव स्थापितवान् भवति । अथात्मन्यन्नाधानं  
स्तौति— “यदु वा इति । ‘आत्मन्’ आत्मनि यदेव ‘अन्नं’ ‘धीयते’  
स्थाप्यते , ‘तत्’ एवान्नं पक्षपुच्छसहितम् ‘आत्मानं’ रक्षति ।  
पक्षपुच्छेष्वन्नाधानं त्वकिञ्चित्कर मित्याह— “अथ यदि-  
त्यादिना ॥ ८ ॥

अथ परिश्रितां समीपे आत्मनो दक्षिणभागेऽन्तरतः प्रागायतां  
सीतां विधत्ते— “स दक्षिणाह्नेनेति ‡ । ‘परिश्रितोऽन्तरेण’ तत्-  
संलग्नं मेव चित्याग्नेः आत्मनो ‘दक्षिणाह्नेन’ दक्षिणपार्श्वे  
प्रागपवर्गा ‘प्रथमां’ ‘सीतां’ लाङ्गलपद्धतिं कृषेत् । “अन्तरान्तरेण

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १२ क ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १२ ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. १३ ।

शुक्ते”-इति \* परिशिच्छेद्दे द्वितीया । तत्र पूर्वार्द्धोपादानेन मन्त्रं विधाय तत्रत्यशुनशब्दस्य समृद्ध्यर्थवाचकतया प्रथमसोतायाः समर्द्धेन माह— “शुनं सुफाला इत्यादिना † ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः, — शुन मिति सुखनाम ‡ । तच्च क्रिया-विशेषणम् । सुशोभनाः फाला लाङ्गलाग्रस्थिताः कुशीमेदाः § ‘शुनं’ सुखं यथा स्यात् तथा ‘भूमिं’ विकृषन्तु विलिखन्तु । ‘फाला’-इति “जि फला विशरणे”-इति धातुः॥ फालयन्ति भूमिं विदारयन्ति ते फालाः । ‘कीनाशः’ कर्षकाः ‘वाहैः’ अनडुद्भिः सहिताः ‘शुनं’ सुखम् ‘अभियन्तु’ अभिगच्छन्तु । “कीनाशस्तु कदर्ये स्याद्राक्षसे कर्षुके यमे”-इत्यनेकार्थतिलकः ¶ । ‘शुनासौरा’ द्विवचनस्य “सुपां सुलुगिति डादेशः \*\*, वायादित्यावित्यर्थः । तौ ‘हविषा’ उदकेन ‘तोशमाना’ भूमिं निघ्नन्तौ । तोशतिर्वध-कर्मा ††† । ‘अस्मे’ अस्मभ्यम् ‘ओषधीः’ ब्रीत्यादिकान्यन्नानि ‘सुपिप्यलाः’ शोभनफलोपेताः ‘कर्त्तनं’ कुरुतम् । “शुनो वायुः, शु एत्यन्तरिक्षे ; सौर आदित्यः, सरणात्”-इति ‡‡ हि यास्कः ।

\* पा० सू० २. ३. ४ ।

† वा० सं० १२. ६६-७२ ।

‡ निघ० ३. ६. ११

§ ‘लोहविशेषाः’-इति मञ्जीधरः ।

॥ भा० प० ५१३ धा० ।

¶ “‘कीनाशः कर्षकैश्चुत्रे कृतान्तोपांशुधातिनोर्नोः’-इति कोशः”-इति मञ्जीधरः ।

\*\* पा० सू० ७. १. ३६ ।

†† निघ० २. १६. २६ । तोशते जैरुक्तो धातुः ।

†† निघ० ६. ४. ६ ।

हविःशब्दः उदकनामसु “कम्, अक्षं, हविः”—इति पठितः \* ।  
 “कर्त्तुर्नेति, “तप्तनप्तनयनाश्च”—इति † तनप् । द्वित्वे ब्रह्मवचनं  
 छान्दसम् ॥ ८ ॥

ततो दक्षिणश्रोणेरारभ्योदगपवर्गा पश्चिमपार्श्वे द्वितीयां सीतां  
 विधत्ते—“अथ जघनार्द्धेनेति ‡ । तत्र मन्त्रं विधत्ते—“ष्टते-  
 नेति § । तत्र तु प्रथमपादे निगदव्याख्यात इत्याह—“यथैव यजु-  
 रिति । द्वितीयपादेऽनुमतेतिशब्दस्य विश्वदेवानां मरुताश्च वृष्टेरी-  
 शिष्वं प्रयोजक मिति व्याचष्टे—“विश्वे च वै देवा इति । ‘वर्षस्व’  
 वृष्टेः ‘ईशते’ प्रयोजका भवन्ति । “अधोगर्थंति कर्मणि षष्ठी ॥ ।  
 तृतीयपादे पयःशब्दस्य रसोऽर्थ इति व्याचष्टे—“रसो वै पय  
 इति । तत्रैव ‘पिन्वमाना’-‘इति’ पद मध्याह्नत्यान्नपदेनान्वेतीति  
 व्याचष्टे—“अन्नेन पिन्वमानेत्येतदिति । चतुर्थेऽपि पयःशब्दो  
 रसवचन एव ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः,— सीता पश्चिमत उदोचो क्रियमाणा  
 लाङ्गलपद्धतिः ‘मधुना ष्टतेन’ मधुरेणोदकेन ‘समज्यतां’ संसि-  
 ष्यताम् । “ष्टत मित्युदकनाम, जिवत्तः सिञ्चतिकर्मणः”-इति ण  
 हि यास्कः । ‘विश्वेदेवैः’ वृष्टेरोशानैः ‘मरुद्भिश्च’ गणदेवैः ‘अनुमता’  
 अभ्यनुज्ञाता, तथा ‘पयसा’ ‘रसेन’ जर्जस्वती’ बलकररसोपेता,

\* निघ० १. १२. ६५ ।

† पा० छ० ७. १. ४५ ।

‡ का० अ० छ० १७. २. १४ ।

§ वा० खं० १२. ७० ।

॥ पा० छ० २. ३. ५२ ।

† निघ० ७. ७. १ ।



तथा 'पिब्यमाना' खेचनं कुर्वती, अग्नेनेति शेषः । तथा  
श्रुतिरेव व्याचष्टे — "अग्नेन पिब्यमानेत्येतदिति । एवं सुते हे  
सीति ! त्वम् 'अस्मान्' 'अभ्यावृत्स्व' अतिशयेनाभिसुख मावृत्ता  
भवेत्यर्थः ॥ १० ॥

अथोत्तरपार्श्वे प्रागपवर्गां द्वितीयां सीतां विधत्ते — "अथो-  
त्तरार्हेनेति \* । "प्रकृत्या साधुः" — इतिवत् द्वितीया सप्तम्यर्थे † ।  
तत्र मन्त्रं विधत्ते — "लाङ्गल मिति ‡ । तत्र प्रथमपादे भूमेः  
खननेन श्रीरूपावनिष्पादनद्वारा फालस्य साधनत्वात् लक्षणया  
पवीरवद्भूमिदिति व्याचष्टे — "लाङ्गलं रयिमदिति । द्वितीये  
पादे 'सोमपिब्य' — इतिपदेकदेशभूतस्य सोमशब्दस्यात्र मर्थ  
इत्याह — "अन्नं वै सोम इति । उत्तरार्धपरिष्ठितस्य पदार्थ-  
जातस्य सीतैवोद्भूतमयित्रीत्याह — "एतद्वि सर्वं सीतोद्भपतीति ।  
'उद्भपति' उद्भमयतीत्यर्थः ॥

मन्त्रार्थस्तु, — 'लाङ्गलं' हलं 'पवीरवत्' पविः धारा, सा  
अस्यास्तीति पवीरं फालः । रो मत्वर्थे, दीर्घन्तु छान्दसम् ;  
तत् पवीर मस्य लाङ्गलस्यास्तीति पवीरवत्, फालसंयुक्त  
मित्यर्थः । शिव मिति सुखनाम § । सुहु शोभनं शिवयति  
सुखम्, तत् 'सुशिवम्' । सोमं पिबतीति 'सोमपाः' यजमानः,  
तस्मिन् 'सोमपि' यजमाने 'क्षरति' पापादिकं नाशयतीति  
'सोमपिब्य' । यद्वा, सोम मन्त्रं पाति रक्षति स सोमपाः,

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १५ ।

† पा० २. २. १८ सू० १ वा० ।

‡ वा० सं० १२. ७१ ।

§ निघ० २. ६. १७ ।

तस्मिन् वर्तमानम् अशनाया दुःखं त्सरति नाशयतीति  
 तथा ; अतएवभिमत मेतद् व्याख्यानम् । सोमपीत्यत्र सप्तम्या  
 अलुक् छान्दसः \* । यदित्यभूतं लाङ्गलम्, 'तत्' कर्तुं गवादि-  
 रथवाहनान्तम् 'उद्वपति' उद्वमयति । 'गां' गोजातिम् । 'अवि'  
 मेवजातिम् । 'प्रफर्यं' प्रथमयुवतिं तरुणी मित्यर्थः । पर्वतिर्गति-  
 कर्मा । प्रकर्षेण फर्या गम्या, ताम् ; छान्दसो ऋक् । कीदृ-  
 शीं ताम् ? 'पीवरी' उन्नतस्तनकपोलाम्, 'प्रस्था' प्रस्थानम्  
 तद्वत् उत्कृष्टजवोपेतम्, 'रथवाहनम्' अश्वम्, रथं वहतीति  
 या तम् ॥ ११ ॥

अथ पूर्वपार्श्वे दक्षिणापवर्गा चतुर्थीं सीतां विधत्ते—  
 "अथ पूर्वार्धेनेति † । तत्र मन्त्रः— "कामं कामदुवे इति ‡ ।  
 मन्त्रस्याय मर्थः,— हे 'कामदुवे' कामानां प्रपूरणे ! हे सीते !  
 'मित्राय वरुणाय च' तथा 'इन्द्राय', 'अग्निभ्यां' युग्मदेवाभ्यां  
 'पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यश्च' 'कामं' काम्यमानं फलं 'धुक्त्व'  
 प्रपूरय । 'इति'-शब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतकः । कवेः सर्व-  
 देवतासम्बन्धद्वारा मन्त्रोक्तदेवताभ्यः कामप्रपूरणं साशस्य  
 मिति मन्त्रतात्पर्यं माह— "सर्वदेवत्या वै कविरिति । इत्थं  
 दक्षिणादिचतसृषु दिक्षु प्रादक्षिण्येन कृतं कर्षणं मभिनयेन

\* 'हलदन्तात् सप्तम्याः ( पा० सू० ६. ३. ६. )'—इति विभक्ते-  
 रलुक् ; 'आतो धातोः ( पा० सू० ६. ३. १३०० )'—इति आ-लोपे हलन्त-  
 त्वात् । यद्वा, 'सोमः पीयतेऽनेनेति सोमपिचमसः, तस्य त्वर  
 निष्पादकम् ; न हि लाङ्गलकर्म विना सोमचमसाः स्युः"—इति  
 महीधरः । † का० औ० क० १७. १. १६ ।

‡ वा० सं० १२. ७२ ।

निर्दिश्य स्वीति— “इत्यथ इति । ‘अथे’ प्रथमम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “स दक्षिणाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन \* दक्षिणतः प्राचीं सीतां कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथ जघनाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन † पश्चिमतः उदोचीं कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथोत्तराह्नेनेत्युक्तलक्षणेन ‡ उत्तरतः प्राचीं कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथ पूर्वाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन § पूर्वस्यां दिश्युदग्दक्षिणायतां सीतां कषति । ‘तत्’ एवं सति ‘दक्षिणावृत्’ प्रादक्षिण्येनावृत्तिर्भवति । ‘तत्’ खलु ‘देवता’ देवसम्बन्धिनि कर्मणि योग्यम् । तदुक्तमापस्तम्बेन — “यज्ञोपवीती प्रदक्षिणं देवानि कर्माणि करोति” — इति ॥ १२ ॥

उक्तं कर्षणं समन्वक मनूय स्वीति— “चतस्र इति । “स दक्षिणाह्नेनेत्यादिना चतसृषु दिक्षु क्रमेण प्रोक्ताः चतस्रः सीताः “शुनं” सुफाला विक्रषन्तु भूमि मित्यादिना ¶ ‘यजुषा’ यजुर्वेदपठितमन्त्रेणत्यर्थः । “चतसृषु दिक्ष्वित्यादि । प्रागादिषु दिक्षु ‘यत्’ प्रसिद्धं कष्टपथं ब्रह्मियवादिकम् ‘अन्नम्’ अस्ति, ‘तत्’ ‘अस्मिन्’ अग्नी यजमाने वा ‘एतत्’ एतेन कर्षणेन ‘दधाति’ स्थापयति ॥

\* इहेव श्रुता नवमी कण्ठी द्रष्टव्या ( १०० पृ० ६ पं० ) ।

† इहेव श्रुता दशमी कण्ठी द्रष्टव्या ( १०० पृ० १४ पं० ) ।

‡ इहेव श्रुता एकादशी कण्ठी द्रष्टव्या ( १०१ पृ० ५ पं० ) ।

§ इहेव श्रुतेर्यद्वादशी कण्ठी द्रष्टव्या ( १०१ पृ० १० पं० ) ।

॥ व्याप० का० श्रौ० सू० २४. २. १५ ।

¶ पा० सं १२. ६६—७२ ।

यजुर्मन्त्रेण कर्षणं प्रकारान्तरेण स्तौति— “तद्वा इति ।  
 ‘तत्’ खलु कर्षणं ‘यजुषा’ क्रियते, यजुरिति यदस्ति, ‘तत्  
 अद्वा वै’ अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वात् प्रत्यक्षतो विस्पष्टम्, ‘इमाः’  
 प्रागाद्याः ‘दिशः’ च प्रत्यक्षत्वाद् विस्पष्टतराः ; अतो यजुषो  
 दिशाश्चाद्यात्वसाम्याद् दिक्षु यजुषा कर्षणं युक्ततर मिति  
 भावः ॥ १३ ॥

अमन्त्रकं द्वादशसङ्ख्याकानां सीतानां कर्षणं विधाय  
 स्तौति— “अथाभान मित्यादिना । “यदेव संवत्सर इति ।  
 सीतानां संवत्सरसम्बन्धिनां मासानां ( च \* ) द्वादशसङ्ख्यासाम्यात्  
 क्तत्वे संवत्सरे यदेव ब्रौह्मिवादिक् मन्त्रं पच्यते, ‘तत्’  
 सर्वम् ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘एतत्’ एतेन द्वादशसीताकर्षणेन दधाति  
 स्थापयतीत्यर्थः ॥

अमन्त्रकत्वं मनूय स्तौति— “तूष्णी मिति । ‘तूष्णीम्’  
 अमन्त्रं कृषेत् । तूष्णी मिति यदस्ति, तत् ‘अनिरुक्तं वै’ मन्त्र-  
 वाक्येन कस्यचिदर्थस्य निष्कृथानभिधानात् । अत एव तद-  
 निरुक्तं सर्वात्मकम्, अतः ‘सर्वेणैव’ साधनेन ‘अस्मिन्’ अग्नौ  
 ‘अन्नं’ स्थापितं भवतीत्यर्थः ॥

पूर्ववदन्नाप्यभिनयेन कर्षणप्रकारं निर्दिश्य स्तौति— “इत्यथ  
 इति । ‘इति’ अनेन प्रकारेण ‘अथे’ प्रथम मात्मनो दक्षिणार्धं  
 मारभ्य उत्तरार्धपर्यन्तं ‘कृषति’ कर्षणं कुर्यात् । ‘अथ’ अनन्तरम्,  
 ‘इति’ अनेन प्रकारेण दक्षिणीं श्रोणिं मारभ्य उत्तरांशपर्यन्तं  
 मन्त्रया विकृषेत् । ‘अथ अनन्तरम्’, ‘इति’ अनेन प्रकारेण

पश्चाद्भाग मारभ्य पूर्वार्धपर्यन्तं त्रिकषेत् । एतदन्तरम्, 'इति' अग्नेन प्रकारेणोत्तरां ओषि मारभ्य दक्षिणांसपर्यन्तं त्रिकषेत् इमं मेवार्थं मभिप्रेत्य सूत्रितम्—“तूष्णीं तिस्रस्तिस्रः प्रदक्षिणं तिर्यग्नूकेऽक्षण्या ओष्णंसयोरनूके ओष्णंसयोः”—इति \* । 'तत्' तथा उक्तप्रकारेण कर्षणे सति प्रदक्षिणावर्तनं सिध्यति । तच्च 'देवत्रा' देवेषु योग्यम् । “देवमनुष्येत्यादिना सप्तम्यर्थे चा-प्रत्ययः † ॥ १४ ॥

विहितानां ममस्त्रकाणां चतसृणां सीतानां प्रत्येकं त्रित्वं विधाय स्तौति—“तिस्रस्तिस्रइति । “त्रिवृदग्निरित्यादि । स्तोत्रियनवकात्मको हि त्रिवृत्स्तोमः ‡, अग्नेरपि रुद्रादिनामाष्टकाभिधेयेरष्टाभिरग्निरूपैः स्वात्मना च नवसङ्ख्योपेतत्वात् त्रिवृत्त्वम् । तथाहि—“त मत्रवोदुद्रोऽसोत्यारभ्य ताव्येतान्यष्टावग्निरूपाणि कुमारो नवमः, सैवान्नेस्त्रिवृत्तेति षष्ठे समाख्यातम् § । एष च 'यावान्' यत्परिमाणविशिष्टोऽग्निः, 'अस्य' अग्नेः 'यावतो' यत्परिमाणविशिष्टा 'मात्रा' अवयवः, 'तावता' तादृक्परिमाणविशिष्टेन कृत्स्नेन चाग्निरूपेण अस्मिन् 'चीयमानेऽग्नौ यजमाने वा 'एतत्' एतेन त्रिसङ्ख्यायुक्तेन कर्षणेन 'अन्नं' धारयति । एवं सर्वत्र त्रिवृदग्निरिति वाक्यशेषो व्याख्येयः ॥ १५ ॥ १६ ॥

अमन्त्रकसीतासङ्ख्यां सम्भूय प्रशंसति—“ता उभय इति ।

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १५-१६ ।

† पा० सू० ५. ४. ५६ ।

‡ सा० वे० ता० ब्रा० ३. १, २, ३ ।

§ § ६ का० १ अ० ३ ब्रा० ११-१८ क० ५. ६ भा० ४१-४३ पृ० ।

‘उभयः’ उभयविधाः, समन्त्रकामन्त्रकमिदेन द्विविधाः सम्भूय षोडशसङ्ख्याका भवन्ति । ‘षोडशकलः’ षोडशावयवसमुदायो हि स्थूलशरीराभिमानो विराडात्मकः ‘प्रजापतिरभिधीयते । तथाहि ;— तस्य ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, तथा कर्मेन्द्रियाणि, मन एकम्, पञ्चभिर्भूतैर्वा प्राणैर्वा सह षोडशकलाः । गत मन्यत् । “आत्मसम्मित मिति । आत्मना शरीरेण समानं मितम्, न तु न्यूनमधिकं वेत्त्यर्थः । आत्मसम्मितां तस्य दृष्टिहेतुता माह— “यदु वा इति । ‘यत् खलु आत्मसम्मितमत्रम्’, ‘तद् भोक्तृन् ‘अवति’ रक्षति । अत एतदन्नं सारम्यं सत् न हिनस्ति’ न बाधते । अधिकन्यूनयोस्तदपरोक्षं क्रमेणाह— “यज्ञ्य इति । ‘भूयः’ बहुलतरमात्मनोऽधिकम्, ‘कनोयः’ अल्पतरमात्मनोऽपर्याप्तमित्यर्थः ॥ १७ ॥

विकर्षणं प्रकारान्तरेण स्तोतुमनुवदति— “यद्देनैव मिति । पुरा खलु पितरं प्रजापतिं ‘संस्करिष्यन्तो देवाः’ ‘पुरस्तात्’ चयनलक्षणात् संस्कारात् पूर्वम् ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतत्’ एतेन विकर्षणेन ‘अदधुः’ अधारयन् । ‘तथैव’ ‘अयं’ यजमानोऽपि ‘संस्करिष्यन्’ ‘अस्मिन्’ चैथ्यमाणेऽग्निलक्षणे प्रजापतौ पूर्वं ‘प्राणान्’ स्थापयति । कथमेतदित्यत आह— “लेखा भवन्तीति । ‘हि’ यस्मात् लोके चक्षुरादिगोलकात्मिकासु ‘लेखासु’ रेखासु ‘इमे प्राणाः’ चक्षुरादीन्द्रियाणि वर्तन्ते ; अतस्तेषां मन्त्रं स्थापयमानानां सङ्घरणार्थं कर्षणेन रेखाकरणं युक्तमिति भावः ॥ १८ ॥

समन्त्रकं कर्षणमनूय सङ्ख्याद्वारा स्तौति— “चतस्र इति । ‘शीर्षन्’ शीर्षि शिरसि ‘ये इमे चत्वारो निरुक्ताः’

चक्षुः श्रोत्रं नासिकां मुखं मिति निःशेषेणोक्ताः प्रकाश-  
मानाः 'प्राणाः', 'तान्' 'अग्निन्' अग्नी एतेन सयजुष्केण सीता-  
चतुष्टयेन स्थापितवान् भवति । एतदेव विदुषोति— "तद्वै  
यजुरेति । "अद्वेत्वादि । प्रागुक्तार्थः \* ॥ १८ ॥

अमन्त्रकं कर्षणं मनूय स्तूति — "यद्देवात्मानं मिति ।  
'अन्तरात्मन्' आत्मनि देहे अन्तर्मध्ये 'य एवेमे' 'प्राणाः'  
प्राणवृत्तयः प्राणापानादिनक्षणाः, मनोबुद्ध्यादिरूपा अन्तः-  
करणवृत्तयश्च, 'तान्' 'अग्निन्' अग्नी 'एतत्' एतेनामन्त्रकाकर्षणेन  
'दधाति' स्थापयति । एतदेव विदुषोति— "तूष्णीं मिति ।  
'यावन्तः' यत्परिमाणविशिष्टाः 'इमे' अन्तरात्मन्व्यवस्थिताः  
'प्राणाः' इति, 'को नाम तद्देव' ? तेषां मानव्यात् ; किन्तु  
न कश्चिदपि वेत्तुं शक्नोति । तस्मादनिरुक्तानां तेषां सङ्ग्रहणाय  
तूष्णीं मात्मनो द्वादशसीताकर्षणं युक्तं मित्यर्थः ॥ २० ॥

कर्षणानन्तरं मनडुह्यां विमोचनं विधत्ते— "अथैना-  
निति † । "अन्नेत्यादि । 'यस्मै' खलु प्रयोजनाय 'एनान्'  
पूर्वं युक्तवान्, 'तं' कामं कर्षणलक्षणं प्रयोजनम् 'आम्ना' लब्ध्वा  
तेषां विमोचनं युक्तं मिति शेषः ॥

विमोचने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— "विमुच्यध्वं मिति ‡ ।  
"अम्ना"—इति गोनाम § । 'एते' खल्वनडुह्यो 'देवता' देवेषु  
'अम्नाः' अहन्तव्याः, देवसम्बन्धिनो गाव इत्यर्थः । "देव-

\* त्रयोदशकण्ठीयाख्यानं प्रष्टव्यम् ११७ पृ० ३५० )

† का० औ० सू० १७. २. २१ ।

‡ वा सं० १२. ७३ ।

§ निघ० २. ११. १ ।

भोभिरिति । 'एभिः' अनडुग्निः 'दैव' देवसम्बन्धि कर्षणलक्षणं  
'कर्म करोति' । तस्माद्देवान् याति प्राप्नोत्येभिरिति व्युत्पत्त्या  
'देवयानाः'—इत्यनडुद्दिशेषणं युक्त मिति भावः ॥

द्वितीयं पाद मनूय्य तत्रत्यतमःशब्दस्य विवक्षित मर्थं  
माह— “अगमेति । अशनस्येच्छा 'अशनाया' क्षुत्पीडा ।  
स्रष्ट मन्यत् । “ज्योतिर्हीत्यादि । यो हि हविःप्रदाह-  
त्येन यज्ञं , तत्रत्यान् देवांश्च प्राप्नोति , एष हि 'ज्योतिः'  
ज्योतिर्मयं स्वर्गादिभोगयोग्यं शरीरम् 'प्राप्नोति' । अत एव  
तैत्तिरीये समान्वायते— “सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्न-  
क्षत्राणि”—इति \* । अतोऽत्र मन्त्रे “ज्योतिरापाम”—इति ज्योति-  
राप्तिप्रतिपादनं युक्ततर मित्यर्थः ॥

उत्तरपूर्वस्थां दिशि तेषा मनडुहां प्रस्थापनं विधत्ते—  
“अथैनानुदीच इति † । 'अथ' विमोचनानन्तर मेव अनडुहः  
'उदीचः' उदङ्मुखान् 'प्राचः' प्राङ्मुखान् कृत्वा 'प्रसृजति'  
प्रस्थापयति । प्रागुदङ्गास्य स्तावकं प्रागान्नातं वाक्यशेष  
मतिदिशति— “तस्योक्त इति । “एषा होभयेषां देवमनु-  
ष्याणां दिग्यदुदीची-प्राचीत्यादि ‡ ॥

तेषां दक्षिणाकाले दानं विधत्ते— “तानध्वयव इति । अत  
एव सूत्रितम्— “दक्षिणाकालेऽध्वयवे ददाति”—इति § । अन्या-  
वृत्तिजो विहायाध्वर्योरिव सम्प्रदानत्वे कारण माह— “स

\* ते० सं० ५. ४. १. ७ ।

† का० औ० सू० ( १७. २. २२ कं ) १६. ३. १५ द्रष्टव्यम् ।

‡ पुरस्तात् ६ का० ४ प्र० ४ ब्रा० ३ का० द्रष्टव्या ।

§ का० औ० सू० १७. २. २२ ख ।



धोति । 'हि' यस्मात् 'सः' अध्वर्युः 'तैः' अनडुहः कर्षणं  
 'करोति', तस्मादध्वर्यवे दानं युक्तमिति भावः \* । तस्मिन्  
 दाने कालविशेषं विधत्ते — "तांस्त्विति । ऋत्विक्परिक्रयहेतवो  
 दातव्या गावो दक्षिणाः, तासां यः कालो माध्यन्दिनसव-  
 नात्मकः, तस्मिन्, 'तान्' अनडुहः 'अनुदिशेत्' दद्यादिति  
 यावत् ॥ २१ ॥ ४ [ २. २. ] ॥

इति शोसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः ॥

\* का० श्री० छ० १७. १. २० । दीर्घप्रयुक्तस्य प्रतिप्रस्थाप्यादय  
 ऋत्विजः पुनर्वाः सवन्ति, तिर्यक्प्रयुक्तोऽध्वर्युरेवेति तत्तुल्यमाशयः ॥

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

अथ दर्भस्तम्बं सुपदधाति । एतद् वै देवा  
ओषधीरुपादधत तथैवेतद् यजमान ओषधीरुप-  
धत्ते ॥ १ ॥

यद्वेव दर्भस्तम्बं सुपदधाति । जायत ऽएष  
एतद्यच्चौयते स एष सर्वस्मा ऽअन्नाय जायत  
ऽउभयमेतदुन्नं यद्दर्भा आपश्च क्षेता ओषधयश्च  
या वै वृक्षाद्वीभत्समाना आपो धन्व इभन्त्य उदा-  
यन्ते दर्भा अभवन्त्यद् इभन्त्य उदायन्तस्माद्दर्भास्ता  
क्षेताः शुष्वा मेध्या आपो वृक्षाभिप्रक्षरिता \*  
यद्दर्भा यदु दर्भास्तेनोषधय उभयेनैवैन मेतदुन्नेन  
प्रौणाति ॥ २ ॥

\* "आपोऽवृक्षाभिप्रक्षरिता"—इति स्वाध्यायस्य सम्मतः पाठः ॥

सीतासमरे \* । व्याग्वै सीतासमरः प्राणा  
वै सीतास्तासा मयुः समयो व्याचि वै प्राणेभ्यो-  
ऽन्नं धीयते मध्यतो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं  
दधाति तूष्णो मुनिरुक्तं वै तद्यत्तूष्णीं सर्वं वा  
ऽभ्युनिरुक्तं सर्व्वेणैवास्मिन्नेतदन्ने दधाति ॥ ३ ॥

अथैन मभिजुहोति । जायत ऽएष एतद्यच्ची-  
यते स एष सर्व्वस्मा ऽभ्यन्नाय जायते सर्व्वस्यो  
ऽभ्यस्यैष रसो यदाज्य मपां च ह्येष ओषधीनां च  
रसो ऽस्यैवैन मेतत् सर्व्वस्य रसेन प्रीणाति या-  
वानु वै रसस्तावानात्मानेनैवैन मेतत् सर्व्वेण प्री-  
णाति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः  
संव्यवहारः संव्यवहारोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतदन्नेन प्रीणाति † ॥ ४ ॥

यदेवैन मभिजुहोति । एतद्वै यत्रैतं प्राणा  
ऋषयो ऽग्ने ऽग्निं समस्कुर्व्वन्तुदस्मिन्नेतं पुरस्ताद्  
भागं मुकुर्व्वन्त तस्मात् पुरस्ताद् भागास्तद्यदभि

\* 'सितासमरे'—इति म, घ ।

† 'प्रीणाति'—इति क ।

जुहोति यऽएवास्मिंस्ते प्राणा ऋषयः पुरस्ताद्  
भागं मकुर्वन्त तान्येवैतत् प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ५ ॥

यद्वेवैनं मभिजुहोति । एतद्वै यान्येतस्मिन्नग्नौ  
रूपाण्यपधास्यन् भवति यान्स्तोमान्यानि पृष्ठानि  
यानि कुन्दासि तेभ्य एतं पुरस्ताद् भागं  
करोति तान्येवैतत् प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ६ ॥

यद्वेवैनं मभिजुहोति । एतद्वै देवा अवि-  
भयुर्दीर्घं वा ऽब्रुदं कर्म यद्वै न द्रम मिह रुचा-  
सि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएता मेतस्य कर्मणः  
पुरस्तात् सऽष्ट्या मपश्यस्त मन्त्रैव सर्वं समस्थाप-  
यन्नवाचिन्वन्स्तथैवैनं मय मेतदन्त्रैव सर्वं स-  
स्थापयत्यत्र चिनोति \* ॥ ७ ॥

सजूरुद् इति चितिः । अयवोभिरिति पुरी-  
षः सजूरुषा इति चितिरगुणीभिरिति पुरीषः  
सजोषसावश्विन्मेति चितिर्होसोभिरिति पुरीषः

सजूः सूर इति चित्तिरेतश्चेति पुरीषः सजू-  
 व्यंखानर इति चित्तिरिड्येति पुरीषं घृतेनेति  
 चित्तिः स्वेति पुरीषः हेति चित्तिः ॥ ८ ॥

त्रयोदशैता व्याहृतयो भवन्ति । त्रयोदश  
 मासाः संवत्सरस्त्रयोदशानेति पुरीषाणि यावा-  
 ननिर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त मेवैन मेतद्विनोत्याज्येन  
 जुहोत्यग्निरेष यदाज्य मग्नि मेवैतद्विनोति पञ्च-  
 गृहीतेन पञ्चचित्तिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः  
 संवत्सरोऽनिर्यावाननिर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त  
 मेवैन मेतद्विनोत्यूर्ध्वं मुद्गल्लन् जुहोत्यूर्ध्वं तदग्निं  
 चित्तिभिर्विनोति ॥ ९ ॥ १ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२. ३.] ॥

अथ कुशस्तम्बोपधानं विधत्ते— “अथ दर्भस्तम्ब मिति ।  
 एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते, दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः,  
 तम् आममव्ये. तूष्णीम् ‘उपदधाति’ स्थापयेदित्यर्थः । तदु-  
 पधानं देवकर्तृकौषध्युपधानद्वारा स्तौति— “एतद्वा इति ।  
 ‘उपादधत’ उपहितवन्तः । “तथैवेतदिति, प्रकृते योजनम् ॥ १ ॥

तदेव प्रकारान्तरेणापि स्तौति—“यद्देवेति । ‘स एषः’ आह-  
 वनीयोऽग्निः ‘चोयते’ चयनेन सम्पाद्यते, ‘एषः’ जायते’ उत्पद्यत

एव । 'स एषः' जायमानोऽग्निः 'सर्वस्मै' कृत्स्नाय 'अत्राय' तैदुपभोक्तुं जायते । दर्भोणां नामनिर्वचनद्वारा उभयविधा-  
 ज्ञत्वं माह— "उभयस्येतदिति । उभयं किं मित्यत आह—  
 "यद्दर्भा इति । उभयविधत्वं मेव विवृणोति— "या वै वृत्रादिति ।  
 "वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये"—इत्युपक्रम्य , "तस्मादु हैका  
 आपो वीभत्साञ्चक्षिरे"—इत्यादिना प्रथमकाण्डे अपां दर्भभाव-  
 प्रत्ययादिति \* । 'याः' आपः वृत्रासुराद् 'वीभत्समानाः' जुगुप्स-  
 मानाः जुगुप्साश्रयत्वादि कुर्वाणा इत्यर्थः । 'धन्व' अन्तरिक्षं  
 'दृभन्त्यः' गुम्फनं कुर्वन्त्यः आपः 'उदायन्' उद्गतवत्यः । "धन्वान्त-  
 रिक्षम् ; धन्वन्त्यस्मादापः"—इति † हि यास्कः । दृभन्त्य इति ,  
 तौदादिकात् "दृभी गुम्फने"—इति ‡ धातोः शतरि "ऋन्नेभ्यो  
 ङीप्" § । 'ते दर्भा अभवन्' आप एव दर्भत्वं प्राप्ता इत्यर्थः । ते इति  
 पुक्तिङ्गं दर्भोपेक्षम् । दर्भनाम निर्वक्ति— "यद्दृभन्त्य इति । 'यत्'  
 यस्माद् दृभन्त्यो गुम्फनं कुर्वन्त्य आप उद्गतवत्यः ; 'तस्माद्'  
 दर्भोणादापो 'दर्भाः' दर्भशब्दवाच्या इत्यर्थः । दर्भभूतास्ता अपः  
 प्रशंसति— "ता हैता इति । ये दर्भाः 'ताः' एता आपः  
 'शुद्धाः' शुद्धिसाधनभूताः , तथा 'मेध्याः' मेधाहर्हाः । तदेव विस्-  
 ष्यति— "आपोऽवृत्राभिप्रक्षरिता इति । न वृत्रात् 'अभिप्रक्ष-  
 रिताः' अभिप्रस्तुताः 'उ' पुनः 'यत्' यस्माद् 'दर्भाः' , 'तेन' कारकेन  
 'षोषधयः' । दर्भोणां शोषधित्वं मन्यन्नाप्यान्नायते— "षोष-

\* १ का० १. प्र० ३३० ४ , ५ क० ( १ भा० ६० पृ० ) ।

† निरु० ५. १. ६ ।

‡ तु० प० ४३ धा० ।

§ पा० ख० ४. १. ५ ।

चयो बहिरिति । उभयविधत्वं नृपयोगप्रतिपादनेनोपसंहरति—  
“उभयेनैवेन मिति । ‘एनं’ चित्वाग्निम् ‘एतत्’ एतेनोभयविधेन  
अग्नेन ‘प्रीणाति’ ॥ २ ॥

तदुपधानं क्षेत्रे विधाय स्तौति— “सीतासमर इति ।  
कृष्टाः सीताः ‘समृच्छन्ते’ सङ्गच्छन्ते यत्रासौ ‘सीतासमरः’  
क्षेत्रमध्यपदेशः, तत्रोपदध्यादिति शेषः । आधियज्ञिकस्य  
सीतासमरस्याध्यात्मं सुखरूपता माह— “वाग्वा इति ।  
वागाग्रतन्वाद् ‘वाक्’ सुखं खलु ‘सीतासमरः’ । कथं मित्य-  
पेक्षायां तदुपपादयति— “प्राणा वा इति । ‘प्राणाः’ खलु  
‘सीताः’ नाद्यः तत्सञ्चारित्वात् । ‘तासां’ नाडीरूपाणां सीतानाम्  
‘अयं’ सुखलक्षणः ‘समयः’ सङ्गमः, सम्यगयन्ते सङ्गच्छन्ते  
यत्र सोऽयं समयः; सुखे हि सर्वाः प्राणा नाद्यः सङ्ग-  
च्छन्ते । ततः किं मित्याकाङ्क्षाया माह— “वाचि वा इति ।  
‘वाचि वै’ सुखे एव ‘प्राणेश्वरः’ अर्थे ‘अन्नं’ धीयते स्थाप्यते;  
सुखेनैव हि जग्धेऽन्ने प्राणाना माध्यायनस्य सङ्गावात् । सीता-  
समरेऽपि मध्यदेशे उपदध्यादित्याह— “मध्यत इति । सम-  
मर्थे तसिलयम् । ‘अस्मिन्’ चित्वाग्नौ मध्ये एव ‘एतत्’ एतेन अन्नं  
स्थापितवान् भवति । उपधाने मन्त्राभावं विधत्ते— “तूष्णी  
मिति । तदेवोपपादयति । “अनिरुक्तं वा इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ३ ॥

अभिहोमं विधत्ते— “अथैनं मभीति । ‘एनं’ दर्भस्तम्बम् ।  
“आयत एष इत्यादि । पूर्ववद्ब्याख्येयम् \* । अभिहोमि आन्धं  
द्रव्यं विधातुं स्तौति— “सर्वस्यो ऽअस्यैष इति । ‘यत्’ आन्धं सर्पिः

‘देवः’ ‘अस्य’ ‘सर्वस्य’ विश्वस्य ‘रसः’ । रसत्वं मेवोपपादयति—  
 “अपां च हीति । अपा मोषधीनाञ्च गोभिः पानान्द् भक्षणाञ्च  
 ज्ञाज्यं बुत्पद्यते । रसत्वोपपादनस्य प्रयोजनं माह— “अस्यैवैन  
 मिति । ‘एनं’ चित्वाग्निं ‘प्रोणाति’ तर्पयति । सर्वरसत्वकथने  
 कारणं माह— “यावानु वा इति । ‘रसः’ ‘यावान्’ यत्परिमाण-  
 विशिष्टः, ‘आत्मा’ देहोऽपि ‘तावान्’ तत्परिमाणविशिष्ट एव ;  
 देहस्य रसोपजोवनत्वात् । “अनेनेति । ‘सर्वेण’ रस्वेनेत्यर्थः ।

आज्यस्य पञ्चगृहीतत्वं विधत्ते— “पञ्चगृहीतेनेति \* । पञ्च-  
 गृहीतत्वं स्तूति— “पञ्चचित्तिकोऽग्निरित्यादिना । ‘पञ्चर्त्तवः’  
 पञ्चर्त्तात्मकः ‘संवत्सरः’; हेमन्तशिशिरयो समासेन † । “संवत्सरो-  
 ऽग्निः इत्यादि गतार्थम् ‡ ॥ ४ ॥

प्रकारान्तरेणाभिहोमं स्तूति— “यद्देवेन मिति । ‘एतद्दे’  
 कारणं खलु ‘यत्र’ यदा ‘प्राणाः’ एव ‘ऋषयः’ ‘भृथे’ प्रपञ्च-  
 दृष्टेः पुरा ‘एनम्’ अग्निं चित्वाख्यं संस्कृतवन्तः, ‘तत्’ तदा  
 ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘एतम्’ अभिहोमलक्षणं ‘पुरस्ताद्’ भागम् चय-  
 नात् प्रागेव भजनीयं मंशम् ‘अकुर्वत’ सम्पादितवन्तः, ‘तस्मात्’ ते  
 ऋषयः ‘पुरस्ताद्भागाः’ पुरस्तादादौ भागो भजनीयोऽंशो येषां ते  
 पुरस्ताद्भागाः, प्रथमपूज्या इत्यर्थः । “तद्यदिति । ‘तत्’ तत्र  
 यत्कारणात् ‘अभिजुहोति’, इदानीन्तनो यजमान इति शेषः ।  
 ‘वे’ पुरस्ताद् भागकर्तारः प्राणरूपा ऋषयः, ‘तानेव’ ‘एतत्’

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २ ।

† ऐ० ब्रा० १. १. १ दृष्टव्यम् ।

‡ १भा० ३६८०, इह च पुरस्तात् १०२ पृ० १६ क० ।



एतेनाभिहोमेन तर्पयतीति तत्कारणं मित्यर्थः । “आज्येनेत्यादि । त्यास्यातम् \* ॥ ५ ॥

प्रकारान्तरेण त मेवाभिहोमं स्तौति— “यद्देवेति । ‘एतस्मिन् अग्नी’ चित्यात्मके ‘यानि रूपाणि’ गार्हपत्यचित्-धिष्णालक्षणानि, तथा ‘यान् सोमान्’ स्तोत्रियसमूहान् ऋ-त्यश्चदशादीन्, ‘यानि पृष्ठानि’ बृहद्रथन्तरादीनि, ‘यानि च हस्तांसि’ गायत्र्यादीनि, ‘उपधास्यन्’ एतेषां सुपधानं करिष्यन् ‘भवति’, ‘तेभ्यः’ रूपादिभ्य ‘एतम्’ अभिहोमलक्षणं ‘पुरस्ताद्भागं’ सम्पादयति । ‘तान्येव’ रूपादीनि ‘एतत्’ एतेन तर्पयति । “आज्येनेत्यादि । पूर्ववत् † ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणाप्यभिहोमं मेव स्तौति— “यद्देवेति । ‘एतत्’ एतेन हेतुना ‘देवाः’ ‘अविभयुः’ भीतवन्तः । भयस्वरूपं मेव विशदयति— “दीर्घं वा इत्यादिना । ‘इदं’ चयनलक्षणं ‘कर्म’, ‘दीर्घं’ विस्तृतं खलु । अस्तु पुनर्द्राघीयः, तावता को भयहेतुरित्यत आह— “यद्दे न इति । ‘नः’ अस्माकम् ‘इह’ दीर्घं कर्मणि ‘इमम्’ अग्निं ‘नाद्वा रक्षांसि’ ‘न हव्युः’ हिंस्युरिति । अयं सम्भावने लिङ् ‡, ‘इति’-शब्दो देवाभिप्रायसमाप्तिः । भौति-निवृत्तिप्रकारं दृष्टवन्त इत्याह— “त एता मिति । ‘ते’ देवा ‘एतस्य’ दीर्घस्य चयनाख्यकर्मणः ‘पुरस्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘यवैताम्’ अभिहोमलक्षणं ‘संस्थां’ समाप्तिम् ‘अपश्यन्’ ददृशुः । दृष्ट्वा चातुष्ठितवन्त इत्याह— “त मत्रैवेति । ‘अत्रैव’ चयनात्

\* , † इहैव पुरस्तात् ४ क० १२६ पृ० ८ प० द्रष्टव्यम् ।

‡ ६ पा० ख० ३. ३. १६१ ।

प्रागवसरे एव 'तं' चित्यात्मक मग्निं सर्वं निरवशेषं 'सम-  
ख्यापयन्' समापितवन्तः, अत्रादावित्यर्थः । 'अचिन्वन्' चित-  
वन्त इति भाविनि भूतवदुपचारः । 'उक्तं मर्थं प्रकृते योज-  
यति— "तथैवेन मिति ॥ ७ ॥

अभिज्ञोमे मन्त्रं विधाय व्याहृतिरूपेण त्रयोदशधा विभज्य  
चितिपुरीषात्मना स्तौति— "सजूरब्द इति चितिरित्यादिना \* ।  
मन्त्रार्थस्तु,— 'अब्दः' संवत्सरः 'अयवोभिः' मासैरर्धमासैश्च  
'सजूः' समानजोषणः । यवा अयवाश्चार्धमासा मासाश्चोच्यन्ते ;  
अर्धमासा एव वा , "पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवाः"—इति  
श्रुतेः † । 'उषाः' रात्रेरपरः कालः । 'अरुणीभिः' अरुणवर्णाभि-  
र्गोभिः 'सजूः' समानजोषणः । "अरुणो गाव उषसः"—इति  
निघण्टुः ‡ । 'अखिना' नासत्थी देवौ 'द' सोभिः कर्मभिः  
सजोषसौ समानजोषणौ । 'सूरः' सूर्यः 'एतशेन' हरितवर्णेना-  
श्वेन 'सजूः' । 'वैश्वानरः' विश्वनरनेता अग्निः 'इडया' अग्नाय्या  
घृतेन 'आज्येन' हविषा च 'सजूः' 'स्वाहा' इदं माज्यं सुहुत  
मस्तु ॥ ८ ॥

त्रयोदशधा विभक्ता मन्त्रावयका व्याहृतिरूपाः स्युरित्याह—  
"त्रयोदशैता इति । व्याह्रियन्त एति 'व्याहृतयः' । 'एताः' इति  
स्त्रीलिङ्गत्वं व्याहृतिशब्दापेक्षम् । व्याहृतिगतां त्रयोदशसङ्ख्यां  
प्रशंसति— "त्रयोदश मासा इति । संसर्प्याहस्यतिसञ्ज्ञको-

\* वा सं० १९. ७४ ।

† शत० ब्रा० ८ का० २ प्र० ५ ब्रा० ११ क० ।

‡ १ अ० १५ ख० ७ पू० ।

ऽधिमासस्तयोदशः \* ; “अस्ति तयोदशो मासः”—इतिश्रुतेः † ।  
 “त्रयोदशान्नेरिति । चित्त्वस्याग्नेश्चितयः पुरीषाणि च मिलित्वा  
 त्रयोदश सम्पद्यन्ते । तर्थाहि—आदितश्चित्स्रश्चितयः, पुरीषनिवप-  
 नास्ताः, स्तोमभागान्ता पञ्चमी चितिः, तदनन्तरभावि पुरीष  
 मेकम्, नाकसत्यमृतिपुरीषनिवपनास्ता षष्ठो चितिरिति हे, ततो  
 विकर्णोत्थयमादस्योरुपधानं हिरण्यशकलैः प्रोक्षणं सम्यग्-  
 भ्याधानं चेति सप्तमो चितिः । सा त्रयोदशीत्यादिर्विभाग ऊह्यः ।  
 “यावानग्निरित्यादि । असकृद् गतम् ॥

आज्यस्य होमसाधनत्वं मनूय प्रशंसति— “आज्येनेत्या-  
 दिना । आज्यस्याग्नित्वम् “तेजो वै छतम्”—इतिश्रुतेः ‡ । “पञ्च-  
 गृहीतेनेत्यादि । व्याख्यातचरम् । तत्राभिहोमि सूच उद्गृहीतत्वं  
 विधाय प्रशंसति— “ऊर्ध्वं मिति । ‘उद्गृह्णन्’ सूच मूर्ध्ना कुर्वन्  
 शुद्धोतीत्यर्थः । ‘तत्’ तेन सूच ऊर्ध्वकरणेन ‘अग्निं’ प्रकृतं  
 ‘चितिभिः’ ऊर्ध्वं चितवान् भवति । “पञ्चगृहीतेनोद्गृह्णन्  
 शुद्धोति सजूरब्द इति”—इति सूत्रम् § ॥ ८ ॥ [२. ३.] ॥

इति ओसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* अथ मागे ३६ प्र० ६ पं० द्रष्टव्या ।

† शत० ब्रा० ४. २. ५. ५ ।

‡ ऐ० ब्रा० ८. ४. ६ । तै० सं० २. ५. २. ७ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. २ । वर० सं० १२. ७४ ।

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

अथोदचमसान्निनयति । एतद्देवा \* अब्रुवं-  
 श्चेत्यद्भु मिति चिति मिच्छतेति व्याव तद्ब्रुवंस्ते  
 चेतुयमाना वृष्टि मेव चिति मपश्यंस्तु मस्मिन्न-  
 दधुस्तथैवास्मिन्नय मेत दधाति ॥ १ ॥

उदचमसा भवन्ति \* । आपो वै वृष्टिर्वृष्टि  
 मेवास्मिन्नेतद्दधुस्तथैवास्मिन्नय मेत दधाति ॥ २ ॥

वृष्टिर्वास्मिन्नय मेत दधाति । त्रिवृदग्निर्यावा-  
 नग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवास्मिन्नेतद् वृष्टिं  
 दधाति ॥ ३ ॥

द्वादशोदचमसान् कृष्टे निनयति । \* द्वादश  
 मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
 मावा तावतैवास्मिन्नेतद् वृष्टिं दधाति ॥ ४ ॥

स वै कृष्टे निनयति । तस्मात् कृष्टाय  
 वर्षति स यत् कृष्ट एव निनयेन्नाकृष्टे कृष्टायैव

वर्षेन्नाकृष्टाय यदकृष्ट एव निनयेन्न कृष्टेऽकृष्टा-  
यैव वर्षेन्न कृष्टाय कृष्टे चाकृष्टे च निनयति  
तस्मात् कृष्टाय चाकृष्टाय च वर्षति ॥ ५ ॥

त्रीन् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । त्रिवृ-  
दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्  
वृष्टिं दधाति ॥ ६ ॥

यद्देवोदचमसान्ननिनयति । एतद्वा ऽश्मिन्  
देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादपो दधुस्तैवास्मिन्नय-  
मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादपो दधाति ॥ ७ ॥

त्रींस्त्रीनुदचमसान्ननिनयति । त्रिवृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो द-  
धाति ॥ ८ ॥

द्वादशोदचमसान् कृष्टे निनयति । द्वादश  
मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो दधाति ॥ ९ ॥

स वै कृष्टे निनयति । प्राणेषु तदपो दधाति  
स यत् कृष्ट एव निनयेन्नाकृष्टे प्राणेष्वेवापः  
स्युर्नेतरस्मिन्नात्मन्नय यदकृष्ट एव निनयेन्न कृष्ट

ऽआत्मन्नेवापः स्युर्न \* प्राणेषु कृष्टे चाकृष्टे च  
निनयति तुस्मादिमा उभयत्वापः प्राणेषु चा-  
त्मंश्च ॥ १० ॥

वीन् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । विष्टदग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो  
दधाति ॥ ११ ॥

पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशो वै व्यञ्ज  
एतेनैवास्यैतत् पञ्चदशेन व्यञ्जेण सृज्यं पाप्मान  
मुपहन्ति † ॥ १२ ॥

अथ सञ्जीर्षधुं व्यपति । एतद्वै देवा ऽअन्न-  
वञ्चेतयध्व मिति चिति मिच्छतेति व्याव तद-  
ब्रुवंस्ते चेतयमाना अन्न मेव चितिमपश्यंस्ता म-  
स्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नय मेतद्वधाति ॥ १३ ॥

सञ्जीर्षधुं भवति । सृज्यं मेव तदन्नं यत्  
सञ्जीर्षधुः सृज्यं मेवास्मिन्नेतदन्नं दधाति तेषा  
मेकमन्नं मुहुरेत्तस्य नाश्नीयाद्वाधज्जीवः मौदुम्बरेण

\* 'स्युर्न'—इति क ।

† 'मुपहन्ति'—इति क ।

चमसेन तस्योक्तो बभूवुः सुतुः सक्तिना चतस्रो वै  
दिशः स्रुवाभ्य एवास्मिन्नेतद्दिग्भ्यो ऽन्नं दधा-  
त्यनुष्टुप्भिर्व्वपति व्याग्रा ऽअनुष्टुप् वाचो वा  
ऽअन्नं मयते ॥ १४ ॥

तिसृभिस्तिसृभिर्ऋग्भिर्व्वपति । त्रिवृदग्निर्या-  
वानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं द-  
धाति ॥ १५ ॥

द्वादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे व्वपति । द्वादश  
मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ १६ ॥

स वै कृष्टे व्वपति । तस्मात् कृष्टे ऽन्नं पच्यते  
यत् कृष्टेऽएव व्वपेन्नाकृष्टे कृष्टेऽएवान्नं पच्येत ना-  
कृष्टेऽथ यदकृष्टेऽएव व्वपेन्न कृष्टेऽकृष्टेऽएवान्नं  
पच्येत न कृष्टे कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति तस्मात्  
कृष्टे चान्नं पच्यते ॥ १७ ॥

तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति । त्रिवृ-  
दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं  
दधाति ॥ १८ ॥

यदेव सञ्जीवधं व्यपति । एतद्वा ऽएनं देवाः  
संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् सर्वेण भेषजेनाभिषज्यं-  
स्तुथैवैन मय मेतुत् संस्करिष्यन् पुरस्तात् सर्वेण  
भेषजेन भिषज्यति ॥ १९ ॥

सञ्जीवधं भवति । सर्वं मेतुद् भेषजं यत्  
सञ्जीवधं सर्वेणैवैन मेतुद् भेषजेन भिष-  
ज्यति ॥ २० ॥

तिसृभिस्तिसृभिर्हग्निर्व्यपति । त्रिदुदग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतुद् भिष-  
ज्यति ॥ २१ ॥

द्वादशभिर्हग्निः कृष्टे व्यपति । द्वादश मात्राः  
सञ्चत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतुद् भिषज्यति ॥ २२ ॥

स वै कृष्टे व्यपति । प्राणांस्तुद्धिष्यति स  
यत् कृष्टे ऽएव व्यपेन्नाकृष्टे प्राणानेव भिषज्यन्ते-  
तर मात्मान मय यदकृष्टे ऽएव व्यपेन्न कृष्टे ऽआत्मान  
मेव भिषज्यन् प्राणान् कृष्टेचाकृष्टे च व्यपति  
प्राणांश्च तदात्मानं च भिषज्यति ॥ २३ ॥



तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे च व्यपति । त्रिहृ-  
दग्निर्यावांनग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवैन मेतद्  
भिषज्यति ॥ २४ ॥

पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशभिर्हवि-  
र्व्यपति तस्मिंश्चत्विंशदक्षरा व्विराड्विराड् कृत्स्न  
मुन्नं सर्वं मेवास्मिन्नेतत् कृत्स्नमुन्नं दधाति ॥ २५ ॥

या ओषधीः पूर्वा जाताः । देवेभ्यस्त्रियुगं  
पुरेतृत्वो वै देवास्तेभ्य ऽएतास्त्रिः पुरा जायन्ते  
व्यसन्ता प्रावृषि शरदि मुनै नु बभूणा मह मिति  
सोमो वै बभुः सौम्या ऽओषधय ओषधः पुरुषः  
शतं धामानीति यदिदुः शतायुः शतार्घः शत-  
वीर्यं ऽएतानि हास्य तानि शतं धामानि सप्त  
चेति य ऽएवेमे सप्त शीर्षग्राणास्तानेतदाह ॥ २६ ॥

शतं वो ऽअम्ब धामानि । सहस्रमुत वो  
रुह इति यदिदुः शतधा च सहस्रधा च व्विरूढा  
अधा शतक्रत्वो यूयं मिमं मे ऽअगदं कृतेति य मिमं  
भिषज्यामीत्येतत् \* ॥ २७ ॥

\* 'भिषज्यामीत्येतत्'—इति ग, घ

ता एता एकव्याख्यानाः । एत मेवाभि ययैत  
मेव भिषज्येदेत पारयेत्ता अनुष्टुभो भवन्ति व्याग्वा  
ऽअनुष्टुप् व्यागु सर्व्वं भेषजं सर्व्वेणैवेन मेतद् भेष-  
जन भिषज्यति ॥ २८ ॥

अथातो निरुक्तानिरुक्ताना मेव\* । यजुषा द्वावन-  
द्वाहौ युनक्ति तूष्णी मितरान्यजुषा चतस्रः सीताः  
कृषति तूष्णी मितरास्तूष्णीं दर्भस्तम्ब मुपदधाति  
यजुषाभिजुहोति तूष्णी मुदचमसान्निनयति यजुषा  
व्वपति ॥ २९ ॥

प्रजापतिरेषोऽग्निः । उभयस्वेतत् प्रजापति-  
निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्य-  
जुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं  
तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्तूष्णीरुक्तं  
मुपरिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वा  
ऽएतं सर्व्वं कृत्स्नं प्रजापतिं संस्करोति य एवं  
व्विद्वन्नेतदेवं करोति बाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि  
भवन्त्यन्तराण्यनिरुक्तानि पशुरेष यदग्निस्तस्मात्

प्रशोर्वाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि भवन्त्यन्तराण्यु-  
निरुक्तानि ॥ ३० ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [२, ४.] ॥

अथ कृष्टे चेत्रे कर्षणक्रमेणोदचमसकरणक मपान्नियनं  
विधत्ते— “अथोदचमसान्नियतीति । उदकपूर्णाश्चमसा उद-  
चमसास्तानासिञ्चेदित्यर्थः । “एतद्वै देवा इत्याद्यसक्तदु गतम् \* ।  
“वृष्टि मेवेति । वर्षणरूपां चिति मित्यर्थः ॥ १ ॥

उदकनिनयने चमसकरणतां विधाय वृष्ट्यात्मना स्तौति—  
“उदचमसा भवन्तीति । ‘वृष्टिरापः खलु’ अपां वृष्टिजन्य-  
त्वात् । चमसस्य उदुम्बरविकारत्वं विधत्ते— “औदुम्बरेणेति ।  
“तस्योक्त इति । उदुम्बरविकारत्वस्यार्थवादः । “तदेतत् सर्वं मन्त्रं  
यदुदुम्बरः, सर्वे वनस्पतय इत्यादिना षष्ठकाण्डे प्रपञ्चित  
इत्यर्थः † । चमसस्य चतुष्कोणत्वं विधाय प्रशंसति—चतुःस्रक्ति-  
नेति । “सर्वाभ्य इति । चतसृभ्योऽपि दिग्भ्य इत्यर्थः ॥ २ ॥

चतसृषु चतसृषु सीतासु त्रयाणां त्रयाणां मुदचमसानां निम्नयनं  
विधाय प्रशंसति— “त्रींस्तौनिति ‡ । “नित्यवीषयोः”—इति §  
द्विर्वचनम् । “त्रिवृदग्निरित्याद्यसक्तदुक्तार्थम् ॥ ३ ॥

\* पुरस्तादिहैव १२३ पृ० दृश्यम् ।

† ६ अ० ३ ब्रा० ३ का० (५६ भा० १३८ पृ०) ।

‡ का० औ० सू० १७. ३. ३ ।

§ पा० सू० ८. १. ४ ।

॥ इहैव १ प्र० ४ ब्रा० १५ कण्ठीयाख्या दृष्टया ( ११८ पृ० ) ।

ऊष्ट्रप्रदेशे द्वादशभिरुदचमसैर्निनयनं विधाय स्तौति—

“द्वादशोदचमसानिति । “द्वादशमासा इत्यादेः स्यष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

तस्योदकनिनयनस्य ऊष्ट्रचेत्त्राधिकरणत्वं मनूय<sup>१</sup> स्तौति—

“स वै ऊष्ट्रे इति । यस्मात् ऊष्ट्रप्रदेशे उदकनिनयनं क्रियते, तस्मादेव कारणाज्ञोक्ते ‘ऊष्ट्राय’ कर्षणसंस्कारसंस्थताय भूमिभागार्थं ‘वर्षति’ दृष्टिर्भवति । “स यत् ऊष्ट्र एवेत्यादिना ऊष्ट्रा-ऊष्ट्रस्थले उदकनिनयनायैकैकत्र निनयननिन्दा प्रतिपाद्यते ; अर्थस्तु निगदसिद्धः ॥ ५ ॥

ऊष्ट्राकृष्टात्मके यदुदकनिनयनं विहितम्, तत् करणचमसानां मपि त्रिसङ्ख्या सुपजीव्य स्तौति— “त्रौन् कृष्टे चेति \* । “त्रिवृ-दग्निरित्याद्यसकृद् गतम् ॥ ६ ॥

उक्तेऽर्थे पुरावृत्तं भवतारयति— “यद्देवेत्यादिना । ‘पुर-स्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘अपः’ उदकानि स्थापितवन्तः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७ ॥

त्रौन्स्त्रीनित्यादि । पूर्ववद् व्याख्येयम् † ॥ ८ ॥

द्वादशोदचमसानित्यादि च ॥ ९ ॥

ऊष्ट्रप्रदेशे उदकनिनयनस्य प्राणाधिकरणनिनयनरूपता माह— “स वै ऊष्ट्र इति । ऊष्ट्राकृष्टयोरुभयचोदकनिनयने प्राणशब्दाभिधेयेषु चक्षुरादिषु तदाश्रयभूते ‘आत्मनि’ शरीरे चापां निनयनं कृतं भवतीत्ययं स यत् कृष्ट एवेत्यादेस्तात्पर्यार्थः ‡ ॥ १० ॥

कृष्टाकृष्टयोरुदकनिनयनचमसगतं, त्रित्वं मनूय तस्याप्यपां

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. ४ ।

† इहत्या तृतीयकण्ठीटीप्पनी इत्यत्र ( १४० पृ० ‘॥’ ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. ५ ।

निधानहेतुता माह— “चौन् कृष्टे चेति । अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ११ ॥

पृथग्विहिता सुदचमससङ्गां सभूय प्रशंसति—“पञ्चदशोदचम-  
सानिति । “पञ्चदशो वै वज्र इति । पञ्चदशस्तोमस्येन्द्रस्य च  
सह प्रजापतिबाहुसकाशादुत्पत्तेरिन्द्रसम्बन्धी वज्रोऽपि पञ्च-  
दशस्तोमात्मकः \* , तादृशेनैतेन वज्रेणास्य यजमानस्य सर्वं मपि  
पाप्मानं अपहृतवान् भवति ॥ १२ ॥

अथ प्रकृत औदुम्बरचमसे सर्वधान्यावापं विधत्ते—“अथ  
सर्वौषधं वर्पतीति । अन्नमेव धान्यरूपा मेव चिति मित्यर्थः ।  
गतमन्यत् ॥ १३ ॥

सर्वत्वमन्युः स्तौति—“सर्वौषधं भवतीति । औषधीनां  
समूहः औषधम् । “तस्य समूहः”—इत्यण् । औषधयश्चात्र ग्राम्या-  
रण्यादिबीजात्मिका द्रष्टव्याः † । यत्सर्वौषधम् , एतत् सर्वं निरव-  
शेषमन्नम् । “सर्वमेवेति । ‘एतत्’ एतेन सर्वौषधावापेन ‘अस्मिन्’  
अग्नौ सर्तमेवात्र निहितवान् भवति । तन्नोमानां प्रकृतानां  
मन्त्रानां मध्ये एकस्य औषधिरूपस्य बीजस्य वर्जनं विधत्ते—“तेषां  
मेकमिति । ‘तेषाम्’ औषधिविकाराणां मन्त्रानां मध्ये ‘एक-  
मन्नमुद्धरेत्’ पृथक् कुर्यात् , न आवपेदित्यर्थः । तत्र च धर्मविशेषं  
विधत्ते—“तस्य नाश्रीयादिति । ‘तस्य’ उद्धृतस्यान्नस्य ‘यावज्जीव-  
नाश्रीयात्’ । अतएवोक्तं कात्यायनेन—“तस्मिन्सर्वौषधमाव-  
पत्येकवर्जमभोजनं तस्योच्छासात्”—इति § ।

\* ते० सं० ७. १. १. ४. द्रष्टव्यम् ।

† पा० ख० ४. २. ३७ ।

‡ ते० सं० ५. ४. ६. १ द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० ख० १७. ३. ६. ७ । ,

उदकनिनयन इव बीजावपनेऽपि चतुरश्रं मौदुम्बरं चमसं करण-  
त्वेन विधत्ते—“औदुम्बरेण चमसेनेति । व्याख्यातं प्राक्, चैतत् \* ।  
“सर्वाभ्य एवास्मिन्नित्यादि । ‘सर्वाभ्यः’ प्राच्यादिभ्यश्चतसृभ्यो दिग्भ्यः  
सकाशात् ‘एतेन’ चतुःस्रक्तिचमसकरणकेन बीजावपेन ‘अस्मिन्’  
अग्नौ ‘अन्नं’ ‘दधाति’ स्थापयति । बीजावपनं मन्त्राणां कन्दोदारेण  
प्रशंसति—“अनुष्टुम्भिरिति । “या ओषधीरित्याद्याः † अनुष्टुप्-  
कन्दस्कास्ताभिर्वपेदित्यर्थः । “वाग्वा अनुष्टुब्”—इत्यादि । सा तु  
“चतुरुत्तराणि कन्दांश्चसृजत”—इति श्रुतेः सर्वच्छन्दोरूपत्वादननुष्टुभो  
वाक्ताम् ‡ पञ्च मपि वाचैवाद्यमान मित्यन्नात्मकस्यौषधिवापस्य  
वाक्स्तुतानुष्टुप्करणकत्वं युक्तमिति भावः ॥ १४ ॥

पञ्चतृचात्मको ह्यनुवाकस्तत्र सर्वत्र क्रमेण तृचैरेवौषधिवापः  
कर्त्तव्य इति विधाय त्रित्वसङ्ख्यां प्रशंसति—“तिसृभिस्तिसृभि-  
रिति § । “नित्यवीक्ष्योः”—इति ॥ द्विर्वचनम् । “त्रिदग्नि-  
रित्यादि व्याख्यातम् ¶ ॥ १५ ॥

कृष्टप्रदेशे द्वादशभिर्ऋग्भिर्वपनं विधाय स्तौति—“द्वादशभि-  
रिति । चतसृषु सीतास्वैकैकस्यां तिसृभिर्वपने सति द्वादशर्चः  
सम्पद्यन्ते, सैव द्वादशसङ्ख्या चानूय स्तूयते । निगदसिद्ध  
मन्यत् ॥ १६ ॥

\* इह त्वेव द्वितीयकण्ठीयाख्या द्रष्टव्या ( १४० पृ० ) ।

† वा० सं० १२. ७५—८६ ।

शत० ब्रा० ३ का० १ प्र० ४ ब्रा० २१—२३ क० ( ३ भा० ४८, ४९ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ का० औ० १७. ३. ८ ।

॥ पा० सू० ८. १. ४ ।

¶ तृतीयकण्ठीटीप्पणी ( १४० पृ० ‘॥’ ) द्रष्टव्या ।

तस्य बीजावापस्य कष्टवेत्ताधिकरणत्वं मनूय स्तौति—  
 “स वै कष्ट इति । यस्मात् कष्टप्रदेशे बीजावापः क्रियते, तस्मा-  
 देव कारणात् लोके कष्टकर्षणसंस्कारसंस्कृते भूमिभागे व्रीहि-  
 यवादिशस्यम् ‘अन्नं पश्यते’ फलमिति । “यत् कष्ट एवेत्या-  
 दिना कष्टाकष्टवेत्ते वपनायैकेकत्र बीजावापनिन्दा प्रतिपाद्यते ।  
 निगदसिद्धोऽर्थः । कष्टाकष्टात्मके यद्बीजावपनं विहितम्, तत्  
 कारणमन्दाणां मपि ॥ १७ ॥

चिसङ्ख्या मुपजीव्य स्तौति— “तिसृभिः कृष्टे चेति ॥ १८ ॥

एवं मन्त्रचित्ररूपेण बीजावापं संस्कृत्य भेषजरूपिणापि स्तौति  
 — “यद्देवेत्यादिना । पुराहस्तकथनम् । सर्वा ह्योषधयो यावदन्न-  
 मूलफलकन्दारिरूपेण भेषजानि भवन्ति, तथा सति सर्वोषधि-  
 सम्बन्धिबीजावपनेन सर्वेणैव भेषजेन ‘देवाः’ ‘एनम्’ अग्निम् ‘अभि-  
 प्रज्यन्’ अचिकित्सन् । “भिषज चिकित्सायाम्”—इति धातुः \* ।  
 तद्वद् अयं यजमानोऽपि ‘एनम्’ अग्निं ‘संस्करिष्यन्’ ततः प्रागेव  
 सर्वोषधिबीजावपेन सर्वेणैव भेषजेन ‘भिषज्यति’ चिकित्सति ।  
 यथा करिष्यमाणश्चयनसंस्कारो वितथो न भवेत्, तथैनं भिषज्ये-  
 दित्यर्थः ॥ १८ ॥

सर्वत्वं मनूय स्तौति— “सर्वोषधं भवतीति । पूर्ववद्  
 व्याख्येयम् ॥ २० ॥

तृचकारणकं बीजावपनं, मनूयैतदपि भेषजहेतुत्वेन स्तौति—  
 “तिसृभिर्ऋग्भिरिति ॥ २१ ॥

घतसृषु सीतासु करणमन्त्राणां द्वादशसङ्ख्या मनुष्य भेषज हेतुत्वेन स्वीति— द्वादशभिर्ऋग्भिरिति ॥ २२ ॥

कृष्टप्रदेशे वपनस्य प्राणभेषज्यरूपता माह— “स यत् कृष्ट एवेत्यादि । अकृष्टप्रदेशस्य शरीरस्य च साम्यं गर्तराहित्यं कृष्टाकृष्टयोरुभयत्र बीजावापेन प्राणशब्दाभिधेयांश्चक्षुरादीन्, तदाश्रयभूतम् ‘आत्मानं’ शरीरम्, एतेन भिषज्येदित्यर्थः ॥ २३ ॥

बीजवपने च \* मन्त्रगतं त्रित्व मनुष्य, तस्यापि भेषजहेतुता माह— “तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे चेति ॥ २४ ॥

उदचमससङ्ख्यां बीजावापमन्त्रसङ्ख्यां चानूद्य सम्भूय प्रशंसति— “पञ्चदशोदचमसानिति । “त्रिंशदक्षरा विराडिति । द्वाभ्या मक्षराभ्या मनुष्टुभो न्यूनत्वात् त्रिंशदक्षरा ऋक् विराट्-छन्दस्का भवति । “जनाधिकेनैकेन निचृद्गुरिजौ, द्वाभ्यां विराट्-स्वराजौ”—इति १\* हि तल्लक्षणम् । सा च विराट् ‘कृत्स्न मन्त्रम्’; भूरूपा हि तादृशी विराट् । अत एव श्रूयते— “इयं वै विराडिति ३ । सा च स्वेष्टितव्रीहियवादिसर्वधान्योत्पत्तिहेतुत्वात् सर्वान्नरूपा । तथा च विराट्सम्पत्त्या ‘अस्मिन्’ अग्निर्क्षेत्रे ‘सर्व मेवान्नम् एतत्’ ‘कृत्स्नं’ निरवशेषं ‘दधाति’ स्थापयति ॥ २५ ॥

अथ बीजावापमन्त्रपदानां मनुवादपूर्वकं मभिप्रायं व्याचष्टे— “या ओषधीरित्यादिना § । देवेभ्यस्त्रियुगं पुरित्यस्य मन्त्रभागस्याभिप्राय माह— “ऋतवो वै देवा इति । ‘याः’ ‘ओषधीः’ ओषधयः

\* “कृष्टाकृष्टबीजवपने च” - इति छ ।

पि० सू० ४ ख० छे, ऋ० प्रा० ४ पट० छे, का० सर्वा० १ क० छ्यां च दृश्यम् ।

‡ शत० ब्रा० १ का० ४ प्र० ३ ब्रा० २० क० (१ भा० ३४६ पृ०) दृश्यम् ।

§ वा० मं० १२. ७५-८६ ।



सृष्ट्यादावुत्पन्नास्ताः 'देवेभ्यः' ऋतुभ्यो वसन्तादिभ्यः 'पुरा' पूर्वं  
वसन्तप्रावृट्शरदा मादिषु संवत्सरमध्ये 'त्रियुगं' त्रिकालं जायन्त  
इत्यर्थः ॥

उत्तरार्धे मनूय व्याचष्टे— "मनै नु बभ्रूणा मिति ।  
अमृतरूपेण सर्वेषां भ्रष्टात् 'बभ्रुः' सोमः, ओषधयोऽपि  
सोमदेवताकत्वात् । तदत्र बभ्रुशब्दाभिधेयास्तादृशोषधिपरि-  
णामविशेष एव 'पुरुषः' मनुष्यशरीर मिति तत्तादात्म्यम् ।  
अयं मर्यः,— 'बभ्रूणां' सौम्यानां ओषधीनां सम्बन्धानि वक्ष्य-  
माणानि, 'अहं' 'नु' अयं 'मनै' मन्ये जानामि । कानि पुन-  
स्तानि मत्तस्थानीत्याशङ्क्य चतुर्थपादं व्याचष्टे— "शतं धामा-  
नीतीति । ओषधिपरिणामस्य पुरुषस्य शरीरस्य यदिदं शत-  
संवत्सरं जीवनम्, एवं शतसङ्ख्याका अर्थाः प्रयोजनानि, यानि  
च तन्निष्पादकानि शतसङ्ख्याकानि वीर्याणि सामर्थ्यानि, 'एतानि'  
खल्वस्य ओषधिविकारस्य शरीरस्य 'तानि' मन्त्रोक्तानि शत-  
सङ्ख्याकानि 'धामानि' । धामशब्दस्य त्रयोऽर्थाः यास्केनोक्ताः,—  
"धामानि त्रयाणि भवन्ति,— स्थानानि, नामानि, जन्मानितीति\* ।  
"सप्त चेति । 'य एवेमे' 'सप्त' सप्तसङ्ख्याकाः 'शीर्षन्' शीर्ष्णं  
सम्बद्धाञ्चक्षुःश्रोत्रादिरूपाः 'प्राणाः' सप्त चेत्येतत्, तानेव  
'प्राणान्' प्रतिपादयतीत्यर्थः । उदीरितलक्षणाणि शतसङ्ख्याकानि  
धामानि, सप्तशीर्षणान् प्राणांश्च ओषधीनां सम्बन्धित्वेन जाना-  
मीत्यन्वयः ॥ २६ ॥

द्वितीयस्या ऋचः पूर्वार्धे मनूय व्याचष्टे— "शतं वो अम्बेति ।

‘इदम्’ इदानीं ‘शतधा’ शतप्रकारेण ‘सहस्रधा’ सहस्रप्रकारेण च ‘विरुद्धाः’ ‘उत्पन्नाः’ ओषधयो दृश्यन्त इति ‘यत्’, ‘एतत्’ एतेनार्धर्चेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । ‘अम्ब’ हे मातः ! ‘ओषधयः’ ‘वः’ युष्माकं ‘धामानि’ स्थानानि ‘शतं’ शतसङ्ख्याकानि । ‘उत’-शब्दोऽप्यर्थः । तथा ‘वः’ युष्माकं ‘रुहः’ प्ररोहाः अङ्गुरा अपि ‘सहस्रं’ सहस्रसङ्ख्याका इति ।

द्वितीयार्धे मनूय तात्पर्यं माह— “अथा शतक्रत्व इति । ‘अध’-शब्दो हेतौ । हे ‘शतक्रत्वः’ शतकर्माण ओषधयः ! ‘यूयं’ मदीयम् ‘इमं’ पुरुषं ‘अगदं’ व्याधिरहितं ‘कृत’ कुरुत । ‘यम् इमम्’ आतुर मिदानीम् अहं ‘भिषज्यामि’, त मेव कुरुतेत्येतदस्मै वाक्यस्य तात्पर्यं मित्यर्थः । “भिषज् चिकित्साया मिति धातुः \* कण्ठादिः ॥ २७ ॥

एव मृदुहयं व्याख्याय उत्तरासा मध्येव मेव व्याख्यान मित्यतिदिशति— “ता एता एकव्याख्याना इति । “ता एताः’ बीजावपनार्था ऋचः ‘एकव्याख्यानाः’ समानव्याख्यानाः, अतो न पृथक्तया व्याख्यायन्त इत्यर्थः ॥

अतिदिष्टं व्याख्यानं योजयति— “एत मेवाभीति । “इमं मे अगदं कृतेति । योऽयं पुरुषोऽनुक्रान्तः, एत मेवाभिलक्ष्य उत्तरा ऋचोऽप्यान्नाताः, तासाञ्चायं तात्पर्यगम्योऽर्थः,— ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘एत मेव’ पुरुषं चिकित्सको ‘भिषज्येत्’ भेषजैर्युक्तं कुर्यात्, तेन च भेषज्येन ‘एतं’ व्याधिग्रस्तं ‘पारयेत्’ पार मारोग्यं प्रापयेत्, हे ओषधयः ! तथा कुरुतेति शेषः ॥

तासां हृद्दोहारेण भेषजहेतुता माह— “ता अनुष्टुभी भवन्तीति । “वागु सर्व भेषज मिति । वाक् ऋतु सर्व भेषजम् ; तद्देतुत्वात् । एवं सति ‘एनं’ पुरुषविधं चेष्यमाण मग्निं ‘एतत्’ एतेनानुष्टुप्छन्दसः प्रयोगेण ‘सर्वेणैव भेषजेन’ भिषज्यति’ भेषजं कृतवान् भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ विहिताना मनडुद्योजनादीना मोषधिवापान्तानां कर्मणां समन्वकामन्वकत्वं सभूय स्तौति— “अथातो निरुक्ता-  
निरुक्ताना मेवेति \* । ‘अथ’ अनन्तरं यतः समन्वकामन्वक-  
भेदेन द्विविधानि विहितानि कर्माणि , अतः कारणात् तेषां  
‘निरुक्तानिरुक्तानां’ समन्वकामन्वकाणां विहिताना मेव कर्मणां  
स्तुतिः क्रियत इति शेषः । निरुक्तानिरुक्तानि कर्माणि क्रमे-  
णानुक्तामिति— ‘यजुषा’ मन्त्रेण “सीरा युञ्जन्ति”—इत्यादिकेन †  
‘ह्रीं धुर्यावनड्वाहौ युनक्ति’, ‘इतरान्’ अनडुहोऽग्रे बध्यमानान्  
तूष्णीं युनक्ति । तथा ‘चतस्रः सीताः’ पुरुषो मन्त्रेण ‘क्षपति’ ।  
‘इतराः’ द्वादश सीताः ‘तूष्णीं’ क्षपति । तूष्णीं दर्भस्तम्ब मित्याद्येवं  
व्याख्येयम् ॥ २९ ॥

एवं निरुक्तानिरुक्तभेदेन विहितानि कर्माण्यनूद्य चित्वाग्नि-  
रूपस्य प्रजपतेरपि निरुक्तानिरुक्तात्मना परिमितापरिमिता-  
त्मना च द्वैरूप्य माह— “प्रजापतिरेषोऽग्निरिति । ‘यः’ अय  
मग्निः ‘एषः’ एव ‘प्रजापतिः’ । यदेतन्निरुक्तानिरुक्तात्मक सुभय-  
विधं जगत्, असावेव स प्रजापतिः । अतो निरुक्तानिरुक्तजग-  
त्तादात्म्यात् प्रजापतिरपि ‘निरुक्तश्च’ ईदृगाकार इति निःशेषे-

\* का० श्रौ० १७. २. ११ ।

† वा सं० १२. ६७, ६८ ।

णीकृत्य , अनिरुक्तः तद्विपरीतः 'च' अत एव 'परिमितः' परि-  
च्छिन्नश्च , 'अपरिमितश्च' अपरिच्छिन्नश्च भवति ॥

इत्थं प्रजापतिरूपस्यापि निरुक्तानिरुक्तभेदेन द्वैविध्यं मुक्त्वा ,  
समन्वयेन निरुक्तेनानुद्योजनादिकर्मणा निरुक्तभागस्य , इतरणे-  
तरभागस्य च संस्कारं विभज्य योजयति -- "तद्यद्यजुषा करोतीत्या-  
दिना । विहदनुष्ठानं प्रशंसति -- "स ह वा इति । 'कृत्स्नं' सर्वावयव-  
सहितम् , 'सर्वं' निरवशेषम् ; अतो न पौनरुक्त्यम् । बाह्याभ्यन्तर-  
भावेन निरुक्तानिरुक्तधर्मयोगात् चित्याग्नेः पशुरूपंता मापाद्य  
स्तीति -- "बाह्यानि रूपाणि । यान्येतानि निरुक्तानि कर्माण्यनु-  
क्रान्तानि, तान्यग्नेः 'बाह्यानि रूपाणि' । अनिरुक्तानि 'अन्तराणि'  
अभ्यन्तरवर्तीनि भवन्ति । ईदृशो यदय मग्निः , एषः 'पशुः'  
एव, 'तस्मात्' एव कारणात् लोके 'पशोः' 'बाह्यानि' बहिरवस्थि-  
तानि 'रूपाणि' रोमादीनि 'निरुक्तानि', 'अन्तराणि' अस्त्रगादीनि  
'अनिरुक्तानि' च दृश्यन्ते ॥ ३० ॥ २ [ २. ४. ] ॥

इति श्रोसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोऽहर्द्वे निवारयन् ।

पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ २ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम् ,

सप्ताब्धीन् पञ्चसीद्भिस्त्रिदशतुल्यताधेनुसौवर्णभूमौः ।

रत्नोत्सां रत्नवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ ,  
 व्यन्नाणीद्विष्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटश्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
 आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मज्जत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

( अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

चितो गार्हपत्यो भवति \* । अचित आहवनीयो-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यथ वै लोको गार्हपत्यो द्यौरा-  
हवनीयोऽथ योऽयं व्यायुः पवत ऽएष सोम एतं  
तदिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ  
लोकावन्तरेण पवते ॥ १ ॥

युद्धेव चिते गार्हपत्ये † । अचित ऽआहवनीये ‡-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा ऽअग्निः प्राणः सोम  
आत्मन्स्तु प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादयं मात्मन्  
प्राणो मध्यतः ॥ २ ॥

युद्धेव चिते गार्हपत्ये § । अचित ऽआहवनीये-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा ऽअग्नी रसः सोम  
आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादयं मान्त्त मेवात्मा  
रसेनानुषक्तः ॥ ३ ॥

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

†, § 'गार्हपत्ये'—इति क, ख ।

‡ 'आहवनीये'—इति ख ।

राजानं क्रीत्वा पर्युह्य \* । अथात्मा ऽआतिष्ठ्य  
हविर्निर्वपति तस्य हविष्कृता व्याचं विसृजतेऽथ  
वा ऽएतद्व्यतिषजत्यध्वरकर्म चाग्निकर्म च कर्मणः  
समानतायै समानं मिदं कर्मासदिति ॥ ४ ॥

यद्वेव व्यतिषजति । आत्मा वा ऽअग्निः प्राणो  
ऽध्वरु आत्मंस्तुत् प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादयं  
मात्मान् प्राणो मध्यतः † ॥ ५ ॥

यद्वेव व्यतिषजति । आत्मा वा ऽअग्नी रुसो  
ऽध्वरु आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादयं मान्नु मेवा-  
त्मा रुसेनानुषक्तोऽथाहवनीयस्याहं मैति ॥ ६ ॥

तद्वेके । उभयत्रैव पलाशशाखया व्युदूहन्त्यु-  
भयत्र वै चिनोतीति न तथा कुर्यादवस्यति व्याव  
गार्हपत्येनोर्ध्व एवाहनीयेन रोहति तस्मात्तथा न  
कुर्यात् ॥ ७ ॥

अथ गार्हपत्य ऽएवोषान्निवपति ‡ । नाहवनीयेऽयं

\* पर्युह्य—इति ख । 'पर्युह्य'—इति ग, घ ।

† 'मध्यतः'—इति ग, घ ।

‡ 'निवपति'—इति ग, घ ।

वै लोकी गार्हपत्यः पशव ऊषा अस्मिंस्तुलोके पशून्  
दधाति तस्मादिमेऽस्मिंस्तुलोके पशवः \* ॥ ८ ॥

अथाहवनीय एव पुष्करपर्णं मुपदधाति । न  
गार्हपत्येऽद्यापो वै पुष्करपर्णं द्यौराहवनीयो दिवि  
तदपो दधात्युभयत्र सिकता निवपति रेतो वै  
सिकता उभयत्र वै विक्रियते तस्माद्रेतसोऽधि  
विक्रियाता ऽवृति ॥ ९ ॥

ता नाना मन्त्राभ्यां निवपति । मनुष्यलोको  
वै गार्हपत्यो देवलोक आहवनीयो नानो वा एत-  
द्यद्वैवं च मानुषं च द्राघीयसा मन्त्रेणाहवनीये नि-  
वपति ऋसीयसा गार्हपत्ये द्राघीयो हि देवायुषः  
ऋसीयो मनुष्यायुषः स पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्ह-  
पत्ये सिकता निवपति रेतो वै सिकता अस्मा-  
द्रेतसोऽधीमा विक्रियान्ता ऽवृति ॥ १० ॥

तदाहुः । यद्योनिः परिश्रितो रेतः सिकता  
अथ पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्हपत्ये सिकता निव-  
पति कथं मस्यैतद्रेतोऽपरासितं परिगृहीतं भवती-

\* 'पशवः'—इति क ६० 'पशवः'—इति ग, च ।



त्युल्वं वा ऽजुषास्तदादूषान् पूर्वान्निवपत्येतेनो हास्यै-  
तदुल्वेन० रेतोऽपरासित्तं परिगृहीतं भवत्यथाहव-  
नीये परिश्रितो ऽभिमन्त्रयते तस्योक्तो बन्धुरथ सि-  
कता निवपति रेतो वै सिकता एतयो ऽअस्यै-  
तद्योन्या रेतोऽपरासित्तं परिगृहीतं भवति\* ॥ ११ ॥

अथाहवनीय ऽएवाप्यानवतीभ्या † मभिमृशति ।  
न गार्हपत्येऽयं वै लोको गार्हपत्यः स्वर्गो लोको  
आहवनीयोऽहो वा ऽअयं मस्मिंल्लोके जातो यजमानः  
स्वर्गं ऽएव लोके प्रजिजनयिषितव्यस्तदादाहवनीय  
ऽएवाप्यानवतीभ्या ‡ मभिमृशति न गार्हपत्ये स्वर्गं  
ऽएवैनं तल्लोके प्रजनयति § ॥ १२ ॥

अथ लोकेष्टका ॥ उपदधाति । इमे वै लोका  
एषो ऽग्निर्दिशो लोकेष्टका ¶ एषु तल्लोकेषु दिशो  
दधाति तस्मादिमा एषु लोकेषु दिशः ॥ १३ ॥

बाह्येनाग्निं माहरति । आप्ता वा ऽअस्य ता

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

†, ‡ 'प्याप्यानवतीभ्याम्'—इति सायणसम्मत इति डा० वेबरः ।

§ 'प्रजनयति'—इति ग, घ ।

॥ 'लोकेष्टका'—इति सा० सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

दिशो या एषु लोकेष्वथ या इमांल्लोकान् पुरेण  
दिशस्ता अस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १४ ॥

बहिर्व्वेदेरियं वै व्वेदिः । आप्ता वा ऽअस्य  
ता दिशो या अस्या मथ या इमां पुरेण दिशस्ता  
अस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १५ ॥

यदेव लोकेष्टका उपद्वधाति । प्रजापतेर्व्विस्त-  
स्तस्य सुर्वा दिशो रसोऽनु व्यचरत् तं यत् देवाः  
समस्कुर्व्वस्तदस्मिन्नेताभिर्लोकेष्टकाभिस्त ए रस मदधु-  
स्तथैवास्मिन्नय मेतद्वधाति ॥ १६ ॥

वाङ्मेनाग्नि माहरति । आप्तो वा ऽअस्य स  
रसो य एषु लोकेष्वथ य इमांल्लोकान् पुराङ्गसो-  
ऽत्यचरत्त मस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १७ ॥

बहिर्व्वेदेरियं वै व्वेदिः । आप्तो वा ऽअस्य  
स रसो योऽस्या मथ य इमां पुराङ्गसोऽत्यचरत्त  
मस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १८ ॥

स्फ्येनाहरति । व्वज्जो वै स्फ्यो व्वीर्ये वै व्वज्जो  
व्वित्तिरियं व्वीर्येण वै व्वित्तिं व्विन्दते ॥ १९ ॥

स पुरस्तादाहरति । मा मा हिंसीज्जनिता यः

पृथिव्या इति प्रजापतिर्वै पृथिव्यै जनिता मा मा  
 हि०सीत् प्रजापतिरित्येतद्यो वा दिव० सत्यधर्मा  
 व्यनडिति यो वा दिव० सत्यधर्मासृजतेत्येतद्यश्चा-  
 पञ्चन्द्राः प्रथमो जजानेति मनुष्या वा ऽपञ्चन्द्रा  
 यो मनुष्यान् प्रथमो ऽसृजतेत्येतत् कस्मै देवास  
 इविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्मै इविषा  
 विधेमेत्येतत् ता माहृत्यान्तरेण परिश्रित आत्मन्नु-  
 पदधाति स यः प्राच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत् त  
 मस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्राची मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधातिः  
 ॥ २० ॥

अथ दक्षिणतः । अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन  
 पयसा सहेति यथैव यजुस्तथा बभ्रुर्व्वपां ते ऽग्नि-  
 रिति तो ऽअरोहदिति यद्वै किं चास्यां सास्यै  
 व्वपा ता मग्निरिति उपादीसो रोहति ता माह-  
 त्यान्तरेण पक्षसन्धि मात्यन्नुपदधाति स यो दक्षि-  
 णायां दिशि रसो ऽत्यक्षरत् मस्मिन्नेतद्दधात्यथो  
 दक्षिणा मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति † ॥ २१ ॥

अथ पश्चात् \* । अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्  
 पूतं यच्च यज्ञियं मितीयं वा ऽअग्निरस्यै तदाह  
 तद्देवेभ्यो भरामसीति तदस्मै देवाय कर्मणे  
 हराम इत्येतत्ता माहृत्यान्तरेण पुच्छसन्धि मात्मन्नु-  
 पदधाति स यः प्रतीच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत् त  
 मस्मिन्नेतदधात्यथो प्रतीची मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति  
 स न समप्रति पश्चादाहरेन्नेद्यज्ञपथाद्रस माहुराणी-  
 तीत इवाहरति † ॥ २२ ॥

अथोत्तरतः ‡ । इष मूर्जं मह मित आद मितो-  
 ष मूर्जं मह मित आदद ऽइत्येतद्वतस्य योनि मिति  
 सत्यं वा ऽऋतुः सत्यस्य योनि मित्येतन् 'महिषस्य  
 धारा मित्यग्निर्वै महिषः स हीदं जातो महान्त-  
 सूर्जं मैशादा मा गोषु विश्वा तनूष्वित्यात्मा वै  
 तनूरा मा गोषु चात्मनि च विश्वत्वित्येतज्जहामि  
 सेदि मनिरा ममीवा मिति सिक्ताः प्रह्वंसयति

\* 'पश्चात्'—इति ग, घ ।

† 'इवाहरति'—इति ग, घ ।

‡ 'अथोत्तरतः'—इति ग, घ ।

तद्यैव सिदिर्यानिरा यामौश ता मेतस्यां दिशि  
 दधाति . तस्मादेतस्यां दिशि प्रजा अशनायुकास्ता  
 माहृत्यान्तरेण पक्षसन्धि मात्मन्नुपदधाति स य  
 उदीच्यां दिशि रसो ऽत्युच्चरत्तु मस्मिन्नेतद्दधात्यथो  
 ऽउदीची मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति ॥ २३ ॥

ता एता दिशः । ताः सर्व्वत उपदधाति  
 सर्व्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात् सर्व्वतो दिशः  
 सर्व्वतः समीचीः \* सर्व्वतस्तत् समीचीर्द्दिशो दधाति  
 तस्मात् सर्व्वतः समीच्यो दिशस्ता नानोपदधाति  
 नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना  
 हि दिशस्तिष्ठन्नुपदधाति तिष्ठन्तीव हि दिशोऽथो  
 तिष्ठन्वै व्यीर्य्यवत्तरः ॥ २४ ॥

ता एता यजुष्मत्य इष्टकाः । ता आत्मन्ने-  
 वोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन् ह्येव यजुष्मत्य इष्टका  
 उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु ॥ २५ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैताः पक्ताः श्रुता उपहिता  
 भवन्तीति रसो वा ऽएताः स्वयं श्रुत उ वै रसो-

ऽथो यद्वै किं चैत मग्निं वैश्वानरं मुपनि-  
गच्छति तत् एव तत् पक्वञ् शृतं मुपहितं  
भवति \* ॥ २६ ॥

अथोत्तरव्वेदिं निवपति । इयं वै व्वेदि-  
र्योत्तरवेदिर्दिशो लोकेष्टकास्तद्यदन्तरेण व्वेदिं  
चोत्तरवेदिं च लोकेष्टका उपदधातीमौ तन्नोका-  
वन्तरेण दिशो दधाति तस्मादिमौ लोकावन्त-  
रेण दिशस्तां युगमावीं वा सर्व्वतः करोति च-  
त्वारिंशत्पदां वा यतरथा कामयेताथ सिक्ता  
निवपति तस्योक्तो बभूवुः ॥ २७ ॥

ता उत्तरवेदौ निवपति । योनिर्व्व्यां ऽउत्तर-  
वेदिर्योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्वै योनौ रेतः सिञ्चते  
तत्प्रजनिषु भवति ताभिः सर्व्वं मात्मानं प्रच्छा-  
दयति सर्व्वं स्मिंस्तदात्मन्वेतो दधाति तस्मात् सर्व्व-  
स्मादेवात्मनो रेतः सम्भवति † ॥ २८ ॥

अग्ने तुव श्रवो व्वय इति । धूमो वा ऽश्वस्य

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

† 'सम्भवति'—इति क, 'सम्भवति'—इति ख ।

श्रवो व्ययः स ह्येन ममुषिंस्त्रोक्ते श्रावयति महि  
 भाजन्ते . पश्चयो विभावसविति महतो भाजन्ते-  
 ऽर्चयः प्रभूवसवित्येतद् बृहन्नानो श्रवसा व्याज  
 मुख्य मिति बलं वै श्रवो बृहन्नानो बलेनान्न  
 मुख्य मित्येतद्धासि दाशुषे कव ऽकृति यज-  
 मानो वै दाश्वान्धासि यजमानाय कव ऽकृत्ये-  
 तत् ॥ २६ ॥

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा इति । पावकवर्चा  
 ह्येष शुक्रवर्चा अनूवर्चा उदियर्षि मानुनेत्य-  
 नूवर्चा उद्दीप्यसे भानुनेत्येतत् पुत्रो मातरा  
 विचरन्नुपावसीति पुत्रो ह्येष मातरा विचरन्नु-  
 पावति पृथञ्चि रोदसी ऽउभे ऽकृतीमे वै द्यावा-  
 पृथिवी रोदसी ते ऽएष उभे पृथञ्चि धूमेनामूं  
 वृष्ट्येमाम् \* ॥ ३० ॥

जुज्जीनपाज्जातवेदः सुशस्तिभिरिति† । जुज्जी-  
 नपाज्जातवेदः सुष्टुतिभिरित्येतन् मन्दस्व धीतिभि-

\* 'वृष्ट्येमाम्'—इति ग, घ ।

† 'सुशस्तिभिरिति'—इति क, 'सुशक्तिभिरिति'—इति ग, घ ।

र्हित इति दीप्यस्व धीतिभिर्हित इत्येतच्चे ऽद्वेषः  
 सुन्दधुर्बहुवर्षस इति त्वे ऽद्वेषः सुन्दधुर्बहुवर्षस \*  
 इत्येतच्चिद्वोतयो व्वामजाता इति यथैव यजु-  
 स्तथा बन्धुः ॥ ३१ ॥

इरज्यन्नने प्रथयस्व जन्तुभिरिति । मनुष्या  
 वै जन्तवो दीप्यमानो ऽने प्रथयस्व मनुष्यैरित्येत-  
 दस्मै रायो ऽश्ममर्त्येयस्मै रयिं दधदमर्त्येत्येतत् सु-  
 दर्शतस्य व्वपुषो व्विराजसीति दर्शतस्य ह्येष व्वपुषो  
 व्विराजति पृणञ्चि सानसिं क्रतु मिति पृणञ्चि  
 सनातनं क्रतु मित्येतत् ॥ ३२ ॥

द्वष्कर्त्तार मङ्गुरस्य प्रचेतस मिति । अङ्गुरो वै  
 यज्ञः प्रकल्पयितारं यज्ञस्य प्रचेतस मित्येतत्  
 ज्यन्तु राधसो मह इति ज्यन्तु राधसि  
 महतीत्येतद्वातिं व्वामस्य सुभगां मही मिष मिति  
 रातिं व्वामस्य सुभगां महती मिष मित्येतद्वासि  
 सानसि रयि मिति द्वासि सनातन रयि  
 मित्येतत् ॥ ३३ ॥

\* 'सुन्दधुर्बहुवर्षस'—इति च दृष्टं, डा० वेबरमहोदयेन ।



ऋतावान मिति । सत्यावान मित्येतन् म-  
 हिष मिथ्यग्निर्वै महिषो विश्वदर्शत मिति विश्व-  
 दर्शतो ह्येषोऽग्निः सुन्नाय दधिरे पुरो जुना  
 इति यज्ञो वै सुम्नं यज्ञाय वा ऽएतं पुरो  
 दधते श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा  
 युगेत्याश्रुत्वन्तं सप्रथस्तमं त्वा गिरा देवं मनुष्या  
 इवामह ऽब्रुव्येतत् \* ॥ ३४ ॥

स एषोऽग्निरेव वैश्वानरः । एतत् षडृच  
 मारम्भायैवेमाः सिकता न्युष्यन्तेऽग्नि मेवास्मिन्ने-  
 तद्वैश्वानरः रेतो भूतः सिञ्चति षडृचेन षडृतवः  
 संव्यत्सरः संव्यत्सरो वैश्वानरः † ॥ ३५ ॥

तदाहुः । यद्रेतः सिकता उच्यन्ते कि मा-  
 सा रेतो रूप मिति ‡ शुक्ला इति ब्रूयाच्छुक्लः  
 हि रेतोऽथो पृश्नय इति पृश्नीव हि रेतः ॥ ३६ ॥

तदाहुः । यदार्द्रं रेतः शुष्काः सिकता

\* 'ऽब्रुव्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'वैश्वानरः'—इति ग, घ ।

‡ 'रेतो रूप मिति'—इति क, ख ।

निवृपति कथं मस्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्तीति  
 रसो वै छन्दाऽऽर्द्रा उ वै रसस्तद्यदेनाच्छन्दो-  
 भिर्निवृपत्येव मु हास्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्ति  
 ॥ ३७ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैता अहोरात्राभ्या मुप-  
 हिता भवन्तीति । द्वे वा अहोरात्रे शुक्लं च कृष्णं  
 च द्वे सिकते शुक्ला च कृष्णा चैव मु हास्यैता  
 अहोरात्राभ्या मुपहिता भवन्ति ॥ ३८ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैता अहोरात्रैः सम्पन्ना  
 अन्यना अनतिरिक्ता उपहिता भवन्तीत्यनन्तानि  
 वा ऽअहोरात्राख्यनन्ताः सिकता एव मु हास्यैता  
 अहोरात्रैः सम्पन्ना अन्यना अनतिरिक्ता उपहिता  
 भवन्त्यथ कस्मात् समुद्रियं छन्द इत्यनन्तो वै स-  
 मुद्रोऽनन्ताः सिकतास्तुत् समुद्रियं छन्दः ॥ ३९ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैताः पृथङ् नाना यजुर्भि-  
 र्मुपहिता भवन्तीति मनो वै यजुस्तदिदं मनो  
 यजुः सन्धाः सिकता अनुविभवत्येव मु हास्यैताः  
 पृथङ् नाना यजुर्भिरुपहिता भवन्ति ॥ ४० ॥

तदाहुः । कथं मस्यैताः सर्व्वैश्छन्दोभिरुप-  
हिता भवन्तीति यदेवैना एतेन षडृचेन निवपति  
यावन्ति हि सप्तानां छन्दसा मन्त्राणि तावन्त्ये-  
तस्य षडृचस्याचराण्येव मु हास्यैताः सर्व्वैश्छन्दो-  
भिरुपहिता भवन्ति ॥ ४१ ॥

यदेव सिकता निवपति । प्रजापतिरेषोऽग्निः  
सुर्व्वं मु ब्रह्म प्रजापतिस्तद्वैतद् ब्राह्मण उत्सन्ने \*  
यत् सिकता अथ यदनुत्सन्नं मिदं तद्योऽयं मग्नि-  
ञ्जीयते तद्यत् सिकता निवपति यदेव तद् ब्राह्मण +  
उत्सन्नं तदस्मिन्नेतद्व्यतिदधाति ता असङ्ख्याता  
अपरिमिता निवपति को हि तदेदं यावत् तद्  
ब्रह्मण † उत्सन्नं ‡ स ह वा ऽएतं सुर्व्वं कृत्स्नं  
प्रजापतिं संस्करोति य एवं विद्वान्सिकता  
निवपति ॥ ४२ ॥

तदाहुः § । कौतासा मुसङ्ख्यातानां सङ्ख्येति  
हे ऽद्विती ब्रूयाद् हे हि सिकते शुक्ला च कृष्णा चाथो

\* , † , ‡ 'ब्राह्मण'—इति क, ख ।

§ 'तदाहुः'—इति ग, घ ।

सप्तविंशतिशतानीति ब्रूयादेतावन्ति हि संवत्स-  
रस्त्राहोरात्राण्यथो हे दापञ्चाशे शते ऽवत्येतावन्ति  
स्त्रोतस्य षड्विंशत्यहोराण्यथो पञ्चविंशतिरिति पञ्च-  
विंशत् हि रेतः ॥ ४३ ॥

ता एता यजुष्य इष्टकाः । ता आत्मन्ने-  
वोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन् स्त्रेव यजुष्य इष्ट-  
का उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु न सादयति नेद्रेतः  
प्रजातिः \* स्थापयानीति † ॥ ४४ ॥

अथेना आप्यानवतीभ्या मभिसृशति । इदं  
मेवैतद्रेतः सिक्तं माप्याययति तस्माद्योनौ रेतः  
सिक्तं माप्यायते सौमीभ्यां प्राणो वै सोमः प्राणं  
तद्रेतसि दधाति तस्माद्रेतः सिक्तं प्राणं मभि-  
सृशति पृथेह यदृते प्राणात् सन्मन्त्रेदेषो ह्येवात्र ‡  
सूददोहाः प्राणो वै सोमः प्राणः सूददोहाः  
॥ ४५ ॥

\* 'प्रजनयति'—इति क ।

† 'स्थापयानीति'—इति ग, घ ।

‡ 'देवां ह्येवात्र'—इति च डष्टं ड१० वेवरमहोदयेन ।

माप्यायस्व सुमेतु ते । विप्रुतः सोम  
 वृष्णा मिति रेतो वै वृष्णा माप्यायस्व सु मेतु  
 ते सर्वतः सोम रेत इत्येतद् भवा व्वाजस्य सङ्गथ  
 ऽइत्यन्ने वै व्वाजो भवान्नस्य सङ्गथ ऽइत्येतत् सं  
 ते पयांसि स मु यन्ति व्वाजा इति रसो वै  
 पयोऽन्ने व्वाजाः सं ते रसाः स मु यन्त्वन्नानीत्ये-  
 तत्सं वृष्णान्यभि मातिषाह इति स रेतो-  
 सि पाप्मसह इत्येतदाप्यायमानो ऽश्मृताय सो-  
 मेति प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात् प्रजाति-  
 रमृता दिवि श्रवांस्तुतमानि धिष्येति चन्द्रमा  
 वा ऽश्मृता दिवि श्रव उत्तमं स ह्येन ममुषिंल्लोके  
 श्रावयति द्वाभ्या माप्याययति गायत्र्या च त्रिष्टुभा  
 च तस्योक्तो बभूवुः ॥ ४६ ॥

अथातः सम्पदेव \* । चतस्रो लोकेष्टका उप-  
 दधाति षड्वेन निवपति द्वाभ्या माप्याययति  
 तद् द्वादश द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो-

\* 'सम्पदेव'—इति ग, घ ।

ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत् तद् भव-  
ति ॥ ४७ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [३. १.]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्धामे, त मङ्गं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ साग्नित्वे क्रतौ सोमक्रयणस्य कालं विधाय स्तौति —  
“चितो गार्हपत्य इति । गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्यकाले  
चोदकप्राप्तः सोमक्रयः कर्त्तव्य इत्यर्थः । सोमस्य गार्हपत्या-  
हवनीययोर्मध्येऽवस्थानं लोकत्रयरूपेणोपपादयति — “अयं वै  
लोक इति । भूलोकस्वर्लोकौ गार्हपत्याहवनीयौ । ‘यो-  
ऽयं वायुः पवते’, ‘एषः’ एव क्रियमाणः ‘सोमः’; तत्-  
क्रयस्य गार्हपत्यचयनादुर्ध्वं माहवनीयचयनात् पूर्वं मेतस्मिन्  
समयेऽनुष्ठाभात् । ‘एतं’ सोमात्मकं वायुं ‘इमौ लोकावन्तरेण’  
अनयोर्लोकयोर्मध्ये ‘दधाति’ स्थापयति । “अन्तरान्तरेणेति \*  
द्वितीया । यस्मादेवं वायुसंस्तुतः सोमो मध्ये क्रियते, तस्मा-  
देव दृश्यमानो ‘वायुः’ ‘इमौ लोकौ’ भूलोकस्वर्लोकौ ‘अन्तरेण’  
‘पवते’ परिवर्त्तते ॥ १ ॥

इत्थं सोमक्रयस्य मध्येऽनुष्ठानं सधिलोकं स्तुत्वा अध्यात्म  
मपि स्तौति — “यद्देवेति । “आत्मा वा अग्निरिति । गार्ह-

पत्याहवनीयचित्प्रात्मकः 'अग्निः' 'आत्मा' विस्तृतावयवस्य प्रजा-  
पतेः शरीरम् । तन्मध्यवर्ती प्राणवायुः 'सोमः' ; अतस्तस्य  
गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्ये क्रियमाणत्वात् 'आत्मन्' आत्मनि  
शरीरे 'प्राण मेव मध्यतो दधाति' धारयति । 'तस्मात्' एव  
कारणात् पञ्चदश्यात्मकः 'अयम् प्राणः' सर्वप्राणिनां 'आत्मन्'  
आत्मनि शरीरे 'मध्यतः' दृश्यते ॥ २ ॥

राजक्रयस्य मध्येऽनुष्ठानं मनूय क्त्वा शरीरे रसानुषङ्गहेतुत्वेनापि  
स्तीति — "यहेवेति । "रसः सोम इति । अभिषवादिसंस्कृतो  
हि सोमः सुखादिवधे रसात्मको भवति ; शरीरसंस्तुतयोर्गार्हपत्या-  
हवनीयनयोर्मध्ये रसात्मकस्य तस्यानुप्रवेशात् । 'आत्मानं' शरीरम्  
आध्यायनहेतुना 'रसेन' 'अनुषजति' अनुषक्तं मनुस्यूतं करोति ।  
'तस्मात्' एव कारणात् 'अयं मात्मा' देहः 'आत्मं' शिरःप्रभृति  
पादपर्यन्तं 'रसेन' 'अनुषक्तः' व्याप्तो दृश्यते ॥ ३ ॥

आतिष्णहविष्कृदन्ते आहवनीयचितिसंस्कारं विधिष्युः, ततः  
प्राक्तनं चोदकप्राप्तं प्रयोगजातं मनुक्रामति — "राजानं क्रीत्वेति ।  
क्रयानन्तरम्, क्रीतस्य परिवहणं कृत्वापि अनन्तरम्, 'अक्षौ'  
सोमाय 'आतिष्यं' पूजार्हं 'हविः' प्रकृतिवत् 'निर्वपति' ; 'तस्य'  
कर्मणः सन्ध्विना 'हविष्कृता' । "हविष्कृदेहोति मन्त्रेण \* प्राङ्-  
नियमितां 'वाचं' 'विस्जते' † । अस्मिन् समये आहवनीयचिति-  
संस्कारं विधिष्युस्तदुपोद्घातत्वेन सौमिकाग्निकयोः कर्मणोः  
परस्परं व्यतिषङ्गं विधत्ते — "अथै वा इति । 'अथ' खलु 'एतत्'  
एवं कुर्वन्मर्त्युः 'व्यतिषजति' व्यतिषक्तं परस्परं सङ्गतं

\* वा० सं० १. १५ ३ ।

† अत० भा० १. १. ४. ११ (१ भा० ७४ पृ०.) द्रष्टव्यम् ।

करोति । “अन्जं सङ्गे \*”—इत्यस्माज्जटि “दंशसंस्त्रवकां शपि”—  
इत्यनुनासिकलोपः † । किन्तदिति तदाह—“अध्वरेति । व्यति-  
षङ्गस्य प्रयोजनं माह—“कर्मण इति । सौमिकान्निकर्मदेन द्विवि-  
धस्य कर्मणः ‘समानतायै’ एकोभवनार्थम् । ननु व्यतिषङ्गमात्रात्  
कथं मनयोरेक्यसिद्धिः, तत्राह—“समानं भिदं मिति । ‘इदम्’  
अनुष्ठेयमानं सौमिकं मान्निकं च ‘कर्म’ ‘समानम्’ एकम्  
‘असत्’ भवेत् ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तदुभयं व्यतिषजति;  
न खलु व्यतिषङ्गं मन्तरेणानयोरेक्यसिद्धि रिति भावः ॥ ४ ॥

अतद्व्यतिषज्जनं मनूय स्तौति—“यद्वेवेति । “प्राणोऽहुर इति ।  
‘अहुरः’ सोमयागः प्राणस्थानीयः, ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘मध्यतः’  
मध्ये ‘तत्’ ‘प्राणं’ स्थापयति । ‘तस्मादयं प्राणः’ शरीरमध्ये  
वर्तत इति शेषः ॥

तथा—“रसोऽहुर इति । ‘अहुरः’ सोमयागो रसस्था-  
नीयः; सर्वप्रकृतित्वात् । गतं मन्यत् । वाग्विसर्जनामन्तरं माह-  
वनीयसमीपदेशगमनं विधत्ते—“अथाहवनीयस्यार्धं मैतेति ।  
अर्धशब्दो देशवाचो । ‘आहवनीयस्य’ अग्नेः यत् स्थानं कर्ष-  
णादिसंस्कारसंस्कृतं ऋषिष्कृदाह्वानानन्तरम्, तत् स्थानं माग-  
च्छेदित्वर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

गार्हपत्यस्थानवदाहवनीयस्थानस्यापि पलाशशाखया व्युद-  
हनं भिकीयमतेनोपम्यस्य दूषयति—“तद्वैक इति ‡ । ‘तत्’  
तत्र उभयत्रैव, गार्हपत्ये आहवनीये च ‘एके’ शाखिनः ‘पलाश-

\* आ० आ० ६८७ घा० ।

† पा० सू० ६. ४. ३५ ।

‡ का० श्री० खं० १७. १. ३५



शास्त्रया व्युद्बुद्धं कुर्वन्ति । 'उभयत्र' खलु 'चिनोति' इति तत्र हेतुः । व्युद्बुद्धस्य चयनार्थत्वात् आहवनीयचितावपि तत् कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

तदेतन्निराकरोति— “न तथेति । प्रतिज्ञातं मर्थं सुप-  
पादयति— “अवस्यति वावेति । गार्हपत्यचयनेन हि यं प्रदेशं  
मध्यवस्यति मध्यवसानसमये भूशोधनार्थं व्युद्बुद्धं मपेक्षितम्,  
अथ पुनरारोहणसमये आहवनीयचयनेनाप्युद्बुद्धं सन्नारोहति,  
'तस्मात्' 'तत्र' कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

गार्हपत्यचित्रित्वत् प्रसक्तं सूषाणां निवपनं मपि तत्रैव  
कर्त्तव्यमिति निगमयति— “अथ गार्हपत्य एवेति । एव-  
कारव्यवच्छेदं माह— “आहवनीये इति । अत्र हेतुमाह—  
“अयं वै लोक इति । भूरिति व्याहृत्या आहितत्वाद् गार्ह-  
पत्यो भूलोकात्मकः ; “भूरिति गार्हपत्यमादधाति”—इति हि  
ब्राह्मणम् ।\* जषरप्रदेशस्य पशुभिल्लेख्यमानत्वात् जषाणां पश्व-  
रत्नकत्वम् ॥ ८ ॥

अथाहवनीये प्रतिनियतं विधास्यमानं पुष्करपर्णोपधानं  
मनूय प्रतिनियतफलप्रतिपादनेन स्तौति— “अथाहवनीय  
एवेति । अवधारणफलमाह— “न गार्हपत्य इति । अत्र हेतु-  
माह— “आपो वा इति । पुष्करपर्णस्यासु जननात् तदवात्मक-  
मित्यर्थः । “द्वीराहवनीय इति । सुवरिति व्याहृत्या आहित-  
त्वाद् आहवनीयो द्युलोकात्मकः । 'तत्' तत्र पुष्करपर्णोपधानेन  
द्युलोके 'अपः' उदकानि हव्युपादानत्वेन स्थापयतीत्यर्थः ॥

गार्हपत्यवदाहवनीयेऽपि सिकतानिवपनं कर्त्तव्यमिति  
विधत्ते— “उभयत्रेति । तदेतदुपपादयते— “स्तौ वा इति ।

सितभास्वरत्वादिरूपसाम्यात् सिकतानां रेतस्त्वम्, 'उभयत्र' गार्हपत्यस्थाने आहवनीयस्थाने च चितिरूपेण चित्त्वोऽग्निः 'विक्रियते' विशिष्टरूपवान् क्रियते । विक्रियमाणश्चासौ 'तस्मात्' सिकतालक्षणात् 'रेतसः' 'अधि' उपरि 'विक्रियाते' विक्रियेत, विक्रितिं भजत । 'इति' अनेनाभिप्रायेण उभयत्र सिकतानां निवपनम् ॥ ८ ॥

उभयत्र मन्त्रभेदं विधाय स्तौति — “ता नाना मन्त्राभ्या मिति । 'ताः' सिकताः भिन्नमन्त्राभ्या मित्यर्थः । “अग्नेर्भस्मा- स्तौति \* हि मन्त्रेण गार्हपत्ये सिकतानिवपनं विहितम् † ; “अग्ने तव श्रवो वय ‡ इत्याहवनीये सिकतानिवपनस्य मन्त्रो विधा- स्यते § । एवं नानामन्त्रत्व मनुद्य स्तूयते — गार्हपत्याहवनीययो- र्भूलोकस्वर्लोकालोककल्पं क्रमेण प्रतिपादितम्, “नानो वा एत- दिति । 'देव' देवसम्बन्धि, 'मानुषं' मनुष्यसम्बन्धि च यदे- तत् स्थानद्वयम्, तदेतन्नानैव खलु विभिन्न मेव । 'मन्त्रं दैर्घ्य- ऋत्वंत्वाभ्यां स्तौति — “द्राघीयसेति । “अग्ने तव श्रव इति मन्त्रः, “अग्नेर्भस्मास्तौति मन्त्रापेक्षया 'द्राघीयान्' अतिशयेन दीर्घः ; तेन 'मन्त्रेण' आहवनीये सिकता निवपति । 'ऋसी- यसा' ऋक्षतरेण 'अग्नेर्भस्मास्तौति' 'मन्त्रेण । मन्त्रगतं द्राघीयत्वं ऋसीयत्वं च प्रतिपादयति — “द्राघीयो होति । दीर्घतमं हि 'देवायुषं' देवाना मायुर्जीवितम्, 'ऋसीयः' ऋक्षतमं स्वस्य हि

\* वा० सं० १२. ४६. २ ।

† पुरस्तात् १ प्र० १ ब्रा० ८ क० ( ४, २१८० ) दृश्यम् । ।

‡ वा० सं० १२. १०६ ।

§ पुरस्तादिहैव ऋषिकायां ( १५६ ८० ) दृश्यम् ।

‘मनुष्यायुषं’ मनुष्यजीवितम् ; अतो द्वेषोक्तमनुष्यलोकासंस्तु-  
तयोराहवनीयमार्हपत्ययोस्तादृक् मन्वसम्बन्धो युक्त इत्यर्थः ॥

मार्हपत्यचयने सिकतानिवपनस्य परिश्रितां पूर्वभाषित्व  
मनुष्य स्तीति — “स पूर्वा इति । तथा निवयने कारण  
माह — “रेतो वै सिकता इति । ‘अस्मात्’-सिकतारूपात्  
‘रेतसः’ ‘अधि’ उपरि ‘इमाः’ परिश्रितो ‘विक्रियामै’ विविष्ट-  
रूपाः कृता भवेयुः । अन्यथा हि निरुपादानत्वात् परिश्रितां  
विक्रिया न स्यादिति भावः ॥ १० ॥

सिकतानिवपनस्य परिश्रितां पूर्वत्वे दोषं दर्शयति —  
“तदाहुरिति । ‘तत्’ तत्र विषये ‘आहुः’ चोदयन्ति ब्रह्म-  
वादिनः । योनौ हि रेतः सिध्यते, परिश्रितश्च योनिसंस्तुताः ;  
तथा सति ‘अस्य’ अग्नेः ‘एतत्’ सिकतारूपं ‘रेतः’ ‘अपरासितं’  
आधारादन्यत्र सितम् ; परिश्रिद्रूपयोन्यभावात् कथं परिगृहीतं  
परिवेष्टितं भवतीत्यस्य चोद्यस्य परिहार माह — “उत्सवं वा  
ज्जषा इति । गर्भस्यान्तर्वेष्टनं सुखं, तत्संस्तुता जषाः ; तेषां  
पूर्वनिवपनात् तदनन्तरम् न्युप्तं सिकतारूपं ‘रेतः’ ; तेनोत्पन्न  
‘अपरासितं’ गर्भाशयादन्यत्र सितं ‘परिगृहीतं’ परिवेष्टितं  
च ‘भवति’ ।

आहवनीयचितौ तु सिकतानिवपनात् पूर्वं परिश्रिद्धिः  
परिश्रयणं मभिप्रेत्य तदभिमतत्वं विधत्ते — “अयाहवनीय इति\* ।  
मार्हपत्यचयनादाहवनीयचित्तैर्वैलक्षण्यद्योतकः ‘अथ’-शब्दः । आह-  
वनीयचितौ सिकतानिवपनात् पूर्वं परिश्रितसंज्ञकान् शर्करा-

परपर्यायान् शुद्धपावाण मभिमन्त्रयते— “चितः स्थितिः \* मन्त्रेण ।  
सूत्रितं हि—“आहवनीयपरिश्रितोऽभिमन्त्रयते चितः, स्थेतीति† ।  
परिश्रितिधिशेषः मर्थवादवाक्यं प्रागाप्तातम् ‡— “योनिर्वै परि-  
श्रित्”—इत्यादिक् सतिदिशति— “तस्योक्त इति । ‘तस्य’ परि-  
श्रयणस्य विधिशेष उक्तः ।

सिकतानिवपनं विधाय स्तौति— “अथ सिकतानिवपतीति ।  
‘अथ’ परिश्रयणान्तरम् । “रेतो वा इत्याद्युक्तार्थः, § ॥ ११ ॥  
न्युत्तानां सिकतानां समन्त्रकः मभिमर्शनं विधत्ते—  
“अथाहवनीय इति ॥ । अहवनीयस्थाने न्युत्ताना मेव सिकता-  
नाम् ‘आप्यायनवतीभ्यां’ आप्यायतिधातुनिष्पन्नशब्दयुक्ताभ्याम्,  
“आप्यायस्वसन्ते ॥”—इत्येताभ्यां ‘सृग्भ्या मभिमर्शनं कर्त्तव्य-  
मित्यर्थः । अवधारणफलमाह— “न गार्हपत्य इति । एतदेवो-  
पपादयति— “अयं वा इत्यादिना । ‘अस्मिंल्लोके जातः’ ‘अवम्’  
‘यजमानः’—इत्ययं मर्थः । ‘अर्धः’ प्रत्यक्षसिद्धः, न यन्त्रसम्पाद्यः ।  
‘स्वर्गे लोके एव’ हि ‘प्रजिजनयिषितव्यः’ प्रजनयितुं प्रकर्षेणोत्पा-  
दयितुं मिष्टः, अतः स्वर्गलोकसंलुते ‘गार्हपत्ये’ तत्र स्वभावेन एव  
जातत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

\* वा० सं० १२. ४६. ३ ।

† का० श्री० सू० १७. ३. ६ ख ।

‡ पुरस्तात् १५३ पृ० १५ पं० दृश्यम् ।

§ पूर्वमेव ६-कण्ठीभाष्यं द्रष्टव्यम् ( १७० पृ० ) ।

॥ का० श्री० सू० १७. ६. १६ ।

¶ वा० सं० १२. ११२, ११३ ।

अथ लोकेष्टकानां सुपधानं विधत्ते— “अथेति \* । तदेतत् प्रशंसति—, “इमे वै लोका इति । ‘इमे’ खलु पृथिव्यादयस्त्रयो ‘लोकाः’ । ‘एषः’ एव खलु ‘अग्निः’ । लोकसंलुताभिस्त्रिभिः स्वयमात्मन्नाभिर्युक्तत्वात् लोकत एव सिद्धाः लोष्टरूपा इष्टकां ‘लोकेष्टकाः’, परोक्षं ‘लोगेष्टका इत्युच्यन्ते † । तथाविधत्वं च तैत्तिरीये आन्नायते— “दिग्भ्यो लोष्टान् समस्यति, दिशा मेव वीर्यं मवरुद्धे”—इति ‡ लोकसम्बन्धिन्यः प्राच्यादिदिशः ता लोकेष्टकाः । अतस्तदुपधानेन ‘एषु’ एव लोकेषु ता एव ‘दिशः’ स्थापयति । ‘तस्मात्’ एव कारणात् ‘इमाः’ प्राच्यादि-‘दिशः’ ‘एषु लोकेषु’ दृश्यन्ते ॥ १२ ॥

वेदेर्बाह्यदेशेनेष्टकानां मांहरणं विधाय स्तीति— “बाह्ये-  
नाग्निमिति । अग्निबाह्येन अग्निक्षेत्राद्बाह्यदेशेनेता इष्टकाः  
‘आहरति’ । “आप्ता वा इत्यादि । ‘अस्य’ अग्नेः यजमानस्य  
वा ‘ता दिशः’ ‘आप्ताः’ प्राप्ताः । ‘याः’ इमाः ‘एषु’ लोकेषु  
दृश्यन्ते । ‘अथ’ या ‘दिशः’ ‘इमान् लोकान्’ परेण एभ्यो लोकेभ्यो  
बहिर्वर्त्तन्ते, ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘एतत्’ एतेन बाह्यदेशादाहरणेन  
‘दधाति’ धारयति ॥ १४ ॥

आहरणस्याग्निक्षेत्रापेक्षया बहिर्देशसम्बन्धः, वेद्यपेक्षयापि  
तथात्वं विधत्ते— “बहिर्वेदेरिति § । अग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वात् ततो  
बहिराहरणम्, लोकत्रयाद् बहिरवस्थितानां दिशा माप्तिहेतु-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. ११ ।

† ‘लोगेष्टकाः नृसखजानि’—इति कर्काचार्यः ।

‡ तै० सं० ५. २. ५. २० दृष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

रित्युक्तम् ; इदानीं तु वेदेर्भूमिरूपत्वात् अस्या बहिरवस्थिताः  
यावत्यो दिशः , तासां प्रात्यर्थं वेदिवाङ्मदेशादाहरणं मित्वभिप्रे-  
तोऽर्थः । “अथ या इमां परेणेति । ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘परेण’  
परस्ताद् , बहिरित्यर्थः । “एनवन्यतरस्याम्”—इति \* परशब्दा-  
देनम् , “एनपा द्वितीया” † ॥ १५ ॥

विहितं लोकेष्टकोपधानं मनूय प्रकारान्तरेण स्तौति—  
“यज्ञेवेति । ‘विस्वस्तस्य’ विस्वस्तावयवस्येत्यर्थः । ‘सर्वाः’ प्राच्यादि-  
‘दिशः’ अनु लक्ष्य तदीयो ‘रसः’ ‘व्यञ्जरत्’-विविध मञ्जरत् , ‘यत्र’  
यस्मिन् देशे ‘तं’ तथाविधं प्रजापतिं ‘देवाः’ ‘समश्कुर्वन्’ चित्वा-  
न्निरूपेण संस्कृतवन्तः । “अडभ्यासव्यवायेऽपीति ‡ कात् पूर्वः  
सुट् तत्र ‘अस्मिन्’ अग्न्यात्मके प्रजापतौ ‘एताभिर्लोकैश्चकाभिः  
तं रसम्’ ‘अदधुः’ स्थापितवन्तः । एव मेव ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘अयं’  
यजमानोऽपि ‘एतद्’ रसं ‘दधाति’ धारयति , लोकेष्टकोपधा-  
नेनेत्यर्थः ॥ १६ ॥

आहरणस्याग्निवाङ्मत्वं मनूय स्तौति— “वाञ्छेनेति ।  
पूर्ववदेनम् § , अत एव ‘अग्निम्’ इति द्वितीया ॥ ; अग्नेर्वाङ्मदेशे-  
नेत्यर्थः । “आप्तो वा अस्थेत्यादि । “आप्ता वा अस्थ ता दिश  
इत्यादिवद् ¶ व्याख्येयः । “इमान् लोकान् पराङ् रस इति ।  
‘इमान्’ पृथिव्यादिलोकान् विहाय परागतो रस इत्यर्थः ॥ १७ ॥

\* पा० सू० ५. ३. ३५ ।

† पा० सू० ३. ३. ३१ ।

‡ पा० ६. १. १४० सू० १ वा० ।

§, ॥ इहेव पूर्वच (\*, †) टीप्पन्त्यौ द्रष्टव्ये ।

¶ इहेव पूर्वच १७४ पृ० द्रष्टव्यम् ।

बहिर्वेदेरित्येतदपि अनूद्य पृथिवीसकाशाद् बहिर्भूतरक्तं  
स्थापनं हेतुत्वेन स्तोति — “बहिर्वेदेरिति । आहरतीति शेषः ।  
एतदपि पूर्ववद् व्याख्यातप्रायम् \* । “इमां पराङ् इति ।  
इमा मतिक्राम्य परागतो रसः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

इत्थं लोकेष्टकानां माहरणे अग्नेर्वेदेऽथ बाह्वी देशो विहितः ;  
अथ तत्र साधनं विधाय स्तोति — “स्फोनेति । “वज्रो वै स्फा  
इति, त्रेधा भग्नस्य वज्रस्यांशत्वात् स्फास्य वज्रात्मकता । तथाहि  
तैत्तिरीयकम् — “इन्द्रो ब्रूवाय वज्रं प्राहरत्, स त्रेधा व्यभवत्,  
स्फास्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयं मिति † । ब्रूवाहरवधहेतुत्वात्  
स वज्रो वीर्यात्मकः । ‘इयं’ वेदिलक्षणा भूमिः ‘वित्तिः’ लब्धव्या  
धनरूपा, तथा च स्फोनाहरन् वज्ररूपेण ‘वीर्येण’ एव ‘वित्तिं’  
लब्धव्यां भूमिं ‘विन्दते’ लभते ॥ १९ ॥

अथ पूर्वस्माद्दिग्भागादाहरणं समन्त्रकं विधत्ते — “स पुरस्ता-  
दाहरतीति ‡ । ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्याः दिशः सकाशात्लोकेष्टकां स्फोने  
‘आहरति’ । पञ्चमर्थे अस्मातिः § । “मा मा हिंसीदिति ॥ लभन्तः ।  
‘यः पृथिव्याः’ ‘जनिता’ जनयिता ‘स मां’ ‘मा हिंसीत्’ मा  
वध्निष्ट । य इति सर्वनाम्ना कृत्स्नजगत्कारणत्वेन प्रसिद्धः प्रजापति-  
रेव प्रतिपाद्यते इत्याह — “प्रजापतिर्वा इति । ‘पृथिव्यै’ इति  
षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ¶ । ‘जनिता’ जनयिता “जनिता मन्त्रे”

\* इहैव पुरस्तात् १५ क० भार्य (१७४ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

† तै० सं० ५. २. ६. ४१ ।

‡ का० श्री० सू० १७. ३. ११ ।

§ पा० सू० ५. ३. २७ ।

॥ वा० सं० १२. १०२ ।      † वा० सू० २. ३. ६२ सू० १. १० ।

इति \* । निपातनाद्विज्ञोपः । उक्तं मर्थं योजयति — “मा मा  
हिंसीत् प्रजापतिरित्येतदिति ।

द्वितीयपाद मनुष्य तत्र व्यानडिति क्रियापदस्यार्थं माह —  
“यो वा दिव मिति । ‘सत्यधर्मा’ सत्य मवितथं धर्मं साधारण-  
शक्तिर्यस्य तादृशो ‘यः’ ‘दिवं’ ‘व्यानट्’ व्याप्नोत् । व्यापन मत्र  
सर्जन मेवेत्याह — “असृजतेत्येतदिति । “मनुष्या वा इत्यादि ।  
‘चन्द्राः’ आकाशादिकाः, ‘आपः’ रितोरूपाः । अनेन च कारण-  
वाचिशब्देन कार्यभूता मनुष्या एवोच्यन्त इत्यर्थः । अत एव  
छान्दोग्ये समाज्जातम् — “पञ्चम्या माहुतावापः पुरुषवचसो  
भवन्तीति † । पर्यवसित मर्थं माह — “मनुष्यान् प्रथम इति ।  
सर्वप्राणिभ्यः पूर्वं सुत्यन्नत्वात् प्रजापतिरेव प्रथमः । अत एवा-  
ज्जातम् — “हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्र इति ‡ ।

चतुर्थपाद मनुष्य तत्र ‘किं’-शब्दस्यार्थं माह — “प्रजापतिर्वै  
क इति । निरुक्तानिरुक्तरूपत्वेनानिर्धारितस्वरूपत्वात् किं-  
शब्दः प्रजापतेर्वाचक इत्यर्थः । एवम्भूतो यः ‘तस्मै देवाय’  
“क्रियाग्रहण मपि कर्त्तव्य मिति § कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ।  
तं देवं ‘हविषा’ ‘विधेम’ परिचरेमिति, विदधातिः परिचरणार्थः ॥

एव माहुताया इष्टकायाः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते —  
“ता माहुत्येति । परिश्रितज्ञाना सुपहितानां शर्कराणा  
मभ्यन्तरदेशे आत्मनि ता सुपदध्यात् स्थापयेत् । तस्य प्रयोजन

\* पा० ६. ४. ५३ सू० ।

† छा० उप० ५. ६. १ द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० १३. ४ ।

§ पा० १. ४. ३२ सू० १ वा० ।



माह— “स य इति । ‘स यः’ प्रसिद्धो यो ‘रसः’ विसृष्टात् प्रजापतिशरीरात् ‘प्राच्यां दिशि’ ‘अत्यक्षरत्’ अतिक्रम्य स्रतोऽभ्यक्षत्, अर्तनोपधानेन, ‘तम्’ एव रसम् ‘अस्मिन्’ प्रजापतिरूपेऽग्नौ पुनः स्थापयति । ‘अथो’ अपि च ‘प्राची’ द्विक्षम्वत्याप्ता मेव दिशम् ‘अस्मिन्’ स्थापितवान् भवति ॥ २० ॥

दक्षिणस्या दिश आहरणं समन्त्रकं विधत्ते— “अथ दक्षिण इति । पञ्चम्यर्थे तसिः \* । आहरतीति शेषः । अथ वा पूर्वदिग्भागात् यत् आहरणम्, तदनन्तरं दक्षिणस्या दिशः सकाशात् लोकेष्टका माहरतीत्यर्थः । “अभ्यावर्त्तयेति † तन्मन्त्रः । पूर्वार्धस्य निगदव्याख्यातत्वं माह— “यथैव यजुः स्तथा बभ्रुरिति । यजुर्वर्त्तव्यं यथैव श्रूयते, तादृशेव तद्व्याख्यायकं ब्राह्मणवाक्यम् ; अतः स्पष्टार्थत्वात् पृथग् व्याख्यायत इत्यर्थः ।

उत्तरार्धे मनुष्य तत्र वपाशब्दस्यार्थं माह— “यदै किञ्चेति । अस्मां पृथिव्यां यदेव किञ्चिद् वस्तु तरुगुल्मादिकं दृश्यते, सा एत ‘अस्मै’ ‘वपा’ विधेया । सेति नपुंसकलिङ्गार्थो निर्देशः ‡ । प्रथमं चतुर्थी § । अथ मर्थः— हे पृथिवि ! ‘यज्ञेन’ यागसाधनेन ‘पयसा’ पयोलेखनेन ‘रवेन’ सह अन्नदभिमुखं मावर्त्तस्व । ‘इषितः’ प्रेरितो दोमोऽय मग्निः त्वदीयं तरुगुल्मादिरूपम् ‘आरोहति’ अधितिष्ठति । आहूतायास्तस्याः स्तानविशेषे उपधानं विधत्ते—

\* पा० सू० ५. ३. ७ ।

† वा० सं १२. १०३ ।

‡ ‘सेति पुंलिङ्गनिर्देशः’— इति ङ-पाठः ।

§ पा० २. ३. ६२ सू० वा० ।

“ता माहृत्येति । ‘तां’ लोकेष्टकां दक्षिणदिग्भागाद् बह्विवंदेः  
‘आहृत्य’ पक्षसन्धि मन्तरेण दक्षिणपक्षस्य आत्मभागस्य च यः  
सन्धिप्रदेशः, तस्माभ्यन्तरे आत्मभागे स्थापयेदित्यर्थः । अनेनापि  
पूर्ववद्द्रवस्थापनं दिक्स्थापनञ्चान्न कृतं भवतोत्याह— “स यो  
दक्षिणाया मिति ॥ २१ ॥

प्रतीच्यां दिशि समन्तकं लोकेष्टकाया आहरणं विधत्ते—  
“अथ पश्चादिति \* । ‘अथ’ अनन्तरं प्रतीच्याः दिशः सकाशात्  
स्मेन लोकेष्टका माहरतीति शेषः । तन्मन्त्रः— “अग्ने यत्त  
इति † । अत्राग्निशब्देन तदधिष्ठिता भूमिरेव अग्नेदोषचारे-  
णोच्यत इत्याह— “इयं वा अग्निरिति । ‘अस्यै’ पृथिव्यै ।  
तादर्थ्यं चतुर्थी । पूर्वार्धेन प्रार्थनं पृथिव्यर्थं मित्यर्थः । तृतीय-  
पाद मनुय देवशब्दस्य विवक्षित मर्थ माह— “तदस्मै देवा-  
येति । एतदग्निचयनाख्यं कर्मैवात्र देवशब्दस्यार्थः । चिति-  
रूपावयवभेदापेक्षया बहुवचन मित्यभिप्रायः ॥

अर्थस्तु— हे पृथिवि ! त्वदीयं यत् ‘शुक्रं’ रसवदङ्गम्, यच्च  
‘चन्द्रम्’ आकाशकरम्, तथा ‘पूतं’ शुद्धम्, ‘यज्ञियं’ यज्ञार्हञ्च  
यदस्ति, ‘तत्’ ‘अस्मै’ अग्न्याख्याय देवाय ‘कर्मणे’ आहरामं  
इति । ‘तां’ लोकेष्टकाम् ‘आहृत्य’ इत्यादि पूर्ववत् ‡ । “पुच्छ-  
सन्धि मिति । पञ्चाकारस्य चित्वाग्नेः पुच्छस्यात्मभागस्य च यः  
सन्धिः, ‘तम्’ अन्तरेण तस्य मध्ये ‘आत्मन्’ आत्मनि । अन्यद्  
गतार्थम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

† वा० सं० १२. १०४ ।

‡ एतत्पूर्वकण्ठीभाष्यं (१ पं०) द्रष्टव्यम् ।

साक्षात्पञ्चादाहरणं निषेधति— “स न सम्प्रतीति । ‘सः’ अङ्गुर्युः ॥ ‘सम्प्रति’ मुख्या या प्रतीची दिक्, तत्सकाशात् ‘नाहरेत्’ । निषेधुरभिप्राय माह— “नेद्यन्नपथादिति । यन्नस्य पथ्याः यन्नपथः, अग्नेः पाश्चात्यो देशो हविष्वा-नादिः ; ततः सकाशात् नैव \* रस माहुराणीति । यदि खलु तादृग्विधात्साक्षात्पञ्चागादाहरेत्, तर्हि प्रजापतिसम्बन्धिनो विस्रस्तरसस्याहृतत्वात् तत्र करिष्यमाणो यज्ञो नीरसः स्यादित्यभिप्रायः । कथं तर्हि तत्राहरणं मित्यत आह— “इत इवेति । ‘इतः’ प्रतीच्या दिग् ‘इव’, न तु साक्षात् प्रतीच्या दिग्, उत्तरापरस्या दिग् आहरेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन— “उत्तरापरस्याः पथादिति †” ॥ २२ ॥

उत्तरस्या दिग् आहरणं विधत्ते— “अथोत्तर इति । आहरेतीति शेषः । “इष मूर्ज्जं मित्याहरणमन्त्रः ‡ । ‘आदम्’—इतिक्रियापदस्यार्थं माह— “आदद् इत्येतदिति । मनसा यथार्थं सङ्कल्पनम् ‘ऋतम्’, यथार्थभाषणं ‘सत्यम्’ । अत्र तु “ऋतस्य योनिम्”—इति § मन्त्रभागे तादृशो भेदो न विवक्षित इत्यभिप्रेत्याह— “सत्यं वा ऋत मिति । “महिषस्य धारा मिति । महिषशब्दस्यार्थं माह— “अग्निर्वै महिष इति । कथं मस्य महिषशब्दाभिधेयतेत्याशङ्क्य तन्निर्ब्रूते— “स ह्रीदं जात इति । ‘सः’ खल्वग्निः ‘इदम्’ इदानीं ‘जातः’ जातमात्र एव ‘महान्’

\* ‘नेद’—इति च.पाठः ।

† का० औ० सू० १७. ३. १२ ।

‡ वा० सं० १२. १०५ ।

§ वा० सं० १२. १०५ ख ।

अतिरिक्तो \* भूत्वा 'सर्व' जगत् 'ऐशात्' व्याप्नोत्, अतो महत्त्वा-  
देबिहत्वाच्च महिषशब्दाभिधेयः सम्पन्न इत्यर्थः । 'ऐशात्'-  
इति "इष आभोऽख्ये"-इत्यस्माज्जङ् १ । तृतीयं पाद मनुद्य तत्र  
तनूशब्दस्यार्थं मभिधाय योजयति— "आ मेति । तनूष्विति  
बहुवचनम् तेन बह्ववयवोपेत आत्मा देह उच्यते । गत मन्यत् ॥

मन्वार्थस्तु—'इषम्' इत्यमाण मन्त्रम् । 'जर्ज' बलकारं रसम् ।  
'इतः' अस्या उदीच्या दिशः सकाशादहम् 'आददे' । किंविशि-  
ष्टम् ? 'ऋतस्य' सत्यस्य यथार्थफलस्य यज्ञस्य 'योनिः' कारणम्,  
'महिषस्य' महतोऽग्नेः 'धारा' धाराप्रवाहभूता तदस्माधिताम् ।  
ईदृशी च सा, मा मुद्दिष्य मदीयास्तु 'गोषु' 'तनूषु' शरीरेषु  
'आविशतु'-इति चतुर्थेन पादेन सम्बन्धः ॥

तस्यां दिशि सिकतानां प्रध्वंसनं विधत्ते— "जहामीति ।  
अत एवोक्तां कात्यायनेन— "उत्तरस्याः सिकताः प्रमार्ष्टि जहामि  
सेदि मिति ‡ ॥

मन्त्रस्यार्थं माह— "तद्यैवेति । 'तत्' तत्र 'यैव' खलु  
'सेदिः' अवसादापरपर्याया हानिः, या च 'अनिरा' इरा  
अन्नं तदभावरूपा पीडा, 'या' च 'अमोवा' रोगात्मिका ।  
'ताम्' एतस्याम् उत्तरस्यां 'दिशि' एतन्मन्त्रकारणकेन सिकता-  
प्रध्वंसनेन स्थापयति । इरादीनां तत् आहतत्वादिति भावः ।  
एतच्च तत्कार्यदर्शनादवगम्यत इत्याह— "तस्मादिति । यस्माद्  
अवसादादीनि स्थापितानि, तस्मादेतस्या सुत्तरस्यां दिशि

\* 'अविवेको'-इति ऊ, च ।

† ब्रा० प० ५३ धृ० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १३ ।

सर्वाः 'प्रजाः' 'अशनायुक्ताः' अशनाया अशनेच्छा क्षुधा , तया पीडिता अदृश्यन्त इत्यर्थः ॥

“ता माह्वेत्यादि पूर्ववत् \* ॥ २३ ॥ .

अथैताः सभूय प्रशंसति— “ता एता दिश इति । 'ताः' प्राच्यादिदिक्षु क्रमेणोपहिताः 'एताः' इष्टकाः 'दिशः' दिगाभिकाः , 'ताः' सर्वाभ्यो दिग्भ्यः आह्वय 'उपदधाति' । तेन चोपधानेन 'सर्वतः' एव 'दिशः' 'दधाति' स्थापयति । 'तस्मात्' एव कारणात् इदानीं सर्वतो दिशो दृश्यन्ते ।

धर्मविशेषं विधाय स्तौति— “सर्वतः समीचीरिति † । सर्वासु दिक्षु 'समीचीः' सङ्गतदिगाभिसुख्यं गता उपदधाति , न तु तिर्यक्तेनेत्यर्थः । 'तत्' तेन 'सर्वतः' दिश एव 'समीचीः' अन्नूचीनायाः स्थापयति । “तस्मादिति फलनिर्देशः । उपधानादीनां पृथगतुष्टानं विधत्ते— “ता नानोपदधातीति । प्रतीष्टकं समन्त्रकं स्थापनं पृथगेव कर्त्तव्यम् , “तया देवतयेति स्नादनं मपि पृथक् , “ता अस्येति सूददोहसा मन्त्रेणाधिवदनं मपि पृथक् । तत्र कारणं माह— “नाना ङीति । 'हि' यस्मात् 'दिशः' परस्परं विभिन्नाः , अतो दिक्संस्तुताना मयासां पृथगुपधानादिकं युक्तमित्यर्थः । 'तस्मिन्नुपधाने स्थितिगुणं विधत्ते— “तिष्ठन्निति । 'तिष्ठन्' , न तु आसीन इत्यर्थः । “तिष्ठन्तीव हि दिश इति । प्राज्ञायाः 'दिशः' अपि 'हि' 'तिष्ठन्तीव' जडाकारतया दृश्यमानाः स्थितियुक्ता इव लक्ष्यन्त इत्यर्थः ।

\* २१-कण्ठीभाष्यं ( १७६ पृ० , १ पं० ) दृश्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. १४ ।

‘अथो’ अपि च आसीनात् पुरुषात् ‘तिष्ठन्’ खलु ‘वीर्यवत्तरः’  
अधिकवीर्यवान् । इतोऽपि तिष्ठता उपधेया इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथासां समन्वकत्व मन्व्य अग्निचेतस्यात्मभागे एवोपधानं  
प्रतिपादयति — “ता एता इति । “यजुष्य इति । करण-  
भूतैर्यजुर्मन्त्रैर्युक्ता इत्यर्थः । ‘ताः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि आत्मभागे  
एव ‘उपदधाति’ । अवधारणफल माह — “न पचेति । तत्र  
कारण माह — “आत्मन् ह्येवेति । आत्मभागे एव हि यजु-  
र्मन्त्रोपधेया वक्ष्यमाणा इष्टका उपधीयन्ते ; अत एवासा  
मुपधान मपि समन्वक मित्यात्मन्येवेति नियमद्वयमुपपन्नं  
मित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथेतरैष्टकावदासां अपणाभावादशृतत्व माशङ्क्य निरस्यति  
— “तदाहुरिति । ‘अस्य’ अग्नेः ‘एताः’ लोकेष्टकाः ‘कथं’ केन  
प्रकारेण ‘पक्ताः शृताः’ पाचनसंस्कारसंस्कृताः सुशृताः \* सत्यं  
उपहिताः ‘भवन्ति’-इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । ‘रसो वा एताः’-  
इति अस्योत्तरम् । विस्त्रस्तस्य प्रजापतिशरीरस्य रसरूपाः स्त्रवेता  
इष्टकाः ‘स्वयं शृताः’ खलु , अग्न्यादिपाकानपेक्षः खलु रसः ।  
परिहारान्तर माह — “अथो इति । ‘अथो’-शब्दः पक्षान्तर-  
स्योतने । एष एव हि चित्योऽग्निः जीव्यो † भूत्वा विश्वनरसम्बन्धी  
वर्तते , ‘यत्’ किञ्चिदप्यामद्रव्यम् ‘एत मग्निं वैश्वानरं’ प्राप्नोति ,  
‘तत एव’ तस्मादेव संसर्गात् ‘तत्’ सर्वं ‘पक्वं शृतं’ पाकेन  
संस्कृतं सुशृतं ‘तत्’ तत्र ‘उपहितं भवति’ इत्यर्थः ॥ २६ ॥

\* पद मेतत् छ-पुस्तकमार्गे दृश्यते ।

† ‘माथो’-इति छ-प्राठः ।

चोदकप्राप्त सुत्तरवेदिनिवपनं यस्मिन् काले कर्त्तव्य मिति विधत्ते— “अथेति । लोकेष्टकोपधानानन्तर्यं मथशब्दार्थः । एतदुपपादयति— “इयं वा इत्यादिना । ‘इयं’ भूमिरेव महावेदिः, उत्तरवेदिषु द्युलोकात्मिका, लोकेष्टकात्मिका दिशः । एवं च वेद्युत्तरवेद्योर्मध्ये लोकेष्टकोपधानं व्यावाष्टिष्वोर्मध्ये दिशां स्थापनाय भवति । ‘तस्मात्’ कारणादिदानीं मनयोर्लोकयोर्मध्ये दिशोऽलक्ष्यन्तं इत्यर्थः । उत्तरवेदेः परिमाणं विधत्ते— “तां युगमात्रौ मिति । षडशीत्यङ्गुलपरिमितं युगम् ; उक्तं ह्यापस्तम्बेन— “अष्टाशीतिशत मीषातिर्यगच्चतुःशतम्, षडशीतिर्युगं वास्येति । ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु तावन्मात्रा सुत्तरवेदिं कुर्यादित्येकं परिमाणम्, ‘चत्वारिंशत्यदां वेति परिमाणान्तरम् । चत्वारिंशत्यदानि प्रमाण मस्याः सा तथोक्ता । अनयोः प्रमाणयोर्मध्ये ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘कामयेत’ तथा कुर्यादित्यर्थः ॥

सिकतानिवपनं विधत्ते— “अथेति \* । उत्तरवेदिनिवपनानन्तर्यं मथशब्दार्थः । “तस्योक्त इति । ‘तस्य’ सिकतानिवपनस्य स्तावको वाक्यशेषः “अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकताः” —इत्यादिः † प्रागान्नात इत्यर्थः ॥ २७ ॥

तस्य निवपनस्य स्थानविशेषं विधाय स्तौति— “ता उत्तरवेदाविति । अग्निवपनवेत्त्रे युगमात्रौत्यादिलक्षणा योत्तरवेदिर्नियुक्ता, तस्यां सिकतां निवपति । “योनिर्वा उत्तरवेदिरिति ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. १३ ।

† पुरस्तात् १ प्र० १ ब्रा० ६ क० ( ७ भा० ४४० ) दृश्यम् ।

निश्चिन्तयागोत्यसि कारणाह्वनीयस्थानत्वात् 'उत्तरवेदिः' अपि  
'योनिः'; अत एवाग्निप्रणयनीयास्मान्नायते \*—“जर्णावन्तं प्रथमः  
कीद योमि मिति † । 'तत्' तेन उत्तरवेदौ सिक्तानां निवृपनेन  
'योनी' एव 'रितः' सिक्तं भवतीत्यर्थः । 'यत्' खलु 'योनी'  
गर्भाशये रितः 'सिक्ते', 'तत्' 'प्रजनिष्णु' प्रजननशीलम्,  
उत्पत्तिमद् 'भवति' ॥

अस्यात्मभागस्य ताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—“ताभिः सर्वं  
मिति । 'तत्' तेन प्रच्छादनेन 'सर्वस्मिन्नेव' आकान्ति 'रितः'  
'दधाति' स्थापयति । 'तस्मात्' एव कारणात् 'सर्वस्मादेव'  
हस्तापादादिसर्वावयवसहितात् 'आत्मनः' देहात् 'रितः' 'सम्भ्रवति'  
उत्पद्यते । अतएव मन्त्रवर्णः—

“अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजाग्रते”—इति ‡ ॥ २८ ॥

अस्मिन्निवपने “अग्ने तवेति षड्वचं सूक्तं § क्ररणत्वेन विधत्ते—  
“अग्ने तव अवी वय इतीति ॥ । तत्र अवे इति पदस्याभिप्रेतं मर्थं  
आह—“धूमो वा अस्येति । 'अस्य' अग्नेः 'अवः' अवयवहेतुः  
'वयः' स्वरूपं 'धूमी वै' धूमः खलु । एतदुपपादयति—“स स्त्रेन  
मिति । 'एनम्' अग्निम् 'असुषिन्' स्वर्गे 'लोके' 'सः' खलु धूमः  
'आवयति' प्रस्थापयति ; आकाशे धूमं दृष्ट्वा यागार्थं मन्त्रय  
आहिता इति युक्तोक्तवर्त्तिनो देवा बुध्यन्त इत्यर्थः । अतोऽग्न-

\* ऐ० ब्रा० १. ५. २ । . . .

† ऋ० सं० ६. १५. १६ (ख) ।

‡ सा० वे० म० ब्रा० १५. ५ख. १६म ।

§ वा सं० १९. ३०६-१११ ।

॥ का० औ० ऋ० १७. ३. २५ ।



भाषितस्वर्यात् शृणोतेः श्रावयत्यनेनेति कारणे अपि सति \* प्रत्यये  
श्रव इति रूपं भवति ।

द्वितीयं पाद मनूय तत्रत्यं पदद्वयं व्याचष्टे— “महि  
भ्राजन्त इति । महत्प्रातिपदिकस्य अष्ट्यलोपे सति महीति  
सप्तम्यन्तं पदम् । अत्र “सुपां सुलुक्”-इति † व्यत्ययेन षष्ठ्यर्थी  
वर्त्तत इति व्याचष्टे— “महतो भ्राजन्त इति । ‘विभा’-  
शब्दस्य तेजोवाचकत्वं प्रसिद्धम्, अत्र तु भूयस्त्व मेव तेन शब्देन  
विवक्षित मित्याह— “प्रभूवसवित्येतदिति ।

तृतीयपाद मनूय शवसेत्यस्य बल मर्थः, ‘वाज’-शब्दस्य  
चात्र मर्थ इत्याह— “बलं वै शव इति ।

चतुर्थपाद मनूय दाशुष इति पदस्यार्थं माह— “यजमानो  
वै दाश्वानिति । “दाम् दाने”-इत्यस्मात् ‡ कसौ “दाश्वान्  
साह्वान्”-इति § निपातनाद् दत्तवानित्यर्थो भवति । स चात्र  
प्रकारणाद् यजमान एवेत्यभिप्रायः ॥

ऋगर्थस्तु,— हे ‘अग्ने !’ ‘तव’ सम्बन्धी ‘श्रवः’ धूमः आहुति-  
परिणामरूपत्वाद् ‘वयः’ देवाना मन्त्रम् । हे ‘विभावसो’ प्रभूत-  
‘धनान्ने !’ ‘महि’ महत्स्त्व ‘अर्चयः’ अर्चीषि ‘भ्राजन्ते’ दीप्यन्ते ।  
किञ्च हे ‘बृहद्भानो’ महादीप्ते ! हे ‘कवे’ क्रान्तदर्शिन् !  
‘शवसा’ बलेन सहितम् ‘उकथ्यम्’ उक्त्याहं प्रशस्यं ‘काजम्’ अत्र  
‘दाशुषे’ दत्तवते यजमानाय ‘दधासि’ प्रयच्छसीति ॥ २८ ॥

\* “ऋदोरप्”—पा० ख० ३. ३. ५७ ।

† पा० ख० ७. १. ३६ ।

‡ भा० उ० ८८२ धा० ।

§ पा० ख० ६. १. १२ ।

॥ वा० खं १२. १०६ ।

द्वितीया सूच मध्येव मेव \* पादशो व्याचष्टे—“पावकवर्चा इति † । ‘एषः’ अग्निः ‘पावकवर्चाः’ शोधकदीप्तिः, ‘शुक्लवर्चाः’ शुक्लवर्णतेजस्क इत्येतदुभयं प्रसिद्धम् ; अतो न पृथग् व्याख्येयमिति ‘हि’-शब्दार्थः । उदियर्षीत्यस्यार्थं माह—“उद्दीप्यस इति । अग्नेरुद्गमनं नामोर्ध्वज्वलनम्, अत उद्दीप्यस इत्यस्मिन् अर्थे पर्यवस्यतीत्यभिप्रायः । तृतीयपादार्थोऽपि प्रसिद्ध इति ‘हि’-शब्देनैव व्याचष्टे—“पुत्रो ह्येष इति । चतुर्थपाद मन्वस्य व्याचष्टे—“इमे वा इति । ‘इमे’ खलु, ‘द्यावापृथिव्यौ’ ‘रोदसी’-शब्देन वाच्ये ‡ ‘एषः’ अग्निस्ते ‘उभे’ ‘पृणक्ति’ संयुक्ते करोति । केन किं मिति तदाह—“धूमेनेति । द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानोऽय मग्निः ‘धूमेन’ उदगच्छता ‘अमूं’ दिवं पृणक्ति ; आहुतिद्वारा जनितया ‘वृष्ट्या’ च ‘इसां’ पृथिवीं संयोजयति ॥

सन्तार्थस्तु—‘पावकवर्चाः’ शोधकदीप्तिः, ‘शुक्लवर्चाः’ निर्मलदीप्तिः, ‘अनूनवर्चाः’ न्यूनतारहिततेजस्कस्य सन्, हे अग्ने ! त्वं ‘भानुना’ तेजसा ‘उदियर्षि’ उद्गच्छसि, उद्दीप्यसे, द्यावापृथिव्योर्मध्ये जातत्वात् तयोः ‘पुत्रः’ भूत्वा ‘मातरौ’ सकलभूतानां निर्मात्राय द्यावापृथिव्यौ ‘विचरन् उपावसि’ समीपगतो रक्षसि । यथा लौकिकः पुत्रो मातृसमीपे सञ्चरन् तां रक्षति, तद्वत् । रक्षप्रकारोऽभिधीयते—‘उभे’ ‘रोदसी’ द्यावापृथिव्यौ क्रमात् धूमेन वृष्ट्या च ‘पृणक्षि’ संयोजयसि । “पृची सम्पक्ने”-इति § धातुः ॥ ३० ॥

\* ‘नृच मन्वस्य ता मेव’-इति ङ-पाठः ।

† वा० सं० १२. १०७ ।

‡ निघ० ३. ३०. ६ ।

रु० प० ३५ धा०

तृतीया सृचं व्याचष्टे—“अज्जीनपादिस्त्रादिना \* । सुशस्तिभिरिति पदं व्याचष्टे—“सुष्टुतिभिरित्येतदिति । द्वितीयतृतीययोः पादयोः ‘मन्दस्व’-‘भूरि’-शब्दावनुवादेन व्याख्याती । चतुर्थपादस्तु निगदसिद्ध इत्याह—“यथैव यजुरिति ॥

ऋगर्थस्तु—हे ‘जातवेदः’ जातानां वेदितः ! हे ‘अज्जीनपात्’ बलकरस्य अन्नरसस्य न पातयितः !, पौत्र ! वा, ‘सुशस्तिभिः’ सुष्टुतिभिः अस्मत्प्रयुक्ताभिः कृष्टो भूत्वा ‘हितः’ निहितस्त्वं ‘धौतिभिः’ क्रमभिः, प्रभाभिर्वा ‘मन्दस्व’ दीप्यस्व । ‘त्वे’ त्वयि खलु ‘इषः’ इष्यमाणान्यन्नानि ‘सन्दधुः’ संहितानि बभूवुः । इषो विशेयन्ते—‘भूरिवर्षसः’-इति । “वर्षः”-इति रूपनाम \* । बहुरूपाः, ‘चित्रोतयः’ विचित्ररक्षणोपेताः, ‘वामजाताः’ प्रशस्तजननोपेताः ॥ ३१ ॥

चतुर्थी सृच मनुय व्याचष्टे—“इरण्यवन्न इति ‡ । “मनुष्या वै जन्तव इति । जायन्ते पुरुषार्थोपयोगित्वेनोत्पद्यन्त इति जन्तवोऽत्र मनुष्याः; न तु क्रिमिकीटादय इत्यर्थः । “इरण्यतिः §” कण्डूदिर्दीप्तिकर्मत्वभिप्रेत्याह—“दीप्यमान इति । द्वितीयपादे ‘रैः ॥’-शब्द-स्वार्थं माह—“रयिं दधदिति । तृतीयपादार्थः प्रसिद्ध इति ‘हि’-शब्देन व्याचष्टे—“दर्शतस्य श्लेष इति । चतुर्थपादे

\* वा० सं० १२. १०८ । ८

† निघ० ३. ७. ३ ।

‡ वा० सं० १२. १०९ ।

§ कण्डा० ६ घा० ।

॥ ‘रयः’-इति ङ-पाठः, ‘रयि’-इति छ-पाठः ।

‘सानसि’-शब्दः सनातनपर्याय इति \* च व्याचष्टे— “सनातनं  
क्रतुं मित्येतदिति ॥

ऋगर्थस्तु — हे ‘अग्ने !’ ‘जन्तुभिः’ प्रशस्तजनैर्मनुष्यैर्ऋत्विभिः  
‘इरज्यन्’ दीप्यमानः सन् ‘प्रथयस्व’ । स्वार्थिको णिच् । प्रथस्व,  
विस्तीर्णो भव । हे ‘अमर्त्य’ मरणरहिताग्ने ! त्वत्प्रसादात् ‘अस्मे’  
अस्माकं ‘रायः’ धनानि सन्तु । ब्राह्मणे तु “अस्मे रयिं  
दधदित्यर्थतो व्याख्यानम् † । तथाविधः ‘सः’ त्वं ‘दर्शतस्य’ ‘दर्श-  
नीयस्य वपुषः’ ज्वालारूपस्य शरीरस्य शोभातिशयेन ‘विराजसि’  
विशेषेण ‘दीप्यसे’, तथा ‘सानसि’ सनातनं नित्यफलविषयं ‘क्रतुं’  
यजमानसङ्कल्पं ‘पृणसि’ फलेन संयोजयसीति ॥ ३२ ॥

पञ्चमी सृचं व्याचष्टे—“इष्कर्त्तार मिति ‡ । उपसर्गस्यादिलोप-  
श्चाहन्सः । निष्कर्त्तारम् । तथैव तैत्तिरीयैरान्नायते § । ‘अध्वरस्य’  
यज्ञस्य निःशेषेण कर्त्ता निष्कर्त्ता । तथैव यज्ञस्य प्रकल्पयिते-  
त्यर्थः सिद्धातीत्याह— “अध्वरो वा इति । द्वितीयपादे राधसो  
मह इति षष्ठान्तयोः समन्वयता माह— “राधसि महतीति ।  
तृतीयपादे ‘महि’-इतिशब्दस्य ‘महती’-शब्दपर्यायता माह—  
“महती मिषं मित्येतदिति ॥

अयं मर्थः— ‘इष्कर्त्तार’ यज्ञस्य निःशेषेण कर्त्तारम्, अतः  
एव षष्ठ्यन्तान्तम् । ‘राधः’-इति धननाम ॥ । ‘महति’ प्रभूते

\* उक्त्वा ४ पा० १०६ सू० द्रष्टव्यम् ।

† पुरस्तात् १६१ पृ० ७ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० १२. ११० ।

§ ते० सं० ४. २. ७. १० द्रष्टव्यम् ।

॥ निघ० २. १० १७ ।

‘दधासि’ धने विषये ‘क्षयन्तं’ । “क्षयतिरैश्वर्यकर्मा” \* । ईश्वर-  
त्वेन सक्तम्, ममेति शेषः । स त्वं ‘वामस्य’ वननीयस्य धनस्य  
‘रातिं’ दानं ‘सुभगां’ शोभनां ‘मह्वीं’ महतीम् ‘इषम्’ इष्य-  
माणं मन्त्रं च ‘सानसिं’ सनातनं चिरन्तनं गवाश्वादिपशुरूपं ‘रयिं’  
च यजमानाय ‘दधासि’ धारयसीति ॥ ३३ ॥

षष्ठी सूच मनूय पादशो व्याचष्टे — “ऋतावान मिति † ।  
यद्यपि ऋतसत्ययोर्मानसवाचिकयथार्थसङ्कल्पनतद्भाषणरूपत्वादु-  
भेदोऽस्ति, तथाप्यत्र तादृशो भेदो न विवक्षित इत्याह — “सत्यावान-  
मित्येतदिति । “अग्निर्वै महिष इति । “स हीदं जातो महा-  
ऋषेर्भैष्णवादिति ‡ तन्नामनिर्वचनस्य प्रागान्नातत्वादिति भावः ।  
सर्वदर्शनीयत्वस्य प्रसिद्धमतो न पृथग् व्याख्यातव्यमित्यभिप्रे-  
त्याह — “विश्वदर्शतो ह्येष इति । “यज्ञो वै सुक्न मिति ।  
यद्यपि सुखवाची ‘सुक्न’-शब्दः §, तथाप्यत्र प्रकरणात्तत्त्वाधने  
यज्ञ एव तस्यार्थः । उत्तरार्धे मनूय शुक्लर्णपदं व्याचष्टे —  
“आशुक्लन्त मिति । श्रवणशीलकर्णोपेतम्, आ समन्तात्  
शृण्वन्त मिति यावत् । ‘गिरा’-इतिविशिष्टसाधनश्रवणात्  
योग्यक्रियाध्याहारेण वाक्यं पूरयति — “मनुष्या हवामह इत्येत-  
दिति ॥

ऋगर्थसु — सत्यवन्तं, महान्तं, सर्वेषां दर्शनीयम्, एव-  
भूतं मन्त्रम्, ऋत्विग्यजमानलक्षणाः ‘जनाः’ ‘सुक्नाय’ सुखसाध-

\* निघ० २. २१. ३ ।

† वा० खं० १२. १११ ।

‡ पुरस्तात् १५७ पृ० १२ पं०, ततः १८० पृ० १७ पं० ।

§ निघ० ३. ६. १६ ।

नाय यज्ञाय 'पुरो दधिरे' पुरस्कुर्वन्ति, वय मपि 'श्रुत्कर्णम्'  
अभिमतफलप्रार्थनं सम्पक् शृण्वन्तं, 'सप्रथस्तमम्' अतिशयित-  
कौर्त्तिवन्तं, 'दैव्यं' स्वार्थिकसहितः, देवं 'त्वा' त्वां 'गिरा'  
सुतिरूपया वाचा 'हवामहे' आह्वयामः । कर्त्तारो विशे-  
षन्ते— "मानुषेति । 'मानुषाणि' मनोः सम्बन्धीनि 'युगा'  
युगानि, युगलानि भूत्वा, जायापत्यात्मना युगलभूता मनुष्या  
इत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

इत्थं सिकतानिवपने करणभूतं षडृचं व्याख्याय तस्य वैश्वान-  
रनाम्नात्मकतां प्रतिपादयन् स्तौति— "स एष इति । यत्  
'एतत् षडृचं' सूक्तम्, 'एषः' साक्षात् 'वैश्वानरोऽग्निरेवं', तथा-  
विधस्थान्तेः 'आरम्भाय' उत्पादनाय 'एवं' हि 'इमाः सिकता  
न्युप्यन्ते'; तस्माद्वैश्वानरात्मकेन सूक्तेन तन्निवपनात् 'वैश्वानरं'  
तम् अग्निं 'रितोभूतं' रितोरूपेणावस्थितम्, एतस्मिन्नेष्यमाणे अग्नौ  
'सिञ्चति' प्रक्षिपति । षडृचकरणकत्वं मनूय तत् सङ्ग्रा-  
हारेण स्तौति— "षडृचेति \* । न्युप्यत इति शेषः । "संवत्सरो  
वैश्वानर इति । संवत्सरधारणेन जायमानत्वात् वैश्वानरान्तेः  
संवत्सरात्मकता ॥ ३५ ॥

सिकतानां रेतस्त्वे तत्साम्यं भवश्यं वर्णनीय मिति प्रश्न-  
पूर्वकं तदाह— "तदाहुरिति । यदीमाः सिकता रेतःसंस्तुताः,  
तन्नावश्यं तत्साधर्म्यं वक्तव्यम्,— "किं" तदुसां सिकतानां सम्बन्धि  
'रितोरूपं' रेतःसम्बन्धी-धर्मविशेष इति प्रश्नार्थः । "शुक्ला इत्या-  
द्युत्तरम् । शौक्ल मासां रेतसश्च तादात्म्यहेतुः साधारणो धर्मः ;

अथ मेकस्तादात्म्यहेतुः । 'अथो' अपि च 'पृथग्यः' सूक्ष्मपरिमाण-  
विन्दुरूपा हि सिकताः, 'रेतोऽपि हि' 'पृथग्वी' सिकतोपमैः  
सूक्ष्मपरिमाणविन्दुभिर्युक्त मिव भवति ; अथ अपरस्तादात्म्य-  
हेतुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

नन्वाहं रेतः, शुष्काः सिकताः, कथं मासा भार्द्रत्वलक्षणं  
रेतोरूपं स्यादिति प्रश्नपूर्वकं तत् प्रतिपादयति— "तदाहुरिति ।  
"कथं मस्यैता इति । 'अस्य' वैश्वानरस्याग्नेः 'एताः' सिकताः  
'कथं भार्द्राः' सत्यो 'रेतोरूपं' रेतसः सम्बन्धि भार्द्रत्वलक्षणं  
स्वरूपं 'भवन्तीति' प्रश्नः । "रसो वा इत्याद्युत्तरम् । गायत्र्या-  
दीनि हि 'ह्रन्दांसि' 'रसः' ; सारवत्त्वात् । रसस्य चार्द्रत्व मन्थन  
प्रसिद्धं मित्वाह— "आर्द्रं उ वा इति । ततः किं मित्वाह  
— "तद्यदेना इति । अस्मिन् षडृचे गायत्र्यादीनां सप्तानां  
ह्रन्दासा मूलतर्भावोऽग्ने प्रतिपादयिष्यते \* ; 'तत्' तथा सति 'यत्'  
यस्माद् 'एनाः' † सिकताः शब्दरसात्मकैः 'ह्रन्दोभिर्निवपति',  
ततः 'एवम्' अनेन प्रकारेण खलु 'अस्य' सम्बन्धिन्यः सिकताः  
'आर्द्राः' सत्यः रेतःस्वरूपं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अथ सिकतानां शुक्ललक्षणरूपद्वयं स्तोतुं पृच्छति— "तदाहु-  
रिति । ननु त्रित्योऽग्निः संवत्सरात्मकः, संवत्सरश्चाहोरात्रा-  
त्मकः, तत्समुदायरूपत्वात् ; अतः सिकतोपधानं मस्यहो-  
रात्राभ्यां करणभूताभ्यां निष्पादनीयम्, तत् कथं नुपपद्यत  
इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । "हे वा इति परिहारः । 'हे' एव हि

\* रश्मि परस्तात् ४१ कण्ठी (मूलानु—१६४८० १५०) द्रष्टव्यम् ।

† 'एताः'—इति सर्वश्रीकापुस्तकपाठः, मूलपुस्तकेषु तु मद्दहरेषु  
सर्वेष्वेव 'एताः'—इति ।

‘अहोरात्रे’ पर्यावर्त्तमाने ; तत्र ‘शुक्लम्’ अहः, ‘कृष्णं’ रात्रिः ; सिकता अपि शुक्लकृष्णभेदेन द्विविधाः ; अतस्तद्वर्णयोगादेतासां सुपधानम् ‘अहोरात्राभ्याम्’ एव कृतं भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इत्थं वर्णतोऽहोरात्रसाम्यं मुक्तम्, अथ सङ्ख्यासम्पत्तिरपि कथं मित्याशङ्कापूर्वकं प्रतिपादयति— “तदाङ्कुरिति । संवत्सर-सम्बन्धिभिः ‘अहोरात्रैः’ समानसङ्ख्याकाः, न्यूनाधिकसङ्ख्यारहिताः कथम् ‘उपहिता भवन्तीति’ प्रश्नः । “अनन्तानि वा”—इत्युत्तरम् । संवत्सराणां मानव्यात् तदवयवा अहोरात्रा अप्यनन्ताः । यद्यपि “रात्राङ्काद्वाः पुंसि”—इति \* पुल्लिङ्गेन भवितव्यम्, तथापि “हेमन्तशिशिवावहोरात्रे च च्छन्दसि”—इति † निपातनाल्लिङ्गाद् बहुवचनान्तस्यापि नपुंसकलिङ्गता । “एव मु हास्येत्यादि स्पष्टम् ॥

अथैतदुपधानकरणस्य षड्वचस्य यच्छन्दस्तस्य समुद्रिय मिति नाम कस्मान्निमित्तादिति पृच्छति— “अथ कस्मादिति । तन्निमित्तं माह—“अनन्तो वा इति । ‘अनन्तः’ अन्तरहितः ; समाप्तिरहितः खल्वयम् समुद्रो जलनिधिः, सिकताद्यानन्ताः ; परिगणनानर्हत्वात् । अतस्तासां सुपधानमन्तसम्बन्धिनश्छन्दसोऽपि अन्तराहितत्वात् समुद्रसाम्यात् समुद्रे भवं समुद्रिय मिति व्युत्पत्त्या तन्नामधेयतेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

नन्वनन्तानां सिकतानां सुपधानम् पृथक् पृथक् कथं समन्तकं स्यादिति पृच्छति— “तदाङ्कुरिति । “मनो वा इत्याद्युत्तरम् । मन एव हि सर्वासां सिकतानां साधारणं यजुः ; तदुच्चारणहेतुत्वात् मनसो यजुष्टम् । ‘तदिदं’ मनो-

\* पा० सू० २. ४. ३६ ।

† पा० सू० २. ४. २८ ।



रूपं 'यजुः' सर्वाः सिकताः 'अनुः'-लक्ष्य 'विभवति' प्रत्येकं व्याप्तं शक्नोति । अनेनैव हि प्रकारेण 'अस्य' चित्यस्याग्नेः 'एताः' सर्वाः सिकताः 'पृथक् नाना' 'यजुर्भिः' विभिन्नैः यजु-र्मन्त्रैः 'उपहिता भवन्ति' ॥ ४० ॥

अपि एतस्मिन् षड्रुचे सप्तानां छन्दसा मन्तर्भावप्रदर्शनाय स्तौति— "तदाङ्गुरित्यादिना । 'एताः' सिकताः 'सर्वेः' गायत्र्यादिभिः सप्तभिः 'छन्दोभिः' 'कथं उपहिता भवन्ति' । "अग्ने तव श्रवः"—इत्यादीनां षष्ठाः सृचां \* प्रतिनियतैकच्छन्दोरूपत्वादित्यभिप्रायेण प्रश्नः । "यदेवैनौ इत्युत्तरम् । 'यत्' यत एव कारणात् 'एनाः' 'एतेन' षड्रुचेन सूक्तेन 'निवपति', तेनैताः सर्वे छन्दोभि-रुपहिता भवन्ति' ।

कथं मिति चेत्, उच्यते— गायत्र्यादीनां जगत्सप्तानां सप्तानां छन्दसां यावन्त्यक्षराणि मिलित्वा सम्पद्यन्ते, तावन्त्येतस्य षड्रुचस्याक्षराणि भवन्ति । तथाहि,— गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा, उष्णिगष्टाविंशत्यक्षरा, अनुष्टुभो द्वात्रिंशदक्षराणि, ऋहत्याः षड्विंशदक्षराणि, पङ्केषत्वार्तिंशत्, चतुषत्वार्तिंशत् त्रिष्टुभः, अष्टाचत्वार्तिंशज्जगत्याः ; तानि च सम्भूय द्विपञ्चाशदधिकशतद्वयसङ्ख्याकानि भवन्ति ।

अस्मिन् षड्रुचे प्रथमा चत्वारिंशदक्षरा, द्वितीया एकचत्वारिंशत्, तृतीया चतुर्थी च चत्वारिंशदक्षरा, पञ्चमी-षष्ठ्योः द्विचत्वारिंशदक्षराणि ; एवं पञ्चचत्वारिंशदधिकशतद्वयसङ्ख्याकानि भवन्ति । अन्यानि सप्ताक्षराणि क्षैप्रसंयोगविभागेन

द्रष्टव्यानि । एवं सप्तच्छन्दास्त्रयसङ्ख्याद्वारेणास्मिन् षड्रुचे अन्त-  
र्भवन्ति । “एव सु हास्येति , प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ४१ ॥

उत्सन्नयन्नभागस्य पुनराहरणार्थत्वेन सिकतानिवपनं स्तौति—  
“यद्देवेति । ‘एषः’ चित्योऽग्निः विराडात्मकः ‘प्रजापतिः’ । ‘सर्वे’  
निरवशेष मेव कृत्स्नं ‘ब्रह्म’ मन्त्रजातम् , स ‘प्रजापतिः’ । ‘तत्’  
तथा सति तस्य ब्रह्मणो यदेतत् ‘उत्सन्नं’ विशेषणं स्वरूपम् ,  
तत् सिकतात्मना परिणतम् । ‘अथ ‘यत्’ तु ‘अनुत्सन्नम्’ अवि-  
नष्टं ब्रह्मणो रूपं चीयमानाग्निरूपम् । ‘तत्’ ततोऽग्नेन सिक-  
तानिवपनेन ‘ब्रह्मण उत्सन्नम्’ एव रूपं पुनः अस्मिन् प्रजापत्या-  
त्मकेऽग्नौ सन्ध्यातीति ॥

तासां मपरिमितत्वं मनूय स्तौति— “ता असङ्ख्याता इति ।  
‘तद्ब्रह्मण उत्सन्नं’ रूपम् , यत् परिमाणविशिष्ट मिति , तत् को  
नाम जानीयात् ? अस्तृतासां मपरिमितत्वम् ; अपरिमित-  
स्थोत्सन्नरूपस्य प्राप्तौ सम्प्रदाय इत्यर्थः ॥

विहदनुष्ठानं प्रशंसति— “स ह वा इति । ‘सर्वे’ निरवशेषम् ,  
‘कृत्स्नं’ सर्वावयवसहितम् । स्पष्टं मन्यत् ॥ ४२ ॥

अपरिमितानां मध्ये तासां सङ्ख्याविशेषप्रदर्शनेन स्तुतिश्चिकी-  
र्षिता , तदर्थं पृच्छति— “तदाहुरिति । ‘असङ्ख्यातानाम्’  
अपरिमितानाम् ‘आसां’ सम्बन्धिनी सङ्ख्या कीदृशेति प्रश्नः ।  
चतुर्धा सङ्ख्यासङ्गावं प्रशंसति— “हे इत्यादिना । शुक्लकृष्णात्मना  
हैराश्यादपरिमितानां सिकतानां हित्वम् । “सप्तविंशतिशतानीति ।  
सिकतानां महोरात्ररूपता प्रागुक्ता \* । संवत्सरसम्बन्धिना

मङ्गां रात्रीणाञ्च परिगणने सति विंशत्यधिकानि सप्तशतानि भवन्ति ; अतस्तदात्मिकानां सिकतानां मपि सैव सङ्ख्या भवतीत्यर्थः । “हे हापञ्चाशे शते इति । द्विपञ्चाशदधिकद्विशत-सङ्ख्याया सङ्ख्यायाः सिकता इति ब्रूयात् । तदुपधानमन्त्रस्य षड्वचस्य तावत्सङ्ख्याकाच्चरोपेतत्वात् तेषां मन्त्रराणां सिकतानाञ्च तादात्म्यं मित्यर्थः ।

“अथो पञ्चविंशतिरिति । पञ्चविंशतिसङ्ख्याया सङ्ख्यायाः सिकताः कुत इत्यत आह — “पञ्चविंशं ह्रीति । शरीरं हि प्रकृतिमहदादि-चतुर्विंशतितत्त्वात्मकम् , तत उत्पन्नं ‘रेतः’ पञ्चविंशं पञ्चविंशति-सङ्ख्यापूरकम् \* , रेतःसंस्तुताश्च सिकताः ; अतः पञ्चविंशति-सङ्ख्याकत्वं तासां प्रतिपत्तव्यं मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

लोकेष्टकावत् सिकतानां मय्यात्मभागे एवोपधानं विधत्ते — “ता एता इति । इदं मपि लोकेष्टकाप्रकरणस्थवाक्य-वद् व्याख्येयम् † । सिकतानां मपीष्टकात्वादितरेष्टकास्त्रिव प्रसक्तं सादनं निषेधति — “न सादयतीति । “तथा देवतयेति ‡ मन्त्रेण स्थापनं सादनम् , तन्न कर्त्तव्यम् । निषेधकारणं माह — “नेद्रेत इति । प्रजोत्पत्तिकारणं ‘रेतः’ शुक्रम् , नैव कचिदेव ‘स्थाप-यानि’ इति अग्नेनाभिप्रायेण ; सादने हि तत् कचिदेव प्रतिष्ठितं स्यात् , न तु चलितं सत् गर्भाशये प्रविशेदिति भावः ॥ ४४ ॥

अथ समन्वकं मेतासां अभिमर्शनं विधत्ते — “अथैता

\* शरीरमित्याद्येतदन्तं नागाऽशुडपाठसमन्वितं मिदं वाक्यं ज-पुस्तंते ।

† पुरस्तादिहैव २२-कण्ठीभाष्ये मारभ्य दृश्यम् ( १७६ पृ० ) । का० श्री० सू० १७. ३. ११, १२ दृश्ये ।

‡ वा० सं० १२. २ । का० श्री० सू० १७. १. १२ ।

इति । ‘आप्यायनवतीभ्यां’ आप्यायनक्रियाप्रतिपादकः शब्दः , आप्यायनम् , उपचारात् ; तद्वतीभ्यां “आप्यायस्व”—“सन्ते”— इत्येताभ्याम् \* । “इद मेवैतदिति । ‘इद मेवैतत्’ सिकतात्मकं रूपं ‘सित्तं रेतः’ ‘आप्यायति’ धातुयुक्तमन्त्रकरणकाभिमर्श-  
नेनाप्यायति प्रवर्द्धयति । यत एवैवं यज्ञे , तस्मादेव स्त्रीणां ‘योनी’ पुरुषैः ‘सित्तं रेतः’ ‘आप्यायते’ शरीराकारेण परिणतं सङ्गते । मन्त्रसम्बन्धिदेवताद्वारेण प्रशंसति— “सौमीभ्या मिति । सोमोऽनयोदेवता “सास्य देवतेत्यर्थे सोमात् अण् णि” “टिङ्गाण-  
जिति ः डीप् । ऋग्भ्या मभिसृशतीति शेषः ‡ ॥

“प्राणो वै सोम इति । प्राणस्य तावदुदकमयत्वं प्रसिद्धम् ; “आपोमयः प्राणः”—इति श्रुतेः॥ । तथाच सोमोऽपि अमृतमयरसा-  
त्मकतया प्राणोपादानत्वात् प्राण एव । ‘तत्’ तेन सौमीभ्या मभि-  
मर्शनेन सिकतात्मके सित्ते रेतसि सोमात्मकं प्राण मेव स्थापयति । “तस्मात्”—इत्यादिना लोकस्थितिनिरूपणम् । यस्माद्वैदिके कर्मणि रेतसि प्राणः स्थापितः , तस्मादेव कारणात् प्राण मभिलक्ष्य प्राणसहित मेव गर्भाशये ‘सित्तं रेतः’ ‘सम्भवति’ शरीराकारेण परिणमते । यत्तु प्राणादृते रेतः सिच्यते , तत् पूयेदेव , न शरीरा-  
कारेण सम्पद्यत इत्यर्थः । एव मेवैतरेयकैश्चास्मात्— “न ह वा

\* वा० सं० १२. ११२, ११३ ।

† पा० सू० ४. २. २४ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १६ ।

§ पा० सू० ४. १. ३५ ।

॥ ऋ० उप० ६. ५. ४ ।

ऋते प्राणाद्वैतः सिध्यते , यदा ऋते प्राणाद्वैतः सिध्यते , पूयेन सन्धवेदिति ।

अस्याभिमर्शनस्य सूददोहसाधिवदनकार्यकरत्वात् तदात्मकता माह— “एषो हैवात्रेति । यत् सोमोभ्या मभिमर्शनम् , ‘एषा’ वा ‘अत्र’ सिकतोपधाने ‘सूददोहाः’ “ता अस्य सूददोहस इति \* मन्त्रकरणक मधिवदनम् ॥

कथं मन्त्रस्यान्यात्मतेत्यत आह— “प्राणो वा इति । अभिमर्शनमन्त्रप्रतिपाद्यस्य सोमस्य सूददोहसश्च प्राणात्मकत्वसाध्यादित्यर्थः ॥ ४५ ॥

तत्र प्रथमा सृच मनुद्याप्रसिद्धार्थं पदं व्याचष्टे— “आप्यायस्वेति । “रेतो वै वृष्ण इति । वृषा सेचनसमर्थो युवा , तत्र भवं वृष्ण इति व्युत्पत्तेः वृष्णशब्देन रेतः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥

पदार्थं मुक्ता वाक्यार्थं योजयति— “सर्वतः सोम रेत इत्येतदिति । “अन्नं वै वाज इति । वाजशब्दस्य “वज व्रज गतौ” † -इत्यस्माद् व्युत्पन्नस्य गत्यर्थत्वात् अत्र च तत्प्रतिपादकत्वायोगात् रूढ्या वाजशब्देनात्र मुच्यत इत्यर्थः । अत एव वाजशब्दोऽन्ननामसु पठ्यते— “अन्धः वाजः पयः”-इति ‡ । हे सोम ! त्वम् ‘आप्यायस्व’ वर्धस्व , अस्मान् वर्धय वा । त्वदीयं ‘वृष्णं’ वृषसम्बन्धि ‘रेतः’ इमं मग्निं ‘विश्वतः’ सर्वतः ‘समेतु’ प्राप्नोतु । अन्नस्य सङ्गमनाय त्वं मस्माकं भवेति मन्त्रार्थः ॥

\* वा० सं० १२. ५५ । का० श्रौ० सू० १६. ७. १४ ।

† भा० प० २५२, २५३ धा० ।

‡ निघ० २. ७. २ ।

द्वितीया माध्यायनवती मनूयाप्रसिद्धार्थानि पदानि व्याचष्टे—  
 “सन्ते पर्यासीति \* । अत्र पर्यःशब्दो रसपरः, वाजशब्दोऽन्नपरः,  
 तथा चाय मर्थ इत्याह— “सन्ते रसा इति । द्वितीयाह— ‘अभि-  
 माति’-शब्देन पाप्मोच्यत इत्याह— “पाप्मसह इत्येतदिति ।  
 तृतीयपादे ‘अमृत’-शब्दस्याभिप्राय माह— “प्रजात्या मिति ।  
 पुत्रपौत्रादिरूपेण यैव प्रजातिलक्षणा प्रजोत्पत्तिरूपा क्रिया  
 ‘अमृता’, “आध्यायमान इत्यनेन मन्त्रभागेन, तस्यां प्रजा-  
 त्या ममृतत्वं स्थापयति । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ ‘प्रजातिः’  
 प्रजोत्पत्तिः ‘अमृता’ मरणरहिता अविच्छिन्ना सार्वकालिकी  
 वर्तते इत्यर्थः । चतुर्थपादे ‘अवः’-शब्दस्यार्थ माह— “चन्द्र-  
 मा वा अस्य दिवि अव इति । ‘अस्य’ ( अधियज्ञं † ) लता-  
 रूपेण वर्त्तमानस्य सोमस्य ‘दिवि’ द्युलोके ‘उत्तमम्’ उत्कृष्टं  
 ‘अवः’ नाम चन्द्रमा एवोच्यते । कथं मस्य अवःशब्दाभिधेयतेति  
 तत् प्रतिपादयति— “स ह्येन मिति । ‘अमुष्मिन्’ स्वर्गं लोके  
 ‘सः’ खलु ‘चन्द्रमाः’ ‘एनं’ सोमम् अमृतात्मना पीयमानः सन्  
 ‘आवयति’ प्रस्थापयति, अतः आवयितृत्वात् अवःशब्देन स  
 उच्यत इत्यर्थः ॥

मन्त्रगतं द्वित्वं छन्दोविशेषश्चानूय ‘तस्य’ स्तावको वाक्यशेषः  
 प्रागान्नात इत्याह— “दाभ्या मिति । “द्विपाद्यजमान इत्यादि-  
 द्वित्वसङ्गालुतिः ॥ ४६ ॥

लोकेष्टकादिसङ्ख्यां सम्भूय स्तीति—“अथातः सम्पदेवेति । स्पष्टो-

\* वा० सं १२. ११३ ।

† अ-पुस्तके एषोऽधिकः पाठः ।

ऽर्थः । “यावानग्निरित्यादि । प्रागुक्तोऽर्थः \* ॥ ४७ ॥ ३ [३.१.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनअतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् )

आप्यानवतीभ्या मभिमृश्य । प्रत्येत्यातिथ्येन  
प्रचरत्यातिथ्येन प्रचर्य प्रवर्ग्योपसङ्गां प्रचरति  
प्रवर्ग्योपसङ्गां प्रचर्याथैतां चूर्मणि चितिः समवश-  
मयन्ति तद्यच्चूर्मणि चूर्म वै रूपं रूपाणा मुपाप्तौ  
लोमतो लोम वै रूपं रूपाणा मुपाप्तौ रोहिते  
रोहिते ह सूर्वाणि रूपाणि सूर्वेषां रूपाणा  
मुपाप्तौ ऽआनडुहे ऽग्निरेष यदनड्वानग्निरूपाणा  
मुपाप्तौ प्राचीनग्रीवे तद्धि देवता † ॥ १ ॥

तदग्रेण गार्हपत्यम् । अन्तर्ब्बद्युत्तरलोम प्रा-  
चीनग्रीव मुपस्तृणाति तदेतां चितिः समवशम-

\* पुरस्तात् ११८ पृ० द्रष्टव्यम् ।

† 'देवता'—इति ग, घ ।

यन्मध्य प्रोक्षति तद्यत् प्रोक्षति शुद्धं मेवैतन्मध्यं करो-  
त्याज्येन तद्धि शुद्धं मेध्यं मथो ऽन्नभ्यारोहाय न  
हि किञ्चनान्यद्विराज्येन प्रोक्षन्ति तूष्णीं मनि-  
रुक्तं वै तद्यत् तूष्णीं सर्वं वा ऽन्ननिरुक्तं सर्वे-  
णैवैतच्छुद्धं मेध्यं करोत्यथो ऽन्नभ्यारोहाय न हि  
किञ्चनान्यद्विस्तूष्णीं प्रोक्षन्ति ॥ २ ॥

यदेव प्रोक्षति । हविर्वा ऽएतत् तदेतदभि-  
घारयति यद्वै हविरभ्यक्तं यदभिघारितं तज्जुष्टं  
तन्मध्यं माज्येनाज्येन हि हविरभिघारयन्ति तूष्णीं  
तूष्णीं हि हविरभिघारयन्ति दभैस्ते हि शुद्धा  
मेध्या अघैरयं हि देवानाम् ॥ ३ ॥

तदाहुः । यत् प्रथमा मेव चितिं प्रोक्षति  
कथं मुखैष सर्वाऽग्निः प्रोक्षितो भवति कथं चूर्मणि  
प्रणीतः कथं मश्वप्रणीत इति यदेवात्र सर्वासां  
चितीना मिष्टकाः प्रोक्षत्येव मुहाख्यैष सर्वाऽग्निः  
प्रोक्षितो भवत्येवं चूर्मणि प्रणीत एव मश्वप्रणीत  
उद्यच्छत्येतां चितिम् ॥ ४ ॥

अथाहग्निभ्यः प्रक्षियमानेभ्योऽनुब्रूहीति । एतदे



देवानुपप्रेष्यत् एतं यज्ञं तस्यमानान् रुक्षांसि  
नाष्टा अजिघांसन् \* यक्ष्यध्वे न यज्ञं तस्यध्व  
ऽइति तेभ्य एतानग्नीनेता इष्टका व्यचान् क्षुर-  
पवीन् कृत्वा प्राहरंस्तैरेनानस्तृष्वत तानस्तृत्वाभये  
ऽनाष्ट एतं यज्ञं मतन्वत ॥ ५ ॥

तद्वा एतत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं  
नु तानि रुक्षांसि देवैरेवोपहतानि † यत् त्वेतत्  
करोति यद्देवा अकुर्वन्स्तत् करवाणीत्यथो यद्देव रुक्षो  
यः पाप्मा तेभ्य एतानग्नीनेता इष्टका व्यचान्  
क्षुरपवीन् कृत्वा प्रहरति तैरेनानस्तृणुते ता-  
नस्तृत्वाभयेऽनाष्ट एतं यज्ञं तनुते ॥ ६ ॥

तद्यदग्निभ्य इति । बहवो ह्येतेऽग्नयो यदे-  
ताश्चितयोऽथ यत् प्रक्रियमाणेभ्य इति प्र हि  
हरति ॥ ७ ॥

तद्वैकेऽन्वाहुः । पुरोधासो अग्नयः प्राव-  
योभिः सजोषस इति प्रायणरूपं न तथा कुर्या-

\* 'अजिघांसन्'—इति क ।

† 'देवैरेवोपहतानि'—इति क, ख ।

दाम्नेयीरेव गायत्रीः कामवतीरनुब्रूयाद् ता व्यत्सो  
मनो यमस्तुभ्यं ता अङ्गिरस्तमाग्निः प्रियेषु धाम-  
स्विति ॥ ८ ॥

आग्नेयीरन्वाह । अग्निरूपाणां सुपाण्यै काम-  
वतीः कामानां सुपाण्यै गायत्रीर्गायत्रीऽग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन. मेतद्वेतो भूतः  
सिञ्चति तिस्रस्त्रिंशदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतद्वेतो भूतः सिञ्चति ताः सप्त सम्प-  
द्यन्ते सह विरनूक्ताभ्यां सप्तचितिकोऽग्निः सप्त-  
ऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावत् तद् भवत्युपांश्चन्वाह रेतो वा  
ऽश्नत् यज्ञ उपांश्च वै रेतः सिञ्चते पश्चादनु-  
ब्रुवन्नन्वेति छन्दोभिरेवैतद्यज्ञं पश्चादभिरुचन्नेति  
॥ ९ ॥

अथाश्वः शुक्लं पुरस्तान्नयन्ति । एतद्वै देवा  
अविभयुर्यद्वै न इह रुचांस्सिं नाष्टा न हन्यु-  
रिति त एतं वृक्षं मपश्यन्न मु मेवादित्य मसौ वा  
ऽआदित्य एषो ऽश्वस्त एतेन वृक्षेण पुरस्ताद्

रुक्षांसि नाष्टा अपहत्याभयेऽनाष्टे स्वस्ति समा-  
श्रुवत तथैवैतद्यजमान एतेन वृज्जेण पुरस्ताद्-  
रुक्षांसि नाष्टा अपहत्याभयेऽनाष्टे स्वस्ति समश्रुत  
ऽआगच्छन्त्यग्निं दक्षिणतः पुच्छस्य चिति मुपनिद-  
धत्युत्तरतोऽश्व माक्रमयन्ति ॥ १० ॥

तु मुत्तरार्द्धेनाग्नेः \* । अन्तरेण परिश्रितः प्राञ्चं  
नयन्ति तत् प्राच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति तं  
दक्षिणा तद्दक्षिणायै दिशः पाप्मान मपहन्ति तं  
प्रत्यञ्चं तत् प्रतीच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति त  
मुदञ्चं तदुदीच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति सर्वांश्च  
एवैतद्दिग्भ्यो रुक्षांसि नाष्टा अपहत्याभयेन मुदञ्चं  
प्राञ्चं प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुः ॥ ११ ॥

तं प्रत्यञ्चं यन्तम् । एतां चिति मवघ्नापयत्यसौ  
वा ऽआदित्य एषोऽश्व इमा उ सर्वाः प्रजा या  
इमा इष्टकास्तद्यदवघ्नापयत्यसौ तदादित्य इमाः  
प्रजा अभिजिघ्रति तस्मादु हैतत् सर्वोऽस्मीति  
मन्यते प्रजापतेर्वीर्येण तद्यत् प्रत्यञ्चं यन्त मवघ्ना-

पुयति प्रत्यङ् ह्येवैष युग्मिमाः सूर्वाः प्रजा अभि-  
जिघ्रति ॥ १२ ॥

यदेवावघ्रापयति । असौ वा ऽआदित्य एषो-  
ऽश्व इमं ऽउ लोका एताः स्वयमावृक्षास्तद्यदव-  
घ्रापयत्यसावेव तदादित्य इमांस्तोकान्तसूत्रे समाव-  
यते तद्यत् तत् सूत्रं मुपरि तस्य बन्धुः ॥ १३ ॥

यदेवावघ्रापयति । अग्निर्देवेभ्य \* उदक्रामत्सो-  
ऽपः प्राविशत्तेदेवाः प्रजापति मब्रुवंस्त्वमिमं मन्विच्छ  
स तुभ्यं स्वाय पितृ ऽआविर्भविष्यतीति तमश्वः  
शुक्लो भूत्वान्वैच्छत् मद्भ्रा उपोदास्यत् पुष्करपर्णे  
व्विवेद तं मभ्यवेक्ष्वाञ्चक्रे स हैनं मुदुवोष तस्मा-  
दश्वः शुक्ल उदुष्ट मुख इवाथो ह दुरक्षो भावुकस्तु  
मु वा ऽऋत्वेव हिंसित्वेव मेने तं होवाच व्यं  
ते ददामीति ॥ १४ ॥

स होवाच । यस्त्वानेन रूपेणान्विच्छाद्विन्दा-  
देव त्वा स इति स यो हैनं मेतेन रूपेणान्विच्छति  
व्विन्दति हैनं व्वित्त्वा हैवैनं चिनुते ॥ १५ ॥

स शुक्लः स्यात् । तद्देवतस्य रूपं य एष तपति  
यदि शुक्लं न विन्देदप्यशुक्लः स्यादश्वत्थेव स्याद-  
द्यश्वं न विन्देदप्यनङ्गानेव स्यादग्नेयो वा ऽअनङ्ग-  
नग्निरु सर्वेषां पाप्मना मपहन्ता \* ॥ १६ ॥

अथातोऽधिरोहणस्यैव † । तं हैके पुरस्तात्  
प्रत्यञ्च मधिरोहन्ति पश्चाद्वा प्राञ्चं न तथा कुर्यात्  
पशुरेष यदग्निर्यो वै पशुं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मधि-  
रोहति विषाणाभ्यां तं हन्यथ यः पश्चात् प्राञ्चं  
पद्भ्यां त मात्मनैवैन मारोहेद्यं वा ऽआत्मना पशु-  
मारोहन्ति स पारयति ‡ स न हिनस्त्युत्तरतो यं  
हि कञ्चं पशुमारोहन्त्युत्तरत एवैन मारोहन्त्या-  
रुद्धाग्नि मौत्तरवेदिकं कर्म कृत्वात्मन्नग्निं गृह्णीत  
ऽआत्मन्नग्निं गृहीत्वा सत्यं साम गायति पुष्कर-  
पर्णं मुपदधाति तस्यातः § ॥ १७ ॥

अथैतं साधे भूतेऽश्वं परिणयन्ति । एतदे

\* 'मपहन्ता'—इति ग, घ ।

† 'अथातोऽधिरोहणस्यैव'—इति ग, घ ।

‡ 'मारयति'—इति क ।

§ 'तस्यातः'—इति क । 'तस्यातः'—इति ग, घ ।

देवा अविभयुर्यद्वै न इमं मिह रुक्षांसि नाष्ट्रा  
 न हन्युरिति तस्मा ऽएतं वृक्षं मभिगोप्तारं मकु-  
 र्वन्नमु मेवादित्य मसौ वा ऽआदित्य एषोऽश्वस्तुथै-  
 वास्मा ऽअथ मेतं वृक्षं मभिगोप्तारं करोति ॥ १८ ॥

तं वा ऽउपास्तमय मादित्यस्य परिणयति । एष  
 वा ऽअस्य प्रत्यक्षं दिवा गोप्ता भवति रात्रि सा  
 च यान्यु वै रुक्षांसि रात्र्या एवास्मा ऽएतं वृक्षं  
 मभिगोप्तारं करोति सर्व्वतः परिणयति सर्व्वतः  
 एवास्मा ऽएतं वृक्षं मभिगोप्तारं करोति त्रिष्कृत्वः  
 परिणयति त्रिवृत मेवास्मा ऽएतं वृक्षं मभिगोप्तारं  
 करोत्यथैन मुदच्च प्राञ्च प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुरथ  
 स पुनर्व्विपल्ययते तस्योपरि बन्धुः ॥ १९ ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [३, २.] ॥

एव माहवनीयदेशस्य संस्कारसमनन्तरं कर्त्तव्यं प्राक्तनं  
 प्रयोगजातं मनुक्तामयितुं प्रागुक्तयोः \* आग्निकसौक्तिकयोः  
 कर्मणोर्व्यतिषङ्गं दर्शयति † — “आध्यानवतीभ्यामित्यादिना ।  
 ‘प्रत्येत्य’ उत्तरवेदिदेशात् प्राग्वंशम् प्रत्यागत्येत्यर्थः । अन्यत्

\* ‘प्रागुक्त’—इति ड, क, ज ।

† ‘दर्शयितुं’—इति ड, क, ज ।

निगदव्याख्यातम् । प्रथमं प्रवर्ग्योपसदन्तं कर्त्तव्यमिति  
समुदायार्थः ॥

अनन्तरं माग्निकस्य कर्मणः प्रवेशं दर्शयति— “अथैता  
मिति । ‘अथ’-शब्दः प्रथमोपसदानन्तर्ये । आनडुहे लोहिते  
‘चर्मणि’ ‘एतां’ प्रथमां ‘चितिं’ प्रथमचित्यर्थं मिष्टकासमूहं ‘समव-  
श्यमयन्ति’ सम्यग् दृतावोक्षणेन तप्तानां मिष्टकानां शसनं  
कुर्युरित्यर्थः । तस्य चर्माधिकरणतां स्तौति— “तद्यच्चर्मणि चर्म  
वै रूपमिति । चर्मसम्बन्धिनां \* लोम्नां नानावर्णोपेतत्वाद्  
असृगादीनां भ्रान्तरधातूनां त्वचाच्छादने सति रूपकरणत्वेन  
चर्मणो रूपात्मकता, अतश्च तस्मिन्मिष्टकानिधानं सर्वेषां  
रूपाणां प्राप्तौ सम्यद्यत इत्यर्थः । तच्च लोमप्रदेशे कर्त्तव्य-  
मिति विधाय स्तौति— “लोमत इति । ‘चितिं’ समवश-  
मयन्ति’-इत्यनुषङ्गः । लौहित्यगुणं चर्मणो विधाय स्तौति †—  
“रोहित इति । एतत् सर्वं कात्यायनेनापि सूत्रितम्—  
“आतिथ्यशेषाद्योपसदः कृत्वा रोहिते चर्मस्थानडुहेऽन्तःपात्यस्य  
पुरस्तादिष्टकाः करोति प्रथमचितिरिति ‡ । लोहितवर्णेषु  
लोमसु मूलमध्यागमेदेन सृक्कादीनि सर्वाणि रूपाणि दृश्यन्त  
इत्यर्थः ॥

चर्मणोऽनडुहिकारतां विधाय स्तौति— “आनडुह इति । अनो  
वहतोत्यनडुहान्, तथापिधस्य बन्नीवर्द्धस्याग्निरूपत्वं प्रागान्नातम्

\* ‘चर्मसम्बन्धानां’-इति क ।

† लोमन इत्यारभ्य स्तौतोव्येतदन्तः पाठो न दृश्यते क-पुस्तकादन्यत्र ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १७ ।

—“अग्निदग्ध मिव वा अस्य बहं भवतीति \* । “अग्निरूपाणा-  
मिति । चित्तस्याग्नेः सम्बन्धीनि यानि रूपाणि , तेषां मध्येऽन-  
ष्टानप्येकं रूपम् ; अतस्तत्सम्बन्धिनश्चर्मण आस्तरणेन तेषां मग्नि-  
रूपाणां मुक्तवक्ष्यमाणानां कारस्त्रेण प्राप्त्यर्थं सम्प्रदात इत्यर्थः ।  
स्तरणे प्रकारविशेषं विधत्ते— “प्राचीनग्रीवे इति । प्राचीना  
प्रागायता ग्रीवा यस्य तत्तथोक्तम् , एतच्च विधेयविशेषणम् , चर्मणः  
प्राचीनग्रीवता यथा भवति तथा स्तृणीयादित्यर्थः । “तद्वि-  
देवत्वेति । ‘तद्वि’ प्राग्दिवस्बन्धित्वं ‘देवत्वा’ देवेषु योग्यम् ;  
तस्याः दिशो देवैरात्मीयत्वेन स्वीकृतत्वात् । अत एव हि तैत्ति-  
रीयके श्रूयते—“देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवा इति † ।  
देवत्वेति “देवमनुष्येत्यादिना ‡ सप्तम्यर्थे वा-प्रत्ययः ॥ १ ॥

उदीरितलक्षणस्य चर्मणो देशविशेषे स्तरणं विधत्ते— “तदग्रे-  
णेति । ‘गार्हपत्य मग्रेण’ गार्हपत्यचितेरदूरेण पूर्वभागे महावेदि-  
मध्ये ‘तत्’ चर्म उदीरितविशेषणविशिष्टम् ‘उपस्तृणाति’ । ‘तत्’  
‘तत्र’ ‘एतां’ प्रथमां ‘चितिं’ प्रथमचितिः पर्याप्तमिष्टकासङ्गं § ‘समव-  
शमयन्ति’ संशान्तीणां ॥ कुर्युः । आज्येन प्रोक्षणं विधत्ते—  
“अथेति । औष्ण्यसंशमनानन्तरं तां चितिं माज्येन ‘प्रोक्षति’

\* पुरस्तात् ( ३६ पृ० ) १. १. २. ६ द्रष्टव्यम् ।

† तै० सं० ६. १. १. १ ।

‡ प्रा० सू० ५. ०४. ५६ ।

§ ‘सङ्कातं’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘सौख्यंलौक्यं’—इति ङ-पाठः , वेवरदृष्टम् ।



प्रकर्षेण सिञ्चति \* । तदेतदनूय स्वीति— “तद्यदिति । तस्मिन् प्रोक्षणे इत्थं विधत्ते— “आज्येनेति । प्रोक्षतीत्यनुषङ्गः । “तच्च यच्च मिति । ‘तत्’ खल्व्वाज्यं यच्चम् ; “तेजो वै दृत मित्वादि श्रुत्या † तस्य तेजोरूपत्वप्रतिपादनात् पुरोडाशादिहविःशुद्धि-हेतुत्वाच्च । अत एव ‘मिध्वं’ मेधार्हम् । ‘अथो’ अपि च ‘अनभ्यारीह्याय’ अभ्यारीहण मतिक्रमणम्, आज्येन प्रोक्षण मनतिक्रमणाय श्रेष्ठाय सम्प्रदायते । एतदेव दर्शयति— “न हीति । इष्टकाभ्योऽन्यत् चरपुरोडाशादिकं किं मयि हविर्न हि आज्य-करणकेन प्रोक्षणेन संस्क्रियते ; उदकेनैव हि तस्य प्रोक्ष-णम् ; अव्यविलक्षणमेव तेजोरूपेणाज्येनेष्टकानां प्रोक्षणम्, चित्तेः पादसंस्पर्शविरहकूपानभ्यारीहणाय भवतीत्यर्थः । प्रोक्षणस्या-मन्त्रकत्वं विधाय स्वीति— “तूष्णीं मिति । “अनिरुक्तं वा इत्यादि गतम् ‡ । न हि अन्यच्च तूष्णीं प्रोक्षणं मस्ति, अतस्तद्वि-लक्षणज्येनेष्टकाप्रोक्षणस्य सर्वात्मकानिरुक्तत्वसम्पादनं तस्य चित्वा-जेरनतिक्रमणीयत्वाय कल्प्यते इत्यर्थः ॥ २ ॥

अथैतत् प्रोक्षणं अनूय हविष्टसम्पादनद्वारा स्वीति— “यदे-वेति । “हविर्वा इत्यादि यत्, तदिष्टकारूपं हविः खलु हविरिष देवानां तृप्तिकारम् ; अतस्तदेतदिष्टकारूपं हविः आज्यप्रोक्षणेन ‘अभिचारयति’ अभितो दृतधारया सिञ्चति । तस्य प्रयोजनं माह— “यद्वा इति । ‘यत्’ खलु पुरोडाशादिकं ‘हविः’ अभितः सर्वतः

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० क ।

† ते० सं० २. २. ६. ७ ।

‡ पुरश्चात् १२४ ए० ४ पं० (७. २. १०. ३) द्रष्टव्यम् ।

आग्व्येन 'अक्तं' सिक्तं 'यत्' च 'अभिध्वारितम्' उपरि हृतभारया  
 संस्कृतम्, 'तत्' 'सुष्टं' देवेः सेवितं योग्यम्, अत एव 'तत्' 'मिथ्यम्'  
 यद्वाहम् । आग्व्यकरणकत्वा मनूयः स्वीति—“आग्व्येनेति । इविषां  
 वाकसमये सुश्रुतत्वे सति आग्व्येन स्वस्वभिषारणं क्रियते, अतो-  
 ऽवाप्याग्व्येन प्रोक्षणं युक्तं मिति । अमन्वक्तव्यतः मनूयः स्वीति  
 —“तूष्णीं मिति । आग्व्यप्रोक्षणे करणविशेषं विधाय स्वीति—  
 “दभैरिति । दभैः करणभूतेराग्न्याभ्यक्तेस्तात् प्रोक्षणं कर्त्तव्य-  
 मित्यर्थः । “ते हि शुद्धा इति । “ता हैता अनापूयिता आपो  
 यद्भां इति \* श्रुतेस्तेषां शुद्धत्वम् । तत्राप्यप्रभागैः कर्त्तव्यं मिति  
 विधायोपपादयति—“अग्रैरिति । “अग्रं हीति । दभैर्द्वयभागो  
 देवानां सम्बन्धी ; अत एवान्यत्रान्नातम्—“यत् पक्षि द्विनं  
 तद्देवानां, यदन्तरा तन्नगुष्णाणां, यत् समूलं तत् पितृणां  
 मिति † ॥ ३ ॥

प्रथमचितिप्रोक्षणसमये द्वितीयतृतीयादिचित्कर्त्तव्यानां मिष्ट-  
 कानां प्रोक्षणं विधित्वम् ‡ ब्रह्मवादिनां प्रश्न मवतारयति—  
 “तदाहु रिति । प्रथमा मेवेत्येवकारेण प्रोक्षणस्यान्ययोगव्याप्तिः  
 सूच्यते । एवं प्रथमचितिरेव प्रोक्षणात् सप्तचित्वाक्क एवो-  
 ऽग्निरस्य यजमानस्य कथं प्रोक्षितो भवति ? न चोक्तदेश-  
 प्रोक्षणे कर्त्तव्योऽग्निः प्रोक्षणसंस्कारसंस्कृतो भवतीत्यर्थः ; तथा  
 प्रागुक्तानङ्गुष्मणि द्वितीयादिचित्तीनां प्रणयनं कथम् ? आह-

\* १ का० १ प्र० ३ ब्रा० ५ क० ( १भा० ६० पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† तै० ब्रा० १. ६. ८. ६. ७ ।

‡ 'विधितुः'—इति च भावः ।

सहितं प्रणयनञ्च कथं सिध्यति ? इति त्रयः प्रश्नाः । अस्मिन्तर-  
माह—“यदैवालेति । ‘अत्र’ अस्मिन् समये ‘सर्वासां चितीनां’  
सम्बन्धिनोः ‘इष्टकाः’ आग्नयेन दर्भाग्रैः ‘प्रोक्षति’ इति यदस्ति,  
‘एवम्’ एव अनेन प्रकारेणैव खलु ‘अस्य’ यजमानस्य ‘एषः सर्वः’  
सप्तचित्तकः ‘अग्निः’ ‘प्रोक्षितो भवति’ । एव मेव चर्माधि-  
करणकप्रणयनं मन्त्रसहितप्रणयनं चास्मादेव प्रोक्षणात् सिध्य-  
तीत्यर्थः । अथ चर्मस्थवस्थितानां प्रथमचित्त्वर्थानां मिष्टकानां  
मुदग्रहणं विधत्ते—“उद्यच्छन्तीति । चर्मणः सकाशादिष्टका  
उदग्रहन्ति यजमानपरिचारकाः ॥ ४ ॥

अथाहुवनीयदेशं प्रति निनयनं विधिस्तदर्थं होतार  
मुद्दिश्याध्वर्योः सम्प्रैषवचनं विधत्ते—“अथाहेति । “अग्निभ्यः  
प्रक्षियमाणेभ्योऽनुब्रूहि”—इति सम्प्रैष मध्वर्युर्ब्रूयात् । बहुवचनान्ते-  
नाग्निशब्देनाग्न्यवयवाधितयो विवक्षिताः \* । आहुवनीयदेशं प्रति  
प्राचीनं क्षियमाणेभ्य इष्टकारूपेभ्योऽग्न्यवयवेभ्यः “हे होतरनु-  
ब्रूहि”—इति प्रैषार्थः † । तस्मानुवचनं होतुराश्वलायनेन दर्शि-  
तम्—“प्रेषितः पुरीषसहितयेऽन्वाहेति प्रक्षय्य पुरीषासो  
अग्नय इति ‡ त्रिरूपांश्च सप्रणवा मिति । एतच्चाग्रे एकीय-  
मतत्वेनोपन्यस्य पञ्चान्तर मप्यान्वास्यते—“आग्नेयोरन्वाहेति § ।  
सम्प्रैषानन्तरम् प्रथमचित्त्वर्थानां मिष्टकानां पूर्वस्यां दिशि हरणं

\* का० श्री० सू० १७. ३. २१ ।

† ‘सम्प्रैषार्थः’—इति च-पाठः ।

‡ वा० सं १२. ५० ।

§ पुरस्तादिहैव २०३ पृ० ४ पं० दृश्यम् ।

विधित्सुस्तदाख्यायिकया स्वीति— “एतच्च देवानिति । ‘एतद्’  
 एतस्मिन् समये ‘रक्षांसि’ रक्षोरूपाः ‘नाष्टाः’ नाशकारिण्यः प्रजाः  
 ‘देवान्’ ‘अजिघांसन्’ हन्तुं मैच्छन् । कथंभूतान् ? ‘मैच्छतः’  
 प्राचीन माहवनेयं देशं गन्तुं मुद्युक्तान् । ‘एतम्’ अग्निचयना-  
 त्मकं ‘यज्ञं’ ‘तंस्यमानान्’ विस्तारयिष्यमाणान् \* । जिघांसूना  
 मभिप्राय माह — “न यज्ञञ्च इत्यादि । हे देवाः ! यूयं न  
 ‘यज्ञञ्चे’ यागं न करिष्यथ, तथा ‘यज्ञं’ ‘न तंस्यञ्चे’ न विस्तार-  
 यिष्यथ † । ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण एवं दृष्टाभिप्रायेभ्यः ‘तैभ्यः’  
 रक्षोभ्यः ‘एतान्’ चितिरूपान् ‘अग्नीन्’ ‘एताः’ तदवयवभूताः  
 ‘इष्टकाः’, द्वितीयाबहुवचन मितत्, ‘सुरपवीन्’ सुरवस्तीक्ष्णधारोपे-  
 तान् वज्रान् ‘कृत्वा’ ‘प्राहरन्’ पूर्वादिदिगवस्थितानि तानि रक्षांसि  
 लक्ष्मीकृत्य प्रहृतवन्तः । ‘तैः’ इष्टकारूपैर्वज्रैः ‘एतान्’ असुरान्  
 ‘अस्तृण्वत’ अहिंसन् । ‘तान्’ ‘स्तृत्वा’, ‘अभये’ भयरहिते ‘अनाङ्गे’  
 नाशरहिते ‡ ‘एतं यज्ञम्’ ‘अतन्वत’ विस्तारितवन्तः ॥ ५ ॥

एव माख्यायिकया इष्टकाहरणस्य रक्षोनिरसनहेतुता  
 मुक्ता प्रकृते योजयति— “तदा एतदिति । ‘तत्’ खलु ‘एतद्’  
 वैः कृत मिष्टकानां प्रहरणं मत्र ‘क्रियते’ यजमानैरनुष्ठीयते ।  
 किं पुनस्तदेतदित्याह— “यद्देवा इति । देवैरेव रक्षसां  
 निरस्तत्वादितदानीन्तनयजमानकर्तृक मिष्टकानां प्रहरणं केवलं  
 तदनुकरणार्थं मित्याह— “इदं न्वित्यर्धदिना । ‘इदं तु’ इदानीं

\* ‘विस्तारिष्यमाणान्’—इति च-पाठः ।

† ‘विस्तारयथ’—इति च-पाठः ।

‡ ‘नाशकरहिते’—इति छ-पाठः ।

खलु यज्ञविरोधीनि 'तानि रक्षांसि' 'देवैरेव' 'उपहृतानि' \*  
बाधितानि । अतो 'यद्' 'देवाः' 'पूर्वम् अकुर्वन्' 'तत्' इदानीं मह  
मपि 'करवाणीति' तदनुकरणं मेवेदानीन्तनेष्टकाप्रहरणस्य  
प्रयोजनं मित्यर्थः ॥

निरस्तसजातीनां रक्षसां पाप्मनाञ्च विद्यमानत्वान्तस्त्रिरसन-  
हेतुत्वं मपि सम्भवतीति पक्षान्तरं माह— "अथो यदेवेति ।  
पक्षान्तरस्योक्तकोऽथोशब्दः । 'यदेव रक्षो यः पाप्मा' इति च  
जातावेकवचनम् ; "तेभ्य इति प्रतिनिर्देशबहुत्वस्य श्रुतत्वात् ।  
"तेभ्य एतानित्यादि, पूर्ववत् योज्यम् ।

अस्माच्चार्धवादादिष्टकाः पुरस्ताद्वरेदिति विधिरुच्येत्यर्थः † ॥ ६ ॥

स प्रैषं व्याचष्टे— "तद्यदग्निभ्य इति । ननु एक एव  
चित्त्योऽग्निः, कथं मस्य बहुत्वं मित्याशङ्क्याह— "बहुवो हीति ।  
सप्तचित्त्यभिप्रायेण बहुवचनम् । तासां मन्त्रेकदेशत्वादग्निशब्दा-  
भिधेयता ॥

"अथ यत् प्रक्रियमाप्तेभ्यः"—इति । पदं मनूय निर्वाति—  
"प्र हीति । 'हि' यस्मादध्युरिमा इष्टकाः 'प्रहरति' पुरस्तादा-  
हवनीयदेशं प्रापयति, अतः प्राचीनं क्रियन्त इति प्रक्रिय-  
माणास्तोऽज्जय उच्यन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र होत्रानुवक्तव्या ऋचं मेकीयमतेनोपन्यस्य व्याचष्टे— "त-  
च्चैक इति ‡ । 'तत्' तत्र खलु 'एके' केचन ऋक्शाखाध्यायिनः

\* 'उपहृतानि'—इति च बहुमूलपुस्तकपाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. २४ ।

“पुरीषासो अग्नय इत्येता सृच मन्वाहुः \* , तत्र पुरीषशब्दस्य पञ्चपर्यायत्वात् पुरीषास इत्यस्य पञ्चव्यास इति व्याख्यानम् ; पञ्चभ्यो हिता इत्यर्थः । “प्रावणेभिरिति । प्र शब्दोपेतं पदं सृचकं रूपं मित्यर्थः ॥

एतदेकीयं मतं प्रतिषिध्य स्वमतं माह— “न तथा कुर्यादिति । ‘आग्नेयीः’ अग्निदेवताकाः , ‘कामवतीः’ कामशब्दोपेताः , ‘गायत्रीः’ गायत्रीच्छब्दस्त्वा एव ऋचः ‘अनुब्रूयात् । काः पुनस्ता इति ता माह— “आ ते वक्ष इत्यादिना † ॥ ८ ॥

आग्नेयीत्यादिधर्मानवयुत्थानूय स्तौति— “आग्नेयीरन्वा-  
हेति । देवतारूपेणाग्निना तत्सम्बन्धिना सर्वेषां रूपाणां  
मुपासिर्भवतीत्यर्थः । तथा तासां सृचां कामशब्दोपेत-  
त्वात् सर्वकामोपासिरपि भवति । “रतोभूतं सिञ्चतीति ।  
अस्मा मवस्थायां रेतःसंस्तुतानां सिकतानां निवपनात्  
रत्नोरूपापन्नः खल्वयं चित्तोऽग्निस्तादृशं ‘सिञ्चति’ अङ्ग-  
प्रत्यङ्गबुक्तं संस्मरोतीत्यर्थः । ऋचां चित्त्वं मनूय स्तौति—  
“तिस्र इति । निगदसिद्धं मेतत् । “ताः सप्तेत्यादि ।  
‘ताः’ तिस्र ऋचः ‘सप्त’ सङ्ख्याकाः ‘सम्पद्यन्ते’ । सम्पत्तिप्रकारं  
माह— “सहेति । ‘त्रिः’ त्रिवारं मुक्ताभ्यां माद्योत्तसाभ्यां  
‘सह’ ‘सप्त’ सङ्ख्या सम्पद्यत इत्यर्थः । “सप्तर्षवः संवत्सर इति ।  
वसन्ताद्याः षट् , संसर्प्याहस्यतिल्लक्षणः स्मृतः ऋतुः ‡ ॥

\* ऋ० सं० इ. २२. ४ ; वा० सं० १२, ५ ।

† वा० सं० १२. ११५, ११६, ११७ ।

‡ “संसर्पोऽस्यैहसात्मा त्वा” इति तै० सं० १. ४. १४. १ ।

अनुवचने उपांशस्वरं विधाय स्तौति— “उपांशन्वाहेति । यथा पार्श्वस्था जना न शृण्वन्ति , तथागुब्रूयादित्यर्थः । ‘अन्न’ अस्मिन् समये रेतोरूपः खलु ‘यज्ञः’, रेतःसेचनस्योपांशत्वं परैरन्नायमानतयाकस्मैत्यत्वं लोके प्रसिद्धम् ; तस्मादनुवचनमुपांशु कर्त्तव्यमित्यर्थः । अनुवचनसमये होतुरनुगमनं विधत्ते— “अनुब्रुवन्नवेतीति । अनुवचनं कुर्वन् होता स्वयं मपीष्टकाः ‘अन्वेति’ अनुगच्छति । सर्वेषु छन्दःसु गायत्र्या अन्तर्भावात्तदन्तर्भूतैः ‘छन्दोभिरेव’ ‘एतत्’ एतेनानुगमनेन ‘यज्ञं’ ‘पश्चात्’ पृष्ठतः ‘अभिरचन्’ अभितः ‘पश्चात्’ सर्वतो रक्षःप्रभृतिभ्यो गोपायन् ‘एति’ ॥ ८ ॥

इष्टकाहरणसमये श्वेतस्याश्वस्य पुरतो नयनं विधत्ते— “अथाश्व मिति \* । अश्वस्यादित्यरूपवच्चात्मकत्वं कथयन् तस्य पुरस्तान्नयनं यज्ञविधातकरक्षोनिर्हरणहेतुत्वेन स्तौति— “एतद् वा इत्यादिना । “यद्दे न इति । ‘नः’ अस्मानित्यर्थः । “असौ वा आदित्य एषोऽश्व इति । विड् रूपस्य प्रजापतेश्चन्द्रसूर्यौ हि चक्षुषी , अश्वश्च तदीयाश्चक्षुष उत्पन्नः । तथा च श्रूयते— “प्रजापतेरश्वश्चयत् तत्परापतत् ततोऽश्वः समभवदिति † । अत एव तैत्तिरीयेऽपि श्रूयते— “असु मादित्य मश्वं श्वेतं भूतं

“संसर्पोऽस्यं हसत्याय स्वेत्याहस्ति तयोद्देशो मास इत्याहुः”—इति तद्ब्राह्मणम् । ते सं० ६. ५. ३. १० । अ० सं० १. २५. ८ । य० वा० सं० २२. ३०, ३१ । “असङ्कान्ति-दिसङ्कान्ती संसर्पोऽहस्यती समौ”—इति च नारदसंहितायाम् (ज्यो०) ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ख ।

† ते० सं० ५. ३. १२. १ ।

दक्षिणा मनयन्निति । “स्वस्ति समाश्रवतेति । ‘स्वस्ति’  
अविनाशरूपं क्षेमं सम्यगाप्नुवन्नित्यर्थः \* । अथ द्वाव्याख्यात-  
प्रायम् । अग्निचेन्नसमीपगमनं विधत्ते — “आगच्छत्यग्नि मिति ।  
अश्वप्रमुखास्ते ऋत्विज्यजमाना इष्टकाभिः सहाग्निसमीप  
भागेच्छेयुः, आगत्य च अग्निपुच्छस्य दक्षिणभागे चर्मणा-  
ह्वता ‘चितिम्’ ‘उपनिदधति’ चित्यर्थं मानोता इष्टकाः स्थाप-  
यन्तीत्यर्थः † ॥ १० ॥

“तं मुत्तरार्द्धेनेति । तस्याग्निपुच्छस्योत्तरभागेन परिशिदाख्याः  
शर्कराः ‘अस्तरेण’ परिश्रिता मग्नेष्व मध्यप्रदेशे ‘प्राञ्चं’ प्राक्षुखं  
‘नयन्ति’ । ‘तत्’ तेन ‘प्राञ्चं’ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । प्राचीदिक्स्वन्धि  
‘पाप्मानम्’ आदित्यात्मकाश्चलक्षणेन वक्ष्येण ‘अपहन्ति’ हिनस्ति ।  
पुनः ‘तम्’ अश्वं पूर्वस्यां दिशि अग्नेः परिश्रितां च मध्ये ‘दक्षिणा’  
दक्षिणतो निहितमुख मित्यर्थः । “दक्षिणादाच्” ‡ । गतं मन्यत् ।  
“तं प्रत्यक्ष मित्यादावेवं योज्यम् । एवं चतसृषु दिक्षाक्रामणेन  
‘सर्वाभ्य एव दिग्भ्यः’ ‘रक्षांसि’ विनाशानन्तरम् ‘एनम्’ अश्वम्  
‘उदञ्चन्प्राञ्चं’ प्रागुदक्षुख मित्यर्थः । ‘प्रसृजति’ विमुञ्चति ।  
‘तस्य’ प्रागुदक्षस्य स्थावको वाक्यशेषः प्रागान्नात इत्यति-  
दिशति — “तस्योक्त इति । एवं हि प्रागान्नातम् — “एषा  
होभयेषां देवमनुष्याणां दिग् यदुदीची-प्राचीत्यादि § ॥ ११ ॥

तस्याश्वस्य प्रत्यक्षुखनयनसमये चित्तेरवव्रापणं विधत्ते — “तं

\* ‘सम्यगाप्नुवन्तीत्यर्थः’ — इति च-पाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २२ ।

‡ पा० सू० ५. ३. ३६ ॥

§ इका० ४ प्र० ४ प्र० ३ क० ।



प्रत्यक्ष मिति \* । पुच्छस्य दक्षिणतो निहिताम् 'एतां चितिं' 'प्रत्यक्षं'  
 प्रत्यक्षुखं 'यन्तं' गच्छन्तं 'तम्' अश्वम् 'अवव्रापयति' यथा सोऽश्व-  
 सिति भवजिघ्रति , तथा तं प्रेरयेदित्यर्थः । "व्रा गन्धोपादाने" †  
 -इत्यस्मात्सिचि "अतिङ्गीत्यादिना ‡ पुक् । तदेतदिष्टकाना  
 मादित्येवव्रापणं प्रजासु प्राणप्रतिष्ठापनहेतुत्वेन स्तौति—  
 "असौ वा आदित्य इत्यादिना । अश्वस्यादित्यत्मकत्वं मुक्तम् § ।  
 'इमाः' परिदृश्यमाना देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपाः 'सर्वाः प्रजाः'  
 ईदृक्प्रजारूपाः 'ईदृकाः' बहुत्वसाम्यात् । "असावेवेत्यादि ।  
 'तत्' तेनाश्वकर्तृकेष्टकावव्रापणेन 'असौ' द्युलोकस्य आदित्यः  
 'एव' 'इमाः प्रजाः' प्राणात्मकैः स्वरश्मिभिः 'भवजिघ्रति' ॥  
 अवव्राणं करोति । तस्मादेव कारणात् 'एतद्' इदानीं 'सर्वः'  
 जनः 'अस्मिन्' सव्यात्मको भवामि 'इति' 'मन्यते' स्वात्मसत्ता  
 भवगच्छति । "प्रत्यङ्' ह्येवैष इति । प्रत्यक्षुख एव 'एषः'  
 सूर्यो 'वन्' गच्छन् 'इमाः सर्वाः प्रजाः' स्वरश्मिभिः 'अभिजिघ्रति'  
 'हि' यस्मादेवं प्रत्यक्षुखेन गच्छता अश्वेन चितेरवव्रापणं  
 युक्तं मित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथैतदवव्रापणं लोकत्रयसमावयने हेतुत्वेन स्तौति—"यद्दे-  
 वेत्यादिना । याः 'एताः' उपधास्यमानास्तिस्रः स्वयमाह-

\* का० श्री० सू० १७. ३. २६ ।

† घा० भ्वा० प० ६२६ ।

‡ पा० सू० ७. ३. २६ ।

§ पुरस्तादिहैव २१६ पृ० १३ पं० दृश्यम् ।

॥ 'अभिजिघ्रति'—इति सर्वमूलपुस्तकसम्मतः पाठः ।

आख्याः 'शर्कराः' क्षुद्रपाषाणाः पृथिव्यादिलोकत्रयात्मिकास्ताः ।  
 'तत्' तथा सति अग्नेन 'अवव्रापयति' इति 'यद्' अस्ति ; 'तत्'  
 तेन 'असावादित्य एव' 'इमान्' पृथिव्यादीन् 'लोकान्' खरन्म्या-  
 त्मके \* 'सूत्रे' मणिवत् 'समावयते' सम्यक् प्रोतान् करोति ।  
 "वेञ् तन्मुसन्ताने"—इति † धातुः । यदेतत् सूत्रं, 'तस्य' प्रति-  
 पादको वाक्यशेष उपरिष्ठादान्नास्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथैतदेवाश्वकर्तृकं मवव्रापणं मनूय अश्वलक्षणेनैव प्रजा-  
 पतिना रूपेण निलोयमानस्याग्नेक्षेतव्यस्य पुत्रलाभो नान्येनेत्या-  
 ख्यायिकया स्तोति— "यद्वैवेत्यादिना ‡ । "स्वाग्र पित्र इति ।  
 आत्याख्यायां वसन्मानत्वादस्य स्व-शब्दस्य सर्वनामसङ्ज्ञा पर्यु-  
 दस्ता "स्व मन्नातिधनाख्याया मिति § ; अतः सर्वनामकार्यं न  
 क्रियते । "त मश्वः शुक्ल इत्यादि । इत्थं देवैरभ्यर्थितः प्रजा-  
 पतिः 'शुक्लः' शुक्लवर्णः 'अश्वो भूत्वा' स्वपुत्रं अप्सु निलीनं तम्  
 अग्निम् 'अन्वैच्छत्' अन्विष्टवान् । अन्विष्टं 'तम्' अग्निम्  
 'अग्नयः' सकाशात् 'उपोदास्रतम्' उपनिष्क्रान्तम् पश्चिनीपत्रे स्थितं  
 'विवेद' लेभे । 'तम्' 'अग्निं'-गम्य 'अवेक्षास्रक्रे' ईक्षितवान् । 'सः'  
 खल्वग्निः 'एनम्' अश्वरूपिणं प्रजापतिम् 'उदुवोष' उत्पल्य  
 ददाह । "जघ दाहे ॥"—इत्यस्मात्सिद्धं । एवं यस्मादुवोष, 'तस्मात्'

\* इह 'खरन्म्यात्मके'—इति च-पाठः, 'खरङ्गिभ्यात्मके'—इति  
 क-पाठः । अन्यत्र ग्रन्थाभावः ।

† धा० भ्वा० उ० १००७ ।

‡ का० श्री० सू० १७. ३. २६ ।

§ धा० सू० १. १. ३५ ।

॥ धा० भ्वा० प० ६८३ ।

कारणात् शुक्लवर्णः 'अश्वः' 'उदुष्टं मुखं इव' उत्क्षिप्तमुख इव लोके दृश्यते । 'अथो' खलु तस्मादेवाग्निः साहात् सोऽश्वो 'दुरक्षो भावुकः' दुष्टे अक्षिणी यस्यासौ दुरक्षः । "बहुव्रीहौ सकथ्यन्तो रिति \* षच्-समासान्तः । दुष्टाक्षिभ्यां युक्तो भवितुं शीलवान् भवतीत्यर्थः । 'तम्' अश्वरूपिण मेव प्रजापतिं 'ऋत्वेव' अर्त्ति† गमयित्वेव, 'हिंसित्वेव' हिंसनं कृत्वेव । 'इव'-शब्दो वाक्यालङ्कारे, अर्त्तिहिंसयोरपारमार्थ्यद्योतको वा ; न अश्वसम्बन्धिहिंसादिना परमार्थतः प्रजापतेर्हिंसा भवतीत्यभिप्रायः । एव मश्वं दाहेन हिंसित्वा पश्चात्तदीयः प्रजापतिरेवाय मश्वरूपेण स्थित इति 'मेने' ज्ञातवान् । अथ च भीतः सन् 'तम्' अश्वरूपिणं प्रजापतिम् 'उवाच' हे प्रजापते ! 'तुभ्यं वरम्' अभिलषितं मर्थं 'ददामि' प्रयच्छामीति ॥ १४ ॥

"स होवाचेति । 'सः' खलु 'उवाच' प्रजापतिः । 'अनेन' अश्वेन मदीयरूपेण 'यः' यजमानः 'त्वा' त्वाम् 'अन्विच्छात्' । लोट आडागमः‡ । 'सः' यजमानस्त्वां 'विन्दादेव' लभेतेव । एतं वरं मर्हं वृणे इत्यर्थः । "स यो हैन मित्यादिना आख्यायिकासिद्धस्वार्थस्य प्रकृते योजनम् । 'एनम्' अग्निम् 'एतेन' अश्वेन 'रूपेण' 'वित्त्वा' लब्ध्वेत्यर्थः । स्पष्टं मन्यत् ॥ १५ ॥

तस्याश्वस्य वर्णनियमं विधाय स्तौति—“स शुक्लः स्यादिति § ।

\* पा० सू० ५. ४. ११३ ।

† 'अर्त्ति'—इति जातिरिक्तेषु पुस्तकेषु पाठः ।

‡ पा० सू० ३. ४. ६४ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ग ।

‘तत्’ खलु शीकाम् ‘एतस्य’ सूर्यस्य ‘रूपम्’, ‘य एषः’ परिदृश्य-  
मानः सन् अन्तरिक्षे रश्मिभिः ‘तपति’, अतस्तत्कारूप्याय शुक्ल-  
वर्ण एवाश्चो नेतव्य इत्यर्थः । तदसम्भवे वर्णान्तरविशिष्टोऽपि  
स्यादित्याह— “यदि शुक्ल मिति । शुक्लाभावे लोहितस्यामा-  
दिवर्णविशिष्टो भवेत्, स च तादृशोऽश्वस्वेव कर्त्तव्यः ।

अश्वासम्भवे पक्षान्तर मप्याह— “यद्यश्च मिति \* ।  
ननु अनडुहः सूर्यात्मकवज्ररूपत्वाभावात् पापहृन्नरूपाश्चकार्य-  
करत्वं कथं स्यादित्याशङ्क्याह— “आम्बेयो वा इति । अग्नि-  
समीपे निर्वापार्थं स्थितस्यानसो वह्नादनङ्गानग्निदेवताकः,  
‘अग्निः’ अपि ‘सर्वेषां पापना’ रक्षसाश्च ‘अपहन्ता’ बाधकः,  
अतस्तथाविधाग्निदेवताकत्वादनङ्गानप्यश्ववत् रक्षांसि पापनश्च  
विनाशयितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अग्निक्षेत्रस्याधिरोहणे प्रकारविशेषं विधिक्षुः प्रस्तौति—  
“अथात इति † । यतोऽध्वर्युणा आहुतिप्रदानसमयेऽग्निक्षेत्र-  
स्याधिरोहण मपेक्षितम्, अतः कारणात् ‘अथ’ अनन्तरम् ‘अधि-  
रोहणस्यैव’ । अधिरूपपर्यर्थः ‡ । अग्निक्षेत्रस्योपरि पादनिधान-  
लक्षणं क्रमण मधिरोहणम्, तस्यैव विचारः क्रियत इति  
शेषः । तत्रैकीयं मत मुपन्यस्य निरस्यति— “तं हैक इति ।  
“पुरस्तात् प्रत्यश्च मिति । पूर्वभागे प्रतिमुख मच्चन्त मात्मा-  
भिसुख्येन स्थित मग्निं मुखप्रदेशे ‘अधिरोहन्ति’-इत्येकः पक्षः ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ग ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २३ ।

‡ निरु० १. १. ५ ।

“पश्वाहेति”, पश्चान्तरम् । ‘पश्वाद्’ भागे पुच्छभागे ‘प्राञ्चं’ प्रकर्षे-  
णाञ्चन्तम् अनभिमुखं मग्निं मारोहन्तीत्यर्थः \* । “न तथा  
कुर्यादिति । एतस्य पक्षद्वयस्य निषेधः । पक्षद्वयेऽपि दोषः  
माह— “पशुरेष इति । अग्निरिति यदस्ति पशुरूपः †, ‘यः’  
खलु ‘पशुं’ ‘पुरस्तात्’ पूर्वभागे ‘प्रत्यञ्चं’ प्रतिमुखं मञ्चन्तम्  
‘अधिरोहति’ ‘तं’ पशुं ‘विषाणाभ्यां’ शृङ्गाभ्यां ‘हन्ति’ ॥

‘अथ’ एतदोषपरिहाराय ‘पश्वाद्’ भागे ‘प्राञ्चं’ प्रकर्षेणाञ्चन्तं  
‘तम्’ अनभिमुखं सन्तं पशुं मारोहति, ‘तम्’ आरोहन्तं पुरुषं स  
पशुः ‘पद्गां’ पश्चात्पदाभ्यां माहन्ति । यद्येवं पूर्वपश्चिम-  
भागयोरुभयत्राप्यारोहणे दोषः, कथं तर्हि तदारोहणं कर्त्तव्यं  
मित्यत्राह— “आत्मनैवेति । शिरःप्रदेशं पादप्रदेशञ्च विहाय  
‘आत्मना’ आत्मभागेन मध्यप्रदेशेन ‘एव’ ‘एनम्’ अध्ययुः  
‘आरोहति’ । लौकिकस्यापि पशोर्मध्यदेहेनैवारोहणं यतो दृश्यत  
इत्याह— “यं वा इति । ‘यं’ खलु ‘पशुम्’ अश्वादिकम्  
‘आत्मना’ शिरःपुच्छदेशौ विहाय मध्यदेशेन ‘आरोहन्ति’, ‘सः’  
पशुः तान् ‘पारयति’ पारं गन्तव्यावधिम् प्रापयति; ‘न’ च  
‘हिनस्ति’ आरूढं पुरुषं न व्यथयति । एव मन्त्रेण्यधिरोहणं  
आत्मभागे कर्त्तव्यं मिति विहितम् । तत्राप्युत्तरतः कर्त्तव्यं  
मिति विधत्ते— “उत्तरत इति । पुच्छस्योत्तरभागे उत्तर-  
पक्षस्य च समीपे तदधिरोहणं कर्त्तव्यम् । लोकप्रसिद्धिरप्येव  
मेवेत्याह— “यं हि कश्चेति । ‘यं’ कम् अपि अश्वादिलक्षणं

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २४ ।

† ‘सन्पशुरूपः’—इति च-पाठः ।

‘पशु मारोहन्ति’ लौकिकाः, ‘उत्तरतः’ वामभागत ‘एवैन मारोहन्ति ॥

आरोहणानन्तरं प्राक्तनवैकृतपदार्थानां मनुष्ठाने क्रमविशेष मनुक्रामति— “आवृह्णाग्नि मिति । आरोहणानन्तरम् ‘अौत्तर-वेदिकम्’ उत्तरवेदिसंस्काररूपं यत् कर्मजातं मस्ति, तत् कृत्वेत्यर्थः \* । तच्च कात्यायनेन विशदं सुक्तम्— “पशुवदुत्तरवेदि-प्रोक्षणाद्या सभारनिवपनात् कृत्वेति † । तदनन्तरम् ‘आत्मन्’ अध्वर्युः स्वात्मनि स्वकोयम् ‘अग्निं’ गृह्णीते, यथा बह्वि-धित्याग्निप्रदेशे न निष्क्रामति, तथा “मयि गृह्णामि”—इति ‡ मन्त्रजपेन § स्वात्मनि धारयेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन— “उत्तरवेदि मन्तरेण ॥ ०—० मयि गृह्णामीति जपतीति ¶ । अग्निग्रहणानन्तरं यत् सत्यसामेति प्रसिद्धं सामवेदे \*\* तद्यज-मानो गायेत् ॥ ११ ॥

पुष्करपर्णस्योपधानं विधत्ते— “पुष्करपर्णं सुपदधातीति †† । “तस्मात् इति । ‘तस्य’ पुष्करपर्णोपधानस्य ‘घतः’ अस्माद् ब्राह्मणादुत्तरस्मिन् ब्राह्मणे (३प्र० १ब्रा० ७क०) “योनिर्वै पुष्कर-पर्णं मित्यादिना वाक्यशेषेण स्तुतिः करिष्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

\* ‘उत्तरवेदिसंस्काररूपं कर्म कृत्वेत्यर्थः’—इति ज-पाठः ।

† का० औ० छ० १७. ३. १६, २७ ।

‡ वा० सं १३. १ । § ‘मन्त्रपदेन’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘मन्तरेण’—इति का० औ० छ० वाल्मीकि-सुद्धित-पाठः ।

¶ का० औ० छ० १७. ३. २७ ।

\*\* सा० वि० ब्रा० १. १. २ ।

†† का० औ० छ० १७. ३. २८ । ‡‡ का० औ० छ० १७. ४. १ ।

सायङ्काले कर्त्तव्यं विधत्ते— “अथैत मिति । ‘अथ’ पुष्करपर्णोपधानानन्तरम् ‘एत मश्वं’ ‘साये भूते’ अङ्गोऽवसाने जाते ‘परिणयन्ति’ अग्निदेवं परितः आवर्त्तयन्ति \* । “धी अन्त-  
कर्मणि †”—इत्यस्मात् जातः सायणशब्दः । अथैतदश्वस्य परितो जयनं यज्ञविवातकरक्षोनिमित्ताद् भयाद्रक्षणहेतुत्वेन स्तौति—  
“एतद्दे देवा इति । “एतं वक्ष मिति । अश्वात्मकं वक्ष मित्यर्थः । ‘अभिगोप्ता’ अभितः सर्वासु दिक्षु रक्षितारम् । “अमु मेवादित्य मिति । अमुभिन्नाकाशि दृश्यमानम् ‘आदित्यम्’ आदित्यात्मक मश्वम् । अश्वस्य चादित्यात्मकता प्रागेवोक्ता ‡ , इदानीं मप्याह— “असौ वा आदित्य इति । “तथैवास्मा इति । यथा सूर्यो राक्षसाद्यज्ञस्याभिगोप्ता , तेनैव प्रकारेण ‘अयम्’ अध्वर्युः ‘अक्षौ’ चेष्यमाणायाम्नये ‘एतम्’ अश्वात्मकं वक्षम् । सिद्ध मयत् ॥ १८ ॥

सायङ्कालेऽप्यस्तमयात् प्रागेवाश्वपरिणयनस्य कर्त्तव्यता माह— “तं वा इति । ‘आदित्यस्य’ ‘अस्तमय सुप’ अस्त-  
मवच्छ समीपे आदित्ये विद्यमाने सत्येवेति यावत् । “एष वा अस्तेत्यादि । ‘एषः’ खलु आदित्यः ‘अश्व’ चौयमान-  
स्यान्तेः ‘दिवा’ अङ्घ्रि ‘प्रत्यक्षं गोप्ता भवति’ । राशिं सचन्ते समवयन्ति इति ‘रात्रिसाचयानि’ रात्रौ सञ्चरन्शीतानि खलु ‘रक्षांसि’ तादृश्यां ‘रात्र्यां एव’ सकाशात् ‘अक्षौ’ वित्वा-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २५ ।

† घा० दि० प० ४१ ।

‡ अश्वत्थामिच्छेत् २०. ७. १७. ४०. इत्यस्य ।

अथे 'एतम्' अष्टात्मकं 'वज्रं' परोक्षमादित्वात्मकम् 'अभि-  
 गोसारम्' अभितो रक्षितारं करोति । 'परिणयति'-इति परि-  
 शब्देन सूचितं मये स्तोतुमाविष्करोति— "सर्वत इति ।  
 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु । परिणयनक्रियायाः त्रिरावृत्तिं विधाय  
 स्तोति— "त्रिष्कृत्व इति । "त्रिवृत्तमेवास्मा इति । 'त्रिवृत्तं'  
 त्रिगुणितम् । "अथैनमुदञ्च भित्त्वादि । 'अथ' त्रिष्कृत्वः  
 परिणयनानन्तरम् 'एनम्' अष्टं प्रागुदञ्चं विसृजेत् । तस्य च  
 स्थावको वाक्यशेषः प्राक्समान्नात इत्यर्थः । तस्याष्टस्य पुनः  
 प्रयोगं विधत्ते— "अथ स पुनरिति । 'सः' अष्टः पुनर् 'विपल्ययते'  
 विपरिवर्त्तते, उपधानकाले \* कर्मणोऽङ्गभावं प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।  
 "अथ पय गतौ †"—इत्यस्मात् सट्, "उपसर्गस्यायतौ"—इति  
 सत्वम् ‡ । 'तस्य' अष्टपर्यावर्त्तनस्योपरिष्ठात् प्रयोजनमभिधास्यत  
 इत्यर्थः ॥ १८ ॥ ४ [३. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थास्तुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेम्बरः ॥ ३ ॥

\* 'उपचारकाले'—इति च-पाठः ।

† घा० भा० आ० ४७४ ।

‡ पा० सू० द. २. १६ ।



ब्रह्माण्डं मोक्षदत्तं कनकचयतुसापूर्ववौ स्वर्गगर्भम् ,  
 सप्तम्योन् पञ्चसीरीं किदशतश्चसताधेनुसीवर्षभूमीः ।  
 रत्नोक्तां स्वर्गवाजिद्विपसहितरथौ साययिः सिङ्गचार्यौ ,  
 चन्द्रासीद्विष्वक्कं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटव ॥  
 चान्द्याद्विं धन्यजन्ता तिलभव मतुलः स्वर्भजं वर्षसुख्यः ,  
 कार्पासीयं जपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूष्यः ।  
 चान्द्योयं प्राण्यजन्ता सवषज मनुष्यः शर्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नायो रत्नरूपं गिरि मज्जत मुदा पाचसाक्षिङ्गचार्यः \* ॥

इति श्रीमद्भ्राजाभिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्बान्धुरन्धरेण

सायबाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

‘ सप्तमकाण्डे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे द्वितीयप्रपाठकश्च समाप्तः † ॥

\* अथवालीप्यन्तः पञ्चमकाण्डीयद्वितीयाध्यायान्ते द्रष्टव्याः ।

† एतस्मात्प्रपाठकसमाप्तिवचनादनन्तरम्— “कञ्चिकाः १०५”—  
 इति क, ख, “कञ्चिकासङ्ख्या १०५”—इति ग, घ । तत्र, १ ब्रा० १८ क०,  
 २ ब्रा० ३० क०, ३ ब्रा० ४० क०, ४ ब्रा० १२ क० ; सङ्कलनयान्न द्वितीय-  
 प्रपाठकीयचतुर्थं ब्राह्मणेयं १०५ कञ्चिकाः श्रुता इति सिद्धम् ॥

अथ

तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

आत्मन्नग्निं गृह्णीति चेष्टुन् । आत्मनो वा  
 ऽएत मधिजनयति यादृशाह्वे जायते तादृङ्ङेव  
 भवति स यदात्मन्नगृहीत्वान्निं चिनुयान् मनुष्या-  
 देव मनुष्यं जनयेन्मर्त्यान्मर्त्यं मनपहतपाप्मनोऽनप-  
 हतपाप्मन मथ यदात्मन्नग्निं गृहीत्वा चिनोति  
 तद्गनेरेवाध्यन्निं जनयत्यमृतादमृत मपहतपाप्मनो-  
 ऽपहतपाप्मानम् ॥ १ ॥

स गृह्णाति । मयि गृह्णाम्यग्रे ऽग्निमिति ।  
 तदात्मन्नेवाग्रेऽग्निं गृह्णीते \* शयस्योषाय सुप्रजा-

स्वाय सुवीर्यायेति तदु सर्व्वा आशिष आत्मन्  
 गृह्णीते मा मु देवताः सचक्षा मिति तदु सर्व्वा  
 देवानात्मन् गृह्णीते तद्यत् किञ्चात्मनोऽधि जन-  
 यिष्यन् भवति तत् सर्व्व मात्मन् गृह्णीते स वै  
 तिष्ठान्नात्मन्नग्निं गृह्णीत्वानूपविश्य चिनोति पशु-  
 रेष यदग्निस्तस्मात् पशुस्तिष्ठन् गर्भं धित्वानूप-  
 विश्य विजायते \* ॥ २ ॥

अथ सत्यं साम गायति । एतद्वै देवा  
 अभवन्सत्यमस्य मुखं करवाम ते सत्यं भविष्यामः  
 सत्यं नोऽनुवर्त्यति सत्यो नः स कामो भविष्यति  
 यत् कामा एतत् करिष्यामह ऽहुति ॥ ३ ॥

तु ऽएतत् सत्यं साम पुरस्तादगायन् । तदस्य  
 सत्यं मुखं मकुर्व्वंस्ते सत्यं मभवन्सत्यमेनानन्व-  
 वर्त्तत सत्यं एषां स कामोऽभवद्यत्कामा एतद्-  
 कुर्व्वत ॥ ४ ॥

तथैवैतद्यजमानः । यत् सत्यं साम पुरस्ताद्

गायति तदस्य सत्यं मुखं करोति स सत्यं भवति  
सत्य मेन मनुवर्त्तते सत्योऽस्य स कामो भवति यत्-  
काम एतत् कुरुते \* ॥ ५ ॥

तद्यत् तत् सत्यम् † । आप एव तदापो हि  
वै सत्यं तस्मादपो यन्ति तत् सत्यस्य रूप  
मित्याहुरप एव तस्य ‡ सर्वस्याय मकुर्वन्तस्मा-  
द्यदेवापो यन्त्यथेद॥ सर्वं जायते यदिदं  
किञ्च § ॥ ६ ॥

अथ पुष्करपर्णं मुपदधाति । योनिर्वै पुष्कर-  
पर्णं योनि मेवैतदुपदधाति ॥ ७ ॥

यदेव पुष्करपर्णं मुपदधाति । आपो वै  
पुष्करं तासा मियं पर्णं यथा ह वा ऽइदं पुष्कर-  
पर्णं मण्ड्वध्याहित मेवमिय मण्ड्वध्याहिता सेयं योनि-  
रग्नेरिय॥ ह्यग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयत ऽइमा

\* 'कुरुते'—इति ग, घ ।

† 'सत्यम्'—इति क ।

‡ 'तदस्य'—इति क, ख ।

§ 'किञ्च'—इति ग, घ ।

मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः सत्यादुप-  
दधातीमां तत् सत्ये प्रतिष्ठापयति तस्मादियं  
सत्ये प्रतिष्ठिता तस्माद्वियमेव सत्यमियं देवैषां  
लोकानां मन्वातमाम् ॥ ८ ॥

अपाम्पृष्ठं मसि योनिरन्नेरिति । अपां  
हीयं पृष्ठं योनिर्हीयं मन्नेः समुद्रमभितः पिन्व-  
मानमिति । समुद्रो हीमा मभितः पिन्वते वर्द्ध-  
मानो महा २॥७ ऽथा च पुष्कर ऽद्विति वर्द्धमानो  
महीयस्व पुष्कर ऽद्वत्येतद्विवो मात्रया व्वरिम्णा  
प्रथस्वेत्यनुविमार्ष्टसौ वा ऽथादित्य एषोऽग्निर्नो  
हेतुमन्यो दिवो व्वरिमा यन्तु मर्हति द्यौर्भूत्वैनं  
यच्छेत्तेवैतदाह स्वराजोपदधाति स्वाराज्यं अपां  
सादयित्वा सूददोऽसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः  
॥ ९ ॥

अथ रुक्ममुपदधाति । असौ वा ऽथादित्य  
एष रुक्म एष हीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते  
रोचो ह वै तं रुक्म इत्याचक्षते परोऽक्षं परो-  
ऽक्षकामा हि देवा अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति

सु हिरण्यस्यो भवति परिमण्डल एकविंशति-  
निर्बाधस्तस्योक्तो बभ्रुरधस्तान्निर्बाध मुपदधाति  
रश्मयो वा ऽएतस्य निर्बाधा अवस्तादु वा ऽएतस्य  
रश्मयः ॥ १० ॥

तं पुष्करपर्णं ऽउपदधाति । योनिर्वै पुष्कर-  
पर्णं योनावैवैन मेतत् प्रतिष्ठापयति ॥ ११ ॥

यदेव पुष्करपर्णं ऽउपदधाति । प्रतिष्ठा वै  
पुष्करपर्णं मियं वै पुष्करपर्णं मियं मु वै प्रतिष्ठा यो  
वा ऽअस्या मप्रतिष्ठितोऽपि दूरे सन्नप्रतिष्ठित एव  
सु रश्मिभिर्वा ऽएषोऽस्यां प्रतिष्ठितोऽस्या मेवैन  
मेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥ १२ ॥

यदेव पुष्करपर्णं ऽउपदधाति \* । इन्द्रो हवत्  
हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्ता अब्र-  
वीद्विभेमि वै पुरं मे कुरुतेति स योऽपां रस  
आसीत् मूर्ध्वा समुद्रोऽस्ता मस्यै पुर मकुर्व्वस्तद्यदस्यै  
पुर मकुर्व्वस्तस्मात् पुष्करं पुष्करं † ह वै तत् पुष्कर

\* 'उपदधाति'—इति क, ख ।

† 'पुष्करं पुष्करं'—इति घः पुस्तकपाठः, इह च डा० वेबरमहोदयेनापि ।

मित्वाचक्षते परोऽब्धं परोऽब्धकामा हि देवास्त-  
द्यत् पुष्करपर्णं उपदधाति य मेवास्मै मापो रसः  
समुदौहत्या मसौ पुर मकुर्व्वस्तस्मिन्नेवैन मेतत् प्रति-  
ष्ठापयति ॥ १३ ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति । असौ वा  
ऽप्तादित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्ताज्जायते वि सीमतः  
सुरुचो ज्वेन आवरिति मध्यं वै सीमेमे लोकाः  
सुरुचो ऽप्तावादित्यो ज्वेनो यद् वै प्रजिजनिषमाणो  
ऽवेनत्तस्मादेनस्तानेष सीमतो मध्यतो विवृण्वन्-  
देति स बुध्या उपमा अस्य विष्टा इति दिश्यो  
वा ऽस्य बुध्या उपमा विष्टास्ता ज्ञेष उपवि-  
तिष्ठते सतश्च योनि मसतश्च विवरितीमे वै  
लोकाः सतश्च योनिरसतश्च यच्च ह्यस्ति यच्च न  
तदेभ्य एव लोकेभ्यो जायते तिष्ठभोपदधाति  
चैष्टभो ज्ञेष सादयित्वा मुददोहसाधिवदति तस्यो-  
क्तो वन्तुः ॥ १४ ॥ . . .

अथ पुरुष मुपदधाति । स प्रजापतिः सो-  
ऽग्निः स यजमानः स हिरण्मयो भवति ज्योति-

वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृतं हिरण्यममृतमग्निः  
पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः ॥ १५ ॥

यदेव पुरुषमुपदधाति । प्रजापतेर्विस्तृता-  
द्रम्या तनुर्मध्यतोऽदक्रामत्तस्या मेन मुत्क्रान्तायां  
देवा अजहुस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वन्तदस्मिन्नेतां  
रम्यां तनुं मध्यतोऽदधुस्तस्या मस्य देवा अरमन्त  
तददस्यैतस्यां रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त  
तस्माद्विरम्यं हिरम्यं ह वै तद्विरम्यं मित्वा-  
चक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तथैवास्मि-  
न्नय मेतां रम्यां तनुं मध्यतो दधाति तस्या  
मस्य देवा रमन्ते प्राणो वा ऽअस्य सा रम्या  
तनुः प्राण मेवास्मिन्नेतं मध्यतो दधाति ॥ १६ ॥

तं रुक्म उपदधाति । असौ वा ऽआदित्य  
एष रुक्मोऽयं य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः स  
एष तमेवैतदुपदधाति ॥ १७ ॥

उत्तानमुपदधाति । एतद्वै देवा अभवन् यदि  
वा ऽइमावर्वाञ्चा ऽउपधास्यामः सर्वं मेवेदं प्रध-  
क्ष्यतो यद्यु पराञ्चौ पराञ्चावेव तप्स्यतो यद्यु



सम्यञ्चावक्तुरैवैतावितज्जोतिर्भविष्यत्यथो ऽपन्योऽन्यं  
 हिं सिध्यत ऽइति तेऽर्वाञ्च मन्य मुपादधुः  
 पराञ्च मन्यं स एष रश्मिभिरर्वाङ् तपति रुक्माः  
 प्राचैरेष ऊर्ध्वः पुरुषः प्राञ्च मुपदधाति प्राङ्  
 ह्येषोऽग्निश्चीयते ॥ १८ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताय ऽइति । हिरण्य-  
 बर्भो ह्येष समवर्त्तताये भूतस्य जातः पतिरेक  
 आसीदित्येष ह्यस्य सर्वस्य भूतस्य जातः पति-  
 रेक आसीत् दाधार पृथिवीं द्या मुतेमा मित्येष  
 वै दिवं च पृथिवीं च दाधार कस्मै देवाय  
 इविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्मै इविषा  
 विधेमेत्येतत् ॥ १९ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवी मनु द्या मिति । असी  
 वा ऽपादित्यो द्रप्सः स दिवं च पृथिवीं च  
 स्कन्दतीत्यमू मित्तीमा मिमं च योनि मनु यश्च पूर्व  
 ब्रूतीमं च लोकं ममं चेत्येतदथो यश्चेद् मेतर्हि  
 चीयते यश्चादः पूर्व मचीयतेति समानं योनि  
 मनु सञ्चरन् मिति समानं ह्येष एतं योनि मनु

सञ्चरति द्रुपं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इत्यंसौ वा  
ऽआदित्यो द्रुपो दिशः सप्त होत्रा अमुं तदादित्यं  
दिक्षु प्रतिष्ठापयति ॥ २० ॥

हाभ्या मुपदधाति । द्विपाद्यजमानो यजमानो-  
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतदुप-  
दधाति । त्रिष्टुभ्यां त्रैष्टुभो ऋषे सादयित्वा  
सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥ २१ ॥

अथ साम गायति । एतद्वै देवा ऽएतं  
पुरुषं मुपधाय \* तमेतादृशं मेवापश्यन्त्यैतच्छुष्कं  
फलकम् † ॥ २२ ॥

तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथास्मिन् पुरुषे  
व्वीर्यं दधामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्व मिति चिति  
मिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन् पुरुषे  
व्वीर्यं दधामेति ॥ २३ ॥

ते चेतयमानाः । • एतस्मात्मापश्यंस्तदगाय-

\* 'मुपधाय'—इति क ।

† 'फलकम्'—इति ग, 'फलकम्'—इति घ ।

स्तदस्मिन् वीर्यं मदधुस्तथैवास्मिन्नयं मेतद्दधाति पुरुषे  
गायति पुरुषे तद्दीर्यं दधाति चित्रे गायति सञ्चाञ्चि  
हि चित्राण्यमिस्तु मुपधाय न पुरस्तात् पुरी-  
वाक्केन्मायं मग्निर्हि न सदिति \* ॥ २४ ॥

अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत † । ऽब्रुमे वै लोकाः  
सर्पास्ते ह्यनेन सर्वेषां सर्पन्ति यदिदं किञ्च सर्वेषां  
मु ह्येष देवानां मात्मा यदस्मिन्ने देवा एत मात्मान  
मुपधायाविभयुर्यदै न ब्रुमे लोका अनेनात्मना न  
सर्पेयुरिति ॥ २५ ॥

त एतानि सर्पनामान्यपश्यन् । तैरुपतिष्ठन्  
तैरस्मा 'ऽब्रुमाँल्लोकाः ‡ नस्थापयन्तैरनमयन्त्यदुनमयं-  
स्तस्मात् सर्पनामानि तथैवैतद्यजमानो यत् सर्प-  
नामैरुपतिष्ठत ऽब्रुमानेवास्मा ऽएतल्लोकानस्थापयती-  
माँल्लोकान्नमयति तथो हास्यैत एतेनात्मना न  
सर्पन्ति ॥ २६ ॥

\* '०हि न सदिति'—इति ग, घ ।

† 'रुपतिष्ठते'—इति क, ख ।

‡ 'ऽब्रुमाँल्लोका'—इति ग, घ ।

यदेव सर्पनामैरुपतिष्ठत । ऽइमे वै लोकाः  
 सर्पा यच्च किञ्च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति  
 तद्यत् सर्पनामैरुपतिष्ठते यैवेषु लोकेषु नाष्ट्रा यो  
 व्यहरो या शिमिदा तदैवैतत् सर्व्वं शमयति  
 ॥ २७ ॥

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो \* ये के च पृथिवी मनु ।  
 ये ऽचक्षुरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति  
 ये ऽएवैषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति  
 ॥ २८ ॥

या इषवो यातुधानाना मिति । यातुधान-  
 प्रेषिता हैके दशन्ति ये वा व्यनस्पती२॥९२नु + ये  
 व्यावटेषु शिरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ये चैव  
 व्यनस्पतिषु सर्पा ये चावटेषु शिरते तेभ्य एतन्नम-  
 स्करोति ॥ २९ ॥

ये व्यामो रोचने दिवो । ये वा सूर्य्यस्य

\* 'सर्पेभ्यः । ये'—इति क, ख ।

† 'व्यनस्पती१॥९२नु'—इति ख, 'व्यनस्पती२नु'—इति ग, घ । व्य-  
 न्स्पती२नु—इति च ढटो ङा० वेचरेण ।

रश्मिषु येषा मप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नम  
 इति यत्र-यत्रैते तदेवैभ्य एतन्नमस्करोति नमो  
 नम इति यत्रो वै नमो यस्तेनैवैनामेतन्नमस्का-  
 रेण नमस्यति तस्मादु ह नायस्त्रिभुं ब्रूयान्न-  
 मस्त ऽइति यथा हैनं ब्रूयाद्यन्नस्त ऽइति तादृक्  
 तत् ॥ ३० ॥

त्रिभिरुपतिष्ठते । त्रय इमे लोका अथो त्रिभु-  
 दनिर्यावाननिर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मा ऽएत-  
 दिमांस्तोक्तानस्थापयत्यथो तावतैवैतदिदं सर्वं  
 शमयति तिष्ठन्नुपतिष्ठते तिष्ठन्तीव वा ऽइमे लोका  
 अथो तिष्ठन्वै व्यौर्यवत्तरः \* ॥ ३१ ॥

अथैन मुपविश्याभिजुहोति † । आज्येन पञ्च-  
 गृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः सर्वतः परिसर्पं सर्वाभ्य  
 एवैन मेतद्दिग्भ्योऽन्नेन प्रीणाति ॥ ३२ ॥

यद्वैवैन मभिजुहोति । एतद्वै देवा एत मा-

\* 'व्यौर्यवत्तरः'—इति क ।

† 'अजुहोति'—इति क ।

त्मान्मुपधायाविभयुर्यद्वै न ब्रूमिह रुद्रांसि  
 नाष्टा न हन्युरिति त एतान् राक्षोघ्नान् प्रतिसरा-  
 नपश्यन् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वी मिति  
 राक्षोघ्ना वै प्रतिसरास्त एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो  
 दिग्भ्यो रुद्रांसि नाष्टा अपहृत्याभये ऽनाष्ट एत  
 मात्मानं समस्कुर्वन् तथैवेतद्यजमान एतैः प्रति-  
 सरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रुद्रांसि नाष्टा अपहृत्या-  
 भये ऽनाष्ट एत मात्मानं संस्कुर्वते ॥ ३३ ॥

आज्येन जुहोति । वृज्यो वा ऽआज्यं वृज्ये-  
 नैवेतद्रुद्रांसि नाष्टा अपहन्ति पञ्चगृहीतेन  
 पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरो-  
 ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवेतद्रुद्रांसि  
 नाष्टा अपहृत्याग्नेयौभिरग्निर्वै ज्योती राक्षोहान्ति-  
 नैवेतद्रुद्रांसि नाष्टा अपहन्ति त्रिष्टुग्भिर्वृज्यो  
 वै त्रिष्टुब् वृज्येनैवेतद्रुद्रांसि नाष्टा अपहन्ति सर्जतः  
 परिसर्पं सर्वाभ्य एवेतद्दिग्भ्यो रुद्रांसि नाष्टा  
 अपहन्ति ॥ ३४ ॥

पश्चाद्गनेः प्राङ्मासीनः । अथोत्तरतो \* दक्षि-  
 ञाय पुरस्तात् प्रत्यङ्मथ जघनेन परीत्य दक्षि-  
 ञत उदङ्मासीनस्तद्विष्णावृत्तं देववायानुपरीत्य  
 पश्चात् प्राङ्मासीनस्तथो हास्यैतत् प्रागेव कर्म कृतं  
 भवति † ॥ ३५ ॥

अथ सुचा उपदधाति । बाह्व वै सुचौ बाह्व  
 ऽएवास्मिन्नेतत् प्रतिदधाति ते यत् सुचौ भवतः  
 सुचौ हि बाह्व ऽइदं मेव कपुच्छल ‡ मयं दण्डो हे  
 भवतो हो हीमौ बाह्व पार्श्वत उपदधाति पार्श्वतो  
 हीमौ बाह्व ॥ ३६ ॥

कार्घ्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । एतद्वै  
 देवा अविभयुर्यद्वै नो यज्ञं दक्षिणतो रुद्राऽसि  
 नाष्टा न हन्युरिति त ऽएतए रुद्रोऽयं व्यनस्पति  
 मपश्यन् कार्घ्यं त ऽएतेन व्यनस्पतिना दक्षिणतो

\* 'प्राङ्मासीनोऽप्योत्तरतो'—इति ग ।

† 'भवति'—इति क ।

‡ 'कपुच्छल'—इति क, ख । 'कपुच्छल'—इति, 'कपुच्छल'—

इति च पाठौ मा०-सम्मतौ इदं च डा०-वेदरेख ।

रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्ट एतं यज्ञं मत-  
 न्वत तथैवैतद्यजमान एतेन व्यनस्पतिना दक्षिणतो  
 रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्ट एतं यज्ञं  
 तनुत ऽआज्येन पूर्णा भवति व्यजो वा ऽआज्यं  
 व्यज्येणैवैतदक्षिणतो रुक्षांसि नाष्टा अपहन्ति  
 ॥ ३७ ॥

अथौदुम्बरी मुत्तरत उपदधाति । ऊर्ध्वं रुस  
 उदुम्बर ऊर्ध्वं मेवास्मिन्नेतद्रुसं दधाति दध्ना पूर्णा  
 भवति रुसो वै दधि रुस मेवास्मिन्नेतद्वधाति ॥ ३८ ॥

यदेव सुचा उपदधाति । प्रजापतेर्व्विस्वस्त-  
 स्यामिस्तुज आदाय दक्षिणाकर्षत् सोऽवोदरं मद्यत्  
 कृष्टोदरमत्स्मात् कार्श्र्योऽथास्येन्द्र ओज आदायो-  
 दङ्कुदक्रामत् स उदुम्बरोऽभवत् ॥ ३९ ॥

तावन्नवीत् । उप मेतं प्रति म एतद्वत्तं येन  
 मे युव मुदक्रमिष्ट मिति ताभ्यां वै नौ सर्व्वं मन्नं  
 प्रायच्छेति तौ वै मा बाहू भूत्वा प्रपद्येथा मिति  
 तथेति ताभ्यां वै सर्व्वं मन्नं प्रायच्छन्तावेनं बाहू  
 भूत्वा प्रापद्येतां तस्माद् बाहुभ्या मेवान्नं क्रियते



बाहुभ्यां जयति बाहुभ्यां हि स सर्वं मम  
प्रायश्चित्तम् ॥ ४० ॥

स कार्घ्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । अग्नेष्टु  
तेजसा सादयामीति \* यदेवास्य तदग्निस्तेज आदाय  
दक्षिणाकर्षत्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्यग्निर्मूर्धा दिवः  
ककुदित्येष उ सोऽग्निर्गायत्या गायत्रोऽग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवेना मेतदुपदधाति  
घृतेन पूषा भवत्वग्नेयं वै घृतं स्वेनैवेन † मेतद्  
भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥ ४१ ॥

अथौदुम्बरी मुत्तरत उपदधाति । इन्द्रस्य  
त्वौजसां सादयामीति यदेवास्य तदिन्द्र षोडश  
आदायोदङ्गुदक्त्रामत्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति भुवो  
यज्ञस्य रवसश्च मेतेत्येष उ स इन्द्रः सा यदग्ने-  
य्यग्निकर्म ह्यय यच्चिष्टुर्चैष्टुभो होन्द्र ऐन्द्राम्नो-  
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवेना मेतदुप-

\* 'तेजसादयामीति'—इति ख ।

† 'स्वेनेन'—इति ख ।

दधातीन्द्राग्नी वै सर्व्वे देवाः सर्व्वदेवत्वोऽग्नि-  
 र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवेना मेतदुप-  
 दधाति दधा पूर्णा भवत्येन्द्रं वै दधि स्वेनैवेन  
 मेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥ ४२ ॥

तावत्सैताविन्द्राग्नी ऽएव बाह्वः\* । तावेनं तेजसा  
 च व्यीर्येण च सह प्रपद्येते सः समग्रत्युरः पुरुषः †  
 माकाशश्च ब्रवाभ्याप्नोति तदालिख्यैने ऽउपदधात्येष  
 हैतयोर्लोकः ‡ ॥ ४३ ॥

ते हैके तिरश्चा ऽउपदधति । तिर्यञ्चौ वा  
 ऽइमौ बाह्वः § ऽइति न तथा कुर्यात् प्राच्यावो-  
 पदध्यात् प्राङ् छेषोऽग्निश्चीयतेऽथो ऽएवं वै बाह्वः  
 व्यीर्यवत्तरौ ते नानोपदधाति नाना सादयति  
 नाना सुददोऽसाधिवदति नाना हीमौ बाह्वः ॥

॥ ४४ ॥

\* , ॥ 'बाह्वः'—इति क , 'बाह्वः'—इति ग , घ ।

† 'पुर एव'—इति ख ।

‡ 'हैतयोर्लोकः'—इति ग , घ ।

§ 'बाह्वः'—इति ख ।

तदाहुः \* । नैतस्य पुरुषस्य बाह्व कुर्यादेतौ  
 वा ऽअस्य बाह्व ये ऽएते सुचौ नेदतिरेचयानीति  
 स वै कुर्यादेवैतौ वा ऽअस्य बाह्व ऽअन्वेते सुचा-  
 वयो ऽएतौ पचावयो यान्वेतस्मिन्नमनौ रूपाय्युप-  
 धास्यन् भवति यान्स्तोमान् यानि पृष्ठानि यानि  
 छन्दाऽस्येतयोरेव सा संस्कृतिरेतयोर्वृद्धिस्तस्मादु  
 कुर्यादेवैतस्य पुरुषस्य बाह्व † ॥ ४५ ॥ १ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [४. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्रसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे , त मङ्गं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अग्निग्रहण-सत्यसामगान-पुष्करपर्णीपधानानि पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे  
 सङ्गृहेण विहितानि , इदानीं तानि क्रमेण प्रपञ्चयति— “आत्म-  
 न्निम्नं गृह्णीते चेन्नित्यादिना ‡ । ‘चेन्न’ चयनं करिष्यन्  
 अध्वर्युः ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘निम्नं’ ‘गृह्णीते’ मन्त्रेण धारयेत् ।

\* ‘तदाहुः’—इति ख , ‘तदाहुः’—इति ग , घ ।

† ‘बाह्व’—इति ख ।

‡ का० जी० ख० १७. ३. २७ क । ,

“आत्मनो वा इत्यादि । अध्वर्युः ‘आत्मनोऽधि’ अधिः पञ्च-  
म्यर्थानुवादी ; “अधिपरी अनर्थकौ”—इति \* पाणिनिस्मरणत्वात् ।  
आत्मनः सकाशात् खल्वध्वर्युः ‘एतं’ चित्वाग्निं ‘जनयति’ ।  
तथा सति लोकस्थितिरीदृशी, ‘यादृशात्’ यादृक्स्वरूपात् खलु  
मनुष्यादिशरीरात् गर्भो ‘जायते’, ‘सः’ ‘तादृक्’ तत्तद्वद् एव निष्प-  
द्यते ; सति त्वन्निग्रहणे अध्वर्युरन्यात्मको भवति, तादृशादध्व-  
र्योर्जायमानश्चित्वाग्निरपि साक्षादग्निरूपो भवति । तस्मादात्म-  
न्यन्निग्रहणं कर्त्तव्यं मित्यर्थः ॥

अगृहीत्वा चयने दोषं मुपन्यस्यति—“स यदात्मकिति । ‘सः’  
अध्वर्युः ‘यत्’ यदि आत्मन्यन्निग्रहणं मज्जत्वा ‘अग्निं चिनु-  
यात्’, तदा देवरूपानापञ्चात्मन्युपशरीरमात्रात् मनुष्यात्मकं मेव  
‘जनयेत्’ ; कारणानुरूपत्वात् कार्यस्येति भावः । कारणं हि  
शरीरं मनुष्यजातीयम्, अत एव ‘मर्त्यं’ मरणशीलम् अनपहत-  
पापकं मरणादिहेतुभूतपापसहितम्, तथाविधाज्जायमानोऽग्नि-  
रपि तादृग्रूपो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥

सति त्वन्निग्रहणेऽभिहितदोषवैपरीत्यं माह—“अथ यदेति ।  
“तदन्नेरेवेत्यादि । अग्निरूपादात्मनः सकाशाज्जनयन् ‘अग्निम्’  
एव ‘जनयति’ । असृतरूपस्याग्नेर्धारणादध्वर्युरप्यसृतात्मकः । शिष्टं  
स्पष्टम् ॥ १ ॥

इत्थं मन्निग्रहणस्यावश्यकर्त्तव्यतां मुपपाद्य समन्त्रकं तद्  
विधत्ते—“स गृह्णातीति । “मयि गृह्णामीति † यद्वृत्त-

\* पा० ख० १. ४. ६३ ।

† वा० सं० १३. १ ७

मन्त्रः'। तत्र मयोत्पत्त्यष्टकव्यादात्मन्यन्तेर्ग्रहणं निगदसिद्ध  
मित्याह — “तदात्मन्नेवेति । ‘अग्ने’ चयनात् प्राक्काले । द्वितीय-  
भाग मनुष्य, तस्य तात्पर्यं माह — “रायस्त्रोषायेति । राय-  
स्त्रोषो धनसमृद्धिः, सुप्रजास्त्वं शोभनपुत्रपौत्रादियुक्तत्वम्, शोभन-  
वीर्ययोगः सुवीर्यम्, ‘तत्’ तेन मन्त्रभागेनोक्तसत्त्वयाः ‘सर्वाः’  
‘आश्विनः’ फलानि आत्मनि स्वीकरोति । द्वितीयभाग मनुष्य  
व्याचष्टे — “मा सु देवता इति । यस्मात्प्राणदेवताः ‘मा सु’ मा  
मेव ‘सचन्ता’ मदीययज्ञं सेवन्ता मिति । एतेन मन्त्रभागेन देव-  
ताना मप्यात्मनि ग्रहणं कृतं भवति । “तद्यत्किञ्चेत्यादि ।  
‘तत्’ प्रागुक्तं ‘यत्’ किं अपि मन्त्रप्रतिपाद्यं रायस्त्रोषादिक  
मात्मनो जनयितव्यं मस्ति, तत् सर्वं मनेन मन्त्रेणात्मनि गृहीत  
मेव भवतीति ॥

अभियग्रहणस्य तिष्ठता कर्त्तव्य मिति स्थितिसत्त्वणं गुणं  
विधत्ते — “स वै तिष्ठन्निति \* । चयनसमये तु उपवेशनम् †  
तस्य विधत्ते — “अनूपविश्य चिनोतीति । यत्र यत्रेष्टका सुप-  
दधाति, तं तं देशं गत्वा तस्मिन्नेपि ‡ उपविश्य, चिनुयादित्यर्थः ।  
एतदुभयं स्वीति — “पशुरेव इति । पशुरूपो हि ‘एवः’ अग्निः,  
‘तस्मात्’ एव हि कारणात् गवादिसत्त्वणः ‘पशुः’ तिष्ठन्नेव गर्भं  
धत्ते, ‘अनूपविश्य’ ‘विजायते’ प्रसूते । अतोऽभियग्रहणं गर्भधारण-

\* का० श्रौ सू० १७. ३. २७ ख ।

† ‘चयनसमयेऽनूपवेशनम्’ — इति ज-पाठः ।

‡ ‘समीपे’ — इति ज-पाठः ।

भूतत्वात् तिष्ठतैव कार्यम्, अयनन्तु प्रसवरूपत्वादुपविष्टेनेति  
तात्पर्यम् ॥ २ ॥

अथ प्राग्विहितं सत्वसाज्जो गान मनुद्य स्तीति— “अथ  
सत्व मिति \* । ‘एतत्’ एतस्मिन्नन्तरे खलु ‘देवा अभवन्’, ‘अस्व’  
अग्नेः ‘सत्वं’ सत्वफलसाधनं साम ‘सुखं’ करवाम’, तथाकर-  
णाच्च वयं ‘सत्वं’ भविष्यामः’ सत्वभूताः सर्वदा बाधरहिताः  
स्याम । ‘नः’ अस्मान् ‘सत्वं’ सत्वाभिमानिदेवता ‘अनुवर्त्सति’  
अनुवर्त्तनं करिष्यति । तथा च ‘नः’ अस्माकं ‘सः’ तादृशः  
‘कामः’ यन्नफलरूपः ‘सत्वं’ यथार्थो भविष्यति, ‘यत्’ फलं  
कामयमाना ‘एतद्’ अग्निचयनात्मकं कर्म करिष्यामहे । ‘इति’-  
शब्दो देवानां कामपरिसमाप्ति ॥ ३ ॥

“त एतदिति । एवं विचार्यते— ‘ते’ देवाः ‘एतत् सत्वं साम’  
‘पुरस्तात् अगावन्’ ‘तत्’ तेन सत्वसाज्जो गानेन ‘अस्व’ अग्नेः  
‘सुखं’ ‘सत्वं मनुर्वन्’ ततः ‘ते’ देवाः ‘सत्वं मभवन्’ नित्यत्वं  
प्राप्ता इत्यर्थः । व्याख्यातप्राय मन्थत् ॥ ४ ॥

इत्थं परकृति सुपन्थस्य प्रकृते योजयति— “तथैवेति । यथा  
देवाः, ‘तथैव’ ‘एतद्’ एतर्हि ‘यजमानः’ ‘सत्वं साम’ ‘पुरस्तात्’  
पूर्वस्थां दिशि ‘गायति’ ‘इति’ ‘यत्’ अस्मि, ‘तत्’ तेन ‘अस्व’  
चित्वाग्नेः सुखं ‘सत्वं’ सर्वदा विद्यमानं ‘करोति’ । ‘सः’  
यजमानः स्वयं मपि तथाकरणात् ‘सत्वं’ सत्वात्मको ‘भवति’ ।  
गत मन्थत् ॥ ५ ॥

सत्यपदस्याभिप्रेत मर्थं माविष्कुर्वन् प्रशंसति— “तद्यदिति ।  
‘तत्’ तच्च तदुक्तविधं ‘यत् सत्यम्’, ‘आप एव तत्’ अथ मेव \*  
सत्यपदेनोक्त मित्यर्थः । अपां सत्यरूपता सुपपादयति—  
“आपो हीति । ‘हि’ यस्मात् प्रथमसृष्टत्वादायः सत्यात्मिकाः ,  
‘तस्मात्’ येन भूप्रदेशेन ताः ‘आपः’ ‘यन्ति’ गच्छन्ति, ‘तत्’ स्थानं  
‘सत्यस्य’ उदकात्मकस्य ब्रह्मणो ‘रूप मिति’ ‘आहुः’ कथयन्ति  
ब्रह्मवादिनः । अपां प्रथमसर्गस्य स्मर्यते— “अप एव ससर्जादौ  
तासु वीर्यं मवाकिरत्”—इति † । “अप एव तस्येत्यादि । अपां  
सत्यरूपत्वात् ‘तत्’ तेन सत्यसामानोऽपगतोगानेन ‘अस्य’ सर्वस्य जगतः  
अप एव ‘अयं’ सुखम् ‘अकुर्वन्’ देवा इत्यर्थः । अपा मपकरचस्य  
फल माह—“तस्मादिति । ‘तस्मात्’ उक्तहेतोः ‘यदैव’ खलु ‘आपः’  
वृक्ष्युत्पन्नाः ‘यन्ति’ प्रवहन्ति, ‘अथ’ अनन्तर मेव ‘इदं’ दृश्यमान  
मोषधिवनस्यत्वादिरूपं ‘सर्वं’ जगदुत्पद्यते । सर्वशब्दस्य सङ्कुच-  
वृत्तितां निराचष्टे— “यदिद मिति ॥ ६ ॥

पुष्करपर्णोपधानं विधाय स्मृति— “अथ पुष्करपर्णं  
मिति ‡ । ‘अथ’-शब्दः सत्यसामगानानन्तर्यार्थः । “त मन्त्र  
उपोदाद्यतं पुष्करपर्णं विवेदेति § अन्त्युपलब्धाधिकारचत्वस्य  
श्रुतत्वात् पुष्करपर्णस्याभियोनित्वम् ॥ ७ ॥

\* ‘आपन्न मेव’—इति च, ह ।

† म० सं० १४० च० १० । तच्च ‘वीर्यं मवाकिरत्’—इति पाठः ।

‡ का० श्री० सू० १७. ४. १ ।

§ पुरस्ताद् मतम् ( ७. ३. १४-१५ पृ० १० पं० ) ।

॥ ‘पुष्करपर्णस्य योनित्वम्’—इति च, ह ।

प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णस्वामिन्योनित्वं मनुवादपूर्वकं प्रति-  
पादयति— “यद्देवेति । “आपो वै पुष्कर मित्यादि । “पुष्करं  
सर्वतो मुख मित्यादि निगदप्रसिद्धियोतको \* ‘वै’-शब्दः । ‘तासाम्’  
अपां प्रथमसृष्टानाम् ‘इयं’ पृथिवी ‘पर्णं’ पर्णस्थानीया ।  
एतदेव विशदयति — “यथा ह वा इति । ‘इदं’ ‘पुष्करपर्णं’  
पञ्चपत्रं ‘यथा’ खलु ‘अप्सु’ ‘अध्याहितम्’ उपर्याश्रितं सत् दृश्यते,  
‘एवम्’ ‘इयं’ पृथिवी ‘अप्सु’ उदकेषु ‘अध्याहिता’ उपर्याश्रिता  
वर्त्तते । अत एवोपरिष्ठात् “तद्यपां शरः आसीत्सप्तमहन्वत सा  
पृथिव्यभवदित्यान्नास्यते † । अतः पुष्करपर्णसाम्यात् पृथिव्याः  
पुष्करपर्णत्वम् । “स्येयं योनिरित्यादि । यदिदं पृथिव्यात्मकं पुष्कर-  
पर्णं ‘स्येयं मन्मेयीनिः’ उत्पत्तिकारणम् ; अत एव हि ‘इयं’  
पृथिवी कार्यकारणयोरभेदादित्याग्निरूपेण वर्त्तते । एतत् तादात्म्य  
मुपपादयति— “अस्यै हि सर्वोऽग्निधीयत इति । “षष्ठ्यर्थे  
चतुर्थी” ‡ । अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनीभिः § मृन्मयीभिरिष्ट-  
काभिः कृत्स्नोऽग्निर्यतधीयते ॥ , अतः पृथिव्या अग्नेश्च तादात्म्य  
मुक्त मित्यर्थः । उदीरितरीत्या यतः पुष्करपर्णं पृथिवी , अत-  
स्तदुपधानेन ‘इमा मेव’ पृथिवी मुपहितवान् भवतोत्पत्त्यर्थः ॥

अथैतस्योपधानस्य सत्यसामानन्तर्यं मनूय स्वीति— “ता

\* ‘निघण्टुप्रसिद्धियोतको’—इति च. क. ।

† का० १०, प्र० ४, ब्रा० ८, क० २ द्रष्टव्यम् ।

‡ पा० २. ३. ६२ क० १ वा० ।

§ ‘मकाशान्’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘कृत्स्नोऽग्निर्यतधीयते !’—इति ज-पाठः ।



मनन्तर्हिता मिति । 'सत्यात्' सत्यसामगानात् 'मनन्तर्हिताम्' अव्यवहितां 'तां' पुष्करपर्णेष्टका मुपदध्यात्, 'तत्' तेनानन्तर्हितत्वेन 'इमां' पृथिवीं 'सत्ये प्रतिष्ठापयति' । 'तस्मात्' एव खलु 'इयं' पृथिवी 'सत्ये' ब्रह्मणि अप्तोपाधिके 'प्रतिष्ठिता' दृश्यते । "तस्माद्विद्य मिति । 'उ'-शब्दोऽवधारणे । यस्मात् सत्ये प्रतिष्ठिता, 'तस्मात्' एव कारणात् अधिकरणाधिकसंख्ययोरभेदोपचारेण 'इय मेव' पृथिवी 'सत्यम्' । सत्यरूपता मुपपादयति— "इयं हीति । 'एषां' पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकानां मध्येऽपि 'इय मेव' खलु पृथिवी 'अज्ञातमाम्' प्रत्यक्षतमाम्, अपारोक्षेणावभासमाना \* दृश्यते, तस्मादस्माः सत्यरूपत्वं बोद्धव्यम् । "किमेत्तिडव्ययघादिति † चाप्रत्ययः ॥ ८ ॥

अथ तस्मिन् पुष्करपर्णोपधाने मन्त्रं ‡ विधाय पदशो व्याचष्टे— "अपाम्यृष्ट मसीति § । "अपाः हीय मिति । 'इयं' पृथिवी उपर्यवस्थानात् 'अपां' पृष्ठवत् 'पृष्ठम्' अतो हे पुष्करपर्ण ! त्वम् 'अपाम्' उदकानां 'पृष्ठ मसि' पृष्ठभागो भवसि । "योनिर्यीय मिति । चित्यस्यान्तेः 'योनिः' पृथिवी ; इष्टकोपादावत्वात् । हे पुष्करपर्ण ! त्वम् 'अन्तेः' तादृशी 'योनिः'

\* अपारोक्षेण वर्तमाना—इति अ-पाठः ।

† पा० सू० ५. ४. ११ ।

‡ का० श्रौ० सू० १६. २. १३ ।

§ "अपाम्यृष्ट मसि योनिर्येः समुद्र मर्भितः पितृमानम् । वह्निमानो मद्या या च पुष्करे दिवो मातया वरिष्वा प्रथस्य"— इति वा० सं० ११. २६ ।

असोति प्रथमपादार्थः । “समुद्रो हीमा मिति । ‘इमां’ पृथि-  
 वोम् ‘अभितः’ सर्वतः, पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु ‘समुद्रः’ ‘पिन्वते’  
 सिञ्चति । “पिवि सेवने”—इति \* धातुः । महच्छब्दस्य व्याख्यानं  
 ‘महोयस्व’-इति । “महोङ् वृद्धी”—इति † धातुः, कण्ठादिः ।  
 “अनुविमार्ष्टीति । चतुर्थपादावसाने पुष्करपर्णं मुपदधानः तस्मा-  
 नुलोम्येन विमार्जनं कुर्यात् । “असौ वा आदित्य इत्यादि, चतुर्थ-  
 पादव्याख्यानम् । “नो हैत मन्य इति । ‘दिवोऽन्य’ युलोकव्यति-  
 रिक्तोऽन्यः ‘वरिमा’ भाववाचिना तद्वान् लङ्घते, उक्तंरः पदार्थः ।  
 ‘एनम्’ अग्निं ‘नो’ खलु ‘यन्तु’ मर्हति । तथाच “दिवो मातृया  
 वरिष्णा”—इति “इत्यभावे ढतोया”—इति‡ व्याख्यातं भवति; अतो-  
 ऽय मर्थः सम्पद्यत इत्याह—“द्यूर्भूत्वेति । हे पुष्करपर्ण ! त्वं ‘द्यौः’  
 युलोको ‘भूत्वा’ ‘एनम्’ अग्निं ‘यच्छ’ यमय ‘इति’ तात्पर्यार्थः ॥

छन्दोदारेणैतत् प्रशंसति—“स्वराजोपदधातीति । उत्तरार्द्धे  
 वैराजपादाभ्यां हे अक्षरे अधिके, तदाधिक्यं स्वराजोपदधातीति छन्दसो  
 लक्षणम् ; “द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ”—इति-§-स्मरणात् । स्वायत्तं  
 राजते ईष्टे इति स्वराट्, स्वतन्त्रेणैव, तस्य कर्म ‘स्वाराज्यम्’ ;  
 ‘अपां’ सम्बन्धि यत् स्वाराज्यं तदेव पुष्करपर्णम् ; अतस्तस्य  
 स्वराजोपधानं युक्तं मिति भावः । “सादयित्वेत्यादिकं प्राशु-  
 त्तार्थम् ॥ ८ ॥

\* धा० भा० प० ५८८ ।

† “महोङ् पूजयाम्”—इति क० आ० ३६ धा० ।

‡ पा० सू० २. ३. २१ ।

§ पि० छ० सू० १. ४० ४४० दृश्यम् ।

आकाशात्मना सुतस्य पुष्करपर्णस्य मध्ये सूर्यमण्डला-  
 ज्जना ध्यातव्यस्य रुक्मस्योपधानं विधत्ते— “अथ रुक्म मिति §  
 ‘अथ’-शब्दः पुष्करपर्णोपधानानन्तर्यायः । रुक्मस्यादित्यात्म-  
 कत्वं सुपपादयति— “एष होमा इति । ‘एषः’ एव परिदृश्य-  
 मानः, ‘हि’ ‘असौ’ ‘आदित्यः’ ‘इमाः सर्वा प्रजाः’ ‘अतिरोचते’ ।  
 अतो रोचते इति व्युत्पत्त्या रुच-धातोः पचाद्यचि रोच इति तस्य  
 नामधेयं सम्यदयते, तदेव पारोक्ष्येण रुक्म इति ब्रुवते; परोक्ष-  
 प्रियत्वाद्देवानां मित्यर्थः । रुक्मस्य प्रकृतिद्रव्य माकृतिविशे-  
 षश्च दर्शयति— “स हिरण्मय इति । ‘सः’ रुक्मः सुवर्णमयः  
 कार्यः । दाण्डिनायनादि सूत्रे १) निपातनात्मयटि हिरण्यशब्द-  
 स्वात्मयकारलोपः । ‘परिमण्डलः’ वर्तुलाकृतिः । ‘एकविंशति-  
 निर्वाधः’ एकविंशतिसङ्ख्याकैः पुलकैर्युक्तः कार्यः । “तस्योक्त  
 इति । ‘तस्य’ एकविंशतिसङ्ख्यायोगस्य “द्वादशमासाः पञ्चर्त्तव  
 इत्यादिनां सुतिः प्रागान्तरात्त्यर्थः § । उपधानसमये निर्वाधानां  
 मधोभागेऽवस्थानं यथा भवति तथा कर्त्तव्य मिति विधत्ते—  
 “अधस्तान्निर्वाध मिति § । तस्य कारणं माह— “रश्मयो वा  
 एतस्येति । सूर्यमण्डलस्याधस्ताद् भागे हि रश्मयो नि-  
 सरन्ति, अतो रश्म्यात्मकानां निर्वाधानां मधस्ताद् भागे कारणं  
 युक्तं मिति ॥ १० ॥

\* का० श्री० ख० १०. ४. १ ।

† पा० ख० ६. ४. १०४ ।

‡ इका० २. १. १ (इभा० ८६८०) द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्री० ख० १०. ४. २ ख ।

तस्य पुष्करपर्णमध्ये उपधानं विधत्ते—“तं पुष्करपर्णे इति \* ।

पुष्करपर्णस्य योनिरूपत्वं प्रागुक्तम् ॥ ११ ॥

प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णे रक्षोपधानं स्तौति—“यद्देवेति ।  
‘प्रतिष्ठा’ आसदम् । तद्रूपतां पुष्करपर्णस्योपपादयति—“इयं  
वै पुष्करपर्ण मिति । “यो वा अस्या मित्यादि । ‘यः’ खलु  
‘अस्यां’ पृथिव्याम् ‘अप्रतिष्ठितः’ प्रतिष्ठितो न भवति , ‘सः’ दूर-  
देशे ‘सन्’ वर्त्तमानः ‘अपि’ ‘अप्रतिष्ठितः’ प्रतिष्ठारहितो निरा-  
लम्बनः ‘एव’ भवति । यद्येव माकाशे वर्त्तमानस्य सूर्यस्य  
पृथिव्या मनवस्थानादेतेन पुष्करपर्णे उपधानेन ‘एनं’ रक्षारूप  
मादित्यम् ‘एतम्’ ‘अस्यां’ पृथिवीरूपाया मेव ‘प्रतिष्ठायां’  
‘प्रतिष्ठापयति’ ॥ १२ ॥

एतदेव रक्षोपधानस्य पुष्करपर्णाधिकरणत्वं माध्यायिकया  
पुष्करनामनिर्वचनेन प्रतिष्ठारूपतां ब्रुवन् स्तौति—“यद्देव  
पुष्करपर्ण इत्यादिना । ‘नास्तृषि’ न खल्वह मंध्यापि हव  
महिसिष मिति विपर्यस्तमतिः सन्नित्यर्थः । सः ‘इन्द्रः’ अन-  
न्तरम् ‘अपः’ प्राविशत् । ‘ताः’ अन्नवोत् अहं वताद् ‘बिभेमि’  
बिभ्यतो मम ‘पुरम्’ भयरहित मावासस्थानं हे ‘आपः ! यूयं  
‘कुहते’ । आपश्चैतद्वचः श्रुत्वा ‘यः’ स्वकोयो ‘रसः’ प्रातिस्विकः  
‘आसोत्’ , ‘त मूर्ध्नि’ समुदीहन् उद्गच्छिपन् । त मेव रसं पुष्करपर्णा-  
क्षना परिणतं निवासस्थानं मकुर्वन् । यस्मादेवं पूः अक्रि-  
यत , ‘तस्मात्’ तस्य ‘पूष्करम्’-इति नाम सम्पन्नम् । पूः क्रियते

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ३ ।

† इहैव सप्तमकाण्डोपाख्यं द्रष्टव्यम् ( २४८-४९० ) ।

अनेनेतिव्युत्पत्तेः पुष्कर मिति प्रयोक्तव्ये पुष्कर मिति प्रयो-  
गसु पारोक्ष्यकारणायैति सङ्गहेषार्थः । एवं पुष्करनामनिर्वचनं  
कृत्वा प्रकृते योजयति — “तद्यत् पुष्करपणं इति । ‘अस्य’  
अस्मै इन्द्राय ‘य मेव’ ‘एतं’ रसम् ‘आपः’ पुरा ‘समुदोहन्’ समुत्-  
क्षिप्तवत्यः, तदनन्तरम् ‘अस्मै’ एवेन्द्राय यां ‘पुरं’ पुष्करपर्णाक्षि-  
काम् ‘अकुर्वन्’, ‘तस्मिन्नेव’ उभयरूपे स्वाश्रये रुक्मरूपेणावस्थित  
मिन्द्रशब्दाभिधेयम् ‘एनं’ सूर्यम् ‘एतत्’ एतेन ‘प्रतिष्ठापयति’  
इत्यर्थः ॥ १३ ॥

तस्मिन् रुक्मोपधाने मन्त्रं दर्शयति — “ब्रह्मजज्ञान  
मिति \* । ननु षड्भावविकाररहित मोपनिषदं ब्रह्म †, तत्  
कथं तस्य जनक्रियायोगो मन्त्रपदेन प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य  
व्याचष्टे — “असौ वा आदित्य इति । अत्र प्रादुर्भाव  
एव जनेरर्थो न तूत्पत्तिः । अयं मर्यः । तदुक्तविधं ‘ब्रह्म’  
सगुणं सत् ‘असौ’ द्युलोकस्थः ‘आदित्यः’ भूत्वा प्रत्यङ्  
‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां दिशि ‘जायते’ उदेति । जज्ञान मिति  
जनेर्लिङ्गः कानजादेशे रूपम् । द्वितीयपादे क्रमेण पदार्थानाह —  
“मध्यं वा इति । सोमस इति पदे यत् सोमेति प्राति-  
पदिकम्, तस्यैव माचष्टे । सुष्ठु रोचन्ते सविदप्रकाशेन  
दीप्यन्त इति ‘सुश्चः’ पृथिव्यादिलोकाः । “असावादित्यो  
वेन इति । यद्देनोऽसावुच्यते, तन्नामनिर्वचनं करोति —

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २ ।

† “षड् भावविकारा भवन्तीति वाक्यायनिः । जायतंस्त्रि विप-  
रिक्तमते वर्द्धनऽपन्नोयनं विनश्यन्तीनि” — इति निरु० १. १. ३ ।

“यद्वा इति । यस्मात् कारणात् ‘प्रजिजनिषमाणः’ प्रज-  
नितुं प्रादुर्भवितुं सुदेतुं मिच्छन्, ‘अवेनत्’ कान्तियुक्तोऽभ-  
वत्, ‘तस्मात्’ वेनति दीप्यत इति ‘वेनः’ इति सूर्यस्य नाम सम्प्र-  
क्षम् । अत एव यास्कोऽप्याह स्म— “वेनो वेनतेः कान्ति-  
कर्मणः”—इति \* ।

इत्थं पदार्थानुक्ता वाक्यार्थं माह— “तानेष इति ।  
‘तान्’ सुरुच्-शब्दाभिधेयान् पृथिव्यादिलोकान्, ‘एषः’ सूर्यः  
‘सोमतः’ मध्यतो ‘व्यावः’ व्यावृणोत्, उदयेन प्रकाशितवान् ।  
वृणोतेर्लुङि “मन्त्रे घसेत्यादिना च्चेर्लुक् †”, “कन्दस्यपि दृश्यते”—  
इत्याडागमः ‡ । एतस्य पदस्योक्तार्थपरतां व्याचष्टे— “विह-  
वन्मुदेतीति । तृतीयपादं मनूय व्याचष्टे— “स बुध्ना इति ।  
बुध्नो मूलम्, तत्र भवाः ‘बुध्याः’ पादाः । ते च ‘अस्य’ सूर्यस्य  
दिगात्मकाः, रश्मिप्रसरणहेतुत्वात् । ‘ताः’ बुध्म्यशब्दाभिधेया दिशः  
‘उप’ समीपे स्वगतिभेदेन निर्मिमोत इति ‘उपमाः’ सूर्यः । तथा  
‘ताः’ दिशोऽनुलक्ष्य ‘वितिष्ठते’ विविधं पूर्वपश्चिमादिदिग्भेदहेतु-  
त्वेनावतिष्ठत इति । ‘विष्ठाः’ तिष्ठते, “ष्वातो मनिक्विति §  
विच् । एवम्भूतः सूर्यः ‘सतः’ लोकत्रयात्मकस्य भावरूपस्य,  
‘असतः’ अभावात्मकस्य ‘च’ ‘योनिम्’ उत्पत्तिस्थानं ‘विवः’ विह-

\* निरु० १०. ४. १ ।

† पा० सू० २. ४. ८० ।

‡ पा० सू० ६. ४. ७३ ।

§ पा० सू० ३. २. ७४ ।

योति । 'सदसश्चन्द्रयोर्भावाभावपरतां व्याचष्टे — "यच्च ज्ञप्ति  
यच्च नेति \* ।

इन्द्रोदारेण प्रयंसति — "त्रिष्टुभेति । "त्रैष्टुभो ह्येष  
इति । "गायत्री वै पृथिवी, त्रैष्टुभ मन्तरिक्ष मित्यादि-  
युतेः । द्वितीयस्यानत्वाच्चान्तरिक्षस्य त्रिष्टुप्सम्बन्धः । तत्र  
सञ्चरन् । त्रिष्टुप्छन्दस इन्द्रेण सहोत्पत्तेर्वा<sup>१</sup> इन्द्रात्मक एव  
सूर्योऽपि 'त्रैष्टुभः' । "सादयित्वेत्यादि व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

रक्षामध्ये हिरण्यपुरुषस्योपधानं विधत्ते — "अथ पुरुष  
मिति ‡ । "स प्रजापतिरित्यादि । 'सः' उपधेयः पुरुषः  
'प्रजापतिः' । सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानिविराडात्मकः, स एवाग्निः  
सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानिहिरण्यगर्भात्मकः, यजमानस्य तद्रूपप्राप्तेः  
यजमानात्मकोऽपि § स इत्यर्थः । तस्य हिरण्यविक्रितित्वं  
विधाय स्तौति — "स हिरण्य इति । "ज्योतिर्वा इति ।  
भास्वररूपोपेतत्वात् ज्योतिरात्मकं हिरण्यम् । तथा अत्व-  
न्ताग्निसंयोगेऽपि समुच्छित्तिविरहात् 'अमृतं' अमरवस्त्रभावं  
'हिरण्यम्' । जीवमानोऽग्निरपि एतदुभयात्मक इति ( तस्य )  
हिरण्यत्वं युक्तमित्यर्थः । पुरुषरूपता मनूय प्रतिपादयति —  
"पुरुषो भवतीति । 'हि' यस्माच्चित्वाग्निरूपेण संस्कर्तव्यः प्रजा-

\* वा० सं० १३. ३ ।

† ते० सं० १. १. ४ द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्री० छ० १०. ४. ३ ।

§ यजमानोऽपि — इति ज-पाठः ।

पतिः पुरुषविधः, तत्प्रतिरूपत्वाद्द्विरप्यस्योपधेयस्य पुरुषाकृति-  
र्युक्तित्वर्थः ॥ १५ ॥

एतदेव पुरुषोपधानं मनूय मनःप्राणाद्यात्मकसूक्ष्मशरीर-  
स्वापनरूपेण स्वीति— “यद्देवेति । “प्रजापतेर्विस्रस्तादित्यादि ।  
प्रजापतिर्हि पुरा विस्रस्ताशरीरोऽभूत्, तथाविधात् तस्मात्  
‘रम्या’ रमणीया ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा सूक्ष्मा ‘तनूः’ ‘मध्यतः’  
शरीरमध्यात् ‘उदक्रामत्’ उर्ध्वं निरगमत् । ‘तस्याम्’ अर्धं  
निष्क्रान्तायां सत्याम् ‘एनं’ प्रजापतिं चक्षुराद्यभिमानिनः ‘देवाः’  
आदित्यादयः ‘अजहुः’ अत्यजन् । “ओ ङाक् .त्यागे”—इति \*  
धातुः । ‘तं’ तथाविधं प्रजापतिं ‘देवाः’ तत्पुत्राः ‘यत्र’ यस्मिन्  
प्रदेशे ‘समस्तुर्वन्’ चित्वात्मिकरूपेण संस्कृतवन्तः । “अडभ्यासव्या-  
येऽपीति † कात् पूर्वः सृट् । ‘तत्’ तत्र ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतां’  
निष्क्रान्तां रम्यां तनूं ‘मध्यतः’ ‘अदधुः’ स्थापयान्तुः । ‘अस्मै’  
‘प्रजापतेः’ ‘तस्यां’ तस्यां पुरा निष्क्रान्ता इन्द्रियदेवताः ‘अरमन्त’  
पुनः प्रविशन्तिष्ठन्तित्वर्थः ॥

उक्ताथौपजीवनेन द्विरप्यनामनिर्वचनं करोति— इतितायां  
स्थापितायां ज्ञानक्रियाशक्त्युपेतत्वेन रमणीयायां यस्माद् ‘देवा अरं-  
मन्त’, ‘तस्मात्’ इतिऽस्मिन् रमन्त इति व्युत्पत्त्या द्विरप्य मिति  
नाम सम्यक्त्वम्, तदेव पारोक्ष्येण\*द्विरप्य मित्युच्यते । एषोदरा-  
दित्यात्तद्रूपसिद्धिः । अत एव—“द्विरप्यं कस्मादिति प्रकम्प्योक्तं  
वाक्तेन— “हितरमणं भवतीति वा”—इति ‡ ॥

\* धा० जु० प० ८ ।

† पा० ६. १. १४० जु० वा० १ ।

‡ निघ० १. १. १ ।



एवं पुराकल्प मभिधाय प्रकृते योजयति— “तथैवास्मिन्नि-  
त्वादिना । ‘अयं’ यजमानः । शिष्टं स्पष्टम् । का पुनरसौ रम्या  
तन् रिति ता माह— “प्राणो वा अस्थेति । प्राणापानादिपञ्च-  
वृत्त्यात्मकः क्रियाशक्त्यात्मकः ‘प्राणः’, ‘अस्थ’ प्रजापतेरेव ‘रम्या  
तन्ः’ अतस्तत्स्थापन मेव कृतं भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

तस्य पुरुषोपधानस्याधारविशेषं विधाय स्वीति— “तं  
रुक्म इति । यो रुक्मः पुष्करपर्णे उपहितः \* , तस्य मध्ये ‘तं’  
हिरण्यं पुरुष मुपदध्यात् । आदित्यमण्डलात्मको हि ‘एष  
रुक्मः’ आदित्यमण्डलमध्ये यो हिरण्यः पुरुष आस्ते ।  
अत एव श्रूयते— “य एष अन्तरादित्ये हिरण्यः पुरुषो  
दृश्यते , हिरण्यश्च हिरण्यकेष आ प्रवृत्तात् सर्व एव  
भुवर्चः”—इति † । एष एवोपधीयमानो हिरण्यः पुरुषः ;  
रुक्मरूपे आदित्यमण्डले ‘त मेव’ पुरुष मुपहितवान् भव-  
तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

तत्रोपधाने पुरुषस्योपरिमुखत्वं विधत्ते— “उत्तान मुप-  
दधातीति । इतदेवोपरिष्ठात् मुखत्वं मास्थायिकया प्रति-  
पादयति— “एतदे देवा इत्वादिना । ‘यदि’ खलु ‘इमो’  
रुक्मपुरुषो ‘अर्वाक्षो’ अधोमुखो ‘उपधास्यामः’ , उभयोस्तेजसोः  
संस्पृष्टत्वेन प्रवृत्ततरी अधोमुखं, ‘सर्वं मेवेदं’ जगत् ‘प्रधत्ततः’  
प्रदग्धं करिष्यतः ॥

\* “रुक्मश्च यः कच्छे प्राग् इतः”—इति कर्काचार्यः । का० श्री०  
खू० १६. ५. १ द्रष्टव्यम् । इहापि षष्ठ्या ५. १. २ ( ६ भा० ३७१८० ) ।

† ह्यान्दोग्य-ब्रा० ३. ६. ६ ।

एतद्दीपपरिहारार्थं 'यदि' खल्वेतौ 'पराञ्चौ' 'परास्तुखौ' उपधास्यामः, तथा सति 'पराञ्चावेव' परास्तुखावेव सन्तौ 'तस्मात्' सूर्यमण्डलात् ये उपरितना लोकाः, तत्रैव सूर्यप्रकाशः स्यात्, न त्वधस्तनेषु लोकेष्वित्यर्थः । 'प्रधस्यतः'—इति प्रपूर्वाद् दृढतेर्लटः सञ्चादेशः \* । 'तस्मात्'—इति "तप सन्तापे"—इत्ये-  
 स्यात् † । यदि तर्हि 'सम्यञ्चौ' परस्परभिमुखौ तौ रक्तापुरुषौ उपदध्यात्, तदा एतौ 'अन्तरैव' एतयोर्मध्ये एव तदीयं 'ज्योतिर्भविष्यति', तथा च व्यवधानादुपरितनानधस्तांश्च लो-  
 कान् न प्रकाशयेताम् ‡ । 'अथो' अपि च 'अन्योन्यं हिंसिष्यतः' रक्तास्य ज्योतिषा पुरुषज्योतिः प्रतिहन्येत । तेन च रक्ता-  
 ज्योतिरिति परस्परं हिंसेदित्यर्थः । कथं तर्हि तावुपधेया-  
 विति, तच्चाह— "तेऽर्वाञ्च मिति । 'ते' देवाः 'अन्य मेकं' सूर्यः मण्डलात्मकं रक्ताम् 'अर्वाञ्चम्' अधस्तान्निर्वाधम् 'उपादधुः' ।  
 'अन्यं' पुरुषं 'पराञ्चम्' परास्तुखं उत्तानम् 'उपादधुरित्यनुपपन्नः ।  
 यस्मादेवं तस्मात् 'एषः' मण्डलात्मकः सूर्यो 'रश्मिभिः' किरणैः  
 अर्वाङ्' अधोमुखः 'तपति' । स 'एवः' रक्तात्मकः । 'एषः'  
 प्राचात्मको मण्डलान्तर्वर्त्ती 'पुरुषः' प्राणिनां 'प्राणैः' सह 'जह्वः'  
 वर्त्तते । अत एवान्यत्रात्मातम्— "योऽसौ तपन्मुदेति, स सर्वेषां  
 भूतानां प्राणानादायोदेतीति ॥

तस्य प्राप्नुखत्वं विधाय स्तौति— "प्राञ्च मिति । त

\* "दृढ भस्मीकरणे"—इति भा० प० ६६१ घा० ।

† भा० प० ६८५ घा० ।

‡ 'प्रकाशयेत्'—इति, ज ।

कुत्तानं पुंसं 'प्राचं' प्राक्पुं सुपदधात् । 'हि' यच्चात् 'एवः'  
प्राक्पुं; प्राक्प्रिक्तः 'वीयते' तस्माद्विरस्यपुंसस्यापि तत्प्राचं  
ब्रूम । पुष्करपर्वोपधानं प्रसुत्व, एतत् सर्वं कात्यायनोऽप्युच-  
यत्—“तस्मिन् वक्ष मधःपिण्डं ब्रह्म ज्ञानं मित्युक्तानं प्राचं  
द्विरस्यपुंसं तस्मिन् द्विरस्यगर्भं इति”—इति \* । द्विरस्यगर्भो  
ब्रह्मवत्त्वमेति दाभ्या सुगुह्यां द्विरस्यपुंसं सुपदधादिति  
सुचार्यः ॥ १८ ॥

प्रथमां पादशोऽनूय, व्याचष्टे—“द्विरस्यगर्भं इत्यादिवा † ।  
द्विरस्यगर्भो ह्येव, इति । 'एवः' द्विरस्यपुंसः सूर्यमण्डलान्त-  
र्वर्त्ती 'द्विरस्यगर्भः' । अपञ्चीकृतभूततत्कार्याभिमानो परमेश्वरो  
हि द्विरस्यगर्भः । स च द्विरस्यपुंसमध्ये गर्भवदवस्थानाद्विरस्य-  
गर्भं इत्युच्यते ॥

अयं मर्यः—‘चद्रे’ सृष्ट्यादौ द्विरस्यगर्भाख्यः प्रजापतिः, प्रथमं  
‘प्राक्पतत’ प्रथमशरीरी जात इत्यर्थः । अत एवान्यत्र श्रूयते (?)—  
“स वै शरीरी प्रथमः, स वै पुंस उच्यते इति ‡ । “एव ह्यस्मि-  
न्नादि । 'एवः' खलु द्विरस्यगर्भः 'अस्म सर्वस्म' भूतभीतिकामकस्य  
कालस्य जगतः 'जातः' जातावस्त एव सन् 'एकः' असाधारणः  
'पतिः' नियन्ता 'प्रासीत्' । “एव वै दिवश्चेत्यादि । 'एवः'  
खलादित्वात्मको द्विरस्यगर्भो 'दिवः' सुप्तोक्तं 'पृथिवीं' भूमिं  
'च' प्रकाशनवर्षादिभ्यापारिच 'दाधार' धृतवान् । “कस्मै

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १, २ ।

† वा० सं० १३. ४ ।

‡ मार्क० पु० ६५. १४ ।

देवावेति । किंशब्दादिह निरुक्तामिरुक्तास्तजगदात्मकत्वाद्  
 ईदृश्य इति निर्वक्तुं मशक्यः । प्रजापतिरेवोच्यत इत्याह—  
 “प्रजापतिर्वैक इति ॥ १८ ॥

द्वितीया नृप मनुष्य व्याचष्टे— “द्रष्टव्यस्तन्देति \* । “असौ वा  
 इत्यादि । द्रवानुदविन्दून् किरणैः स्नाति भक्षयतीति ‘द्रव्योऽसावा-  
 दित्वः’ । ‘स दिवश्च पृथिवीं च’ ‘स्तन्दति’ गच्छति शोषयति वा ।  
 “स्तन्दिर् गतिशोषणयोः”—इति † धातुः । स्तन्दनप्रकारविशेष  
 मभिनयेन दर्शयति— “इत्थं मितौमा मिति । ‘इति’ अनेन  
 उर्ध्वगमनप्रकारेण ‘अमु’ दिवं व्याप्नोति । ‘इति’ अनेन प्रका-  
 रेण अधोमुखैः किरणैः प्रकाशनेन ‘इमां’ पृथिवीं व्याप्नो-  
 तीत्यर्थः । द्वितीयपाद मनुष्य व्याचष्टे— “इमं च योनि  
 मिति । ‘इमञ्च’ आहवनीयाख्यं योनिम्, ‘यञ्च पूर्वं’ चितो  
 गार्हपत्याख्यः, तदुभयं आवापृथिव्यात्मक मसावादित्वो व्याप्नोति  
 ‘इति’ ‘एतत्’ अर्थपरतां व्याचष्टे । “लोकद्वयरूपता मुक्ता  
 चित्तिद्वयरूपता माह— “अथो इति । अपि च ‘एतर्हि’  
 एतस्मिन् समये ‘यदिदं चीयते’ आहवनीयाख्यं ‡ स्नानम्,  
 ‘वशादः’ विप्रकटं § गार्हपत्याख्यं स्नानं ‘पूर्वं मचीयत’,  
 एतदुभयं हिरस्मयपुरुषरूपः सूर्यो व्याप्नोतीत्यर्थः । तृतीय-  
 पाद मनुष्य व्याचष्टे— “समाप्तं योनि मिति । “समानए

\* वा० सं० १३. ५ ।

† भा० प० ६७६ घा० ।

‡ ‘आहवनीयस्य’—इति च-पाठः ।

§ नास्तीत्यत एव न-पुस्तके ।

शेष इति । 'एषः' सूर्यः 'समानम्' एकविधम् 'एतं'  
'योनिं' स्थानम् 'अनु'-लक्ष्य 'सञ्चरति', प्राच्यां दिशि सद्यत्  
एकेनैव मार्गेण प्रतिदिवसं सञ्चरतीत्यर्थः । चतुर्थपाद मनूय  
व्याचष्टे— "द्रुषं जुहोमीति । तं सञ्चरन्तं 'द्रुषं' प्राच्यां  
दिशमुच्यन्तम्, तद्वातिरिक्तासु सप्तसु दिक्षु 'जुहोमि' प्रतिष्ठाप-  
यामि । लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् \*, "कर्मप्रवचनीययुक्ते"  
—इति † 'होषा'-शब्दात् द्वितीया ॥ २० ॥

मन्त्रहित्व मनूय स्तौति— "होष्यां मिति ‡ । व्याख्यातचर  
मेतत् ॥

मन्त्रगतच्छन्दोदारेण स्तौति— "त्रिष्टुभ्या मिति । आदि-  
त्यस्य त्रैष्टुभत्वं प्राक् प्रतिपादितम् । सादयित्वेत्यादिकं प्रागु-  
क्तार्थम् ॥ २१ ॥

पुरुषोपधानाङ्गत्वेन सामगानं विधत्ते— "अथ साम-  
नायतीति § । 'अथ'-शब्दो हिरण्यपुरुषोपधानानन्तर्ये ।  
तस्य सामगानस्य पुरुषगतवीर्योपादानहेतुत्वं माध्यायिकया  
प्रतिपादयति— "एतद्वा इत्यादिना । एतस्मिन् खलु समये  
'देवाः' 'पुरुषं' हिरण्यम् 'उपधाय' 'तम्' पुरुषम् 'एतादृशम्'  
एवंरूपम् 'एव' 'अपश्यत्' । कीदृश मिति तदाह— "यथै-  
तदिति । 'यथा' खलु 'एतत्' 'शुष्कं' नीरमं 'फलकम्' काष्ठ-  
मयम्, तदन्निर्वीर्यं मेवापश्यन्नित्यर्थः ॥ २२ ॥

\* पा० सू० १. ४. ६० ।

† पा० सू० २. ३. ८ ।

‡ वा० मं० १३. ४. ५ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. ४ ।

“तेऽब्रुवन्निति । ‘ते’ देवाः अन्योऽन्यम् ‘अब्रुवन्’—  
 ‘यथास्मिन्’ पुरुषे ‘वीर्यं’ प्राणादिलक्षणं ‘दधाम’ स्थापयाम,  
 तत्प्रकारं हे देवाः ! यूपम् ‘उपजानोत’ । एव मालोच्य ‘ते’  
 देवाः पुनः ‘अब्रुवन्’ उपज्ञाहेतुत्वेन ‘चेतयध्व मिति’ । एतद्  
 वाक्यं श्रुतिः स्वयं व्याचष्टे— “चिति मिच्छतेति । चितिः  
 अन्नं ज्ञानविशेषः । किमर्थं चेतयध्व मिति प्रार्थ्यते ? इत्या-  
 शङ्क्य तस्य प्रयोजनं मुक्तम्— “तदिच्छतेति । यथा खलु  
 अस्मिन् शुष्कफलकवन्नोरसे पुरुषे वीर्यं स्थापयाम, तं सुपाय  
 मिच्छतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

“ते चेतयमाना इति । एवं परस्परं मालोच्य ‘चेतयमानाः’  
 मीमांसमानाः ‘ते’ देवाः वीर्याधानार्थम् ‘एतत् सामापश्यन्’,  
 दृष्ट्वा च ‘तत्’ सामं ‘अगायन्’, तेन च ‘अस्मिन्’ हिरण्यपुरुषे  
 ‘वीर्यम्’ अस्थापयन् ॥

इत्थं सामगानस्य वीर्याधानहेतुता मास्थायिकया प्रति-  
 पाद्य, तद्वृष्टास्तेनेदानीं मपि पुरुषे सामगानस्य तद्देतुता  
 भावः— “तथैवास्मिन्निति । यथा देवास्तथैव ‘अयं’ यजमानः ।  
 सिद्धं मन्यत् ॥

“पुरुषे गायतीति । ‘पुरुषे’ अन्वारब्धे सति तत् साम-  
 गातव्यम् । ‘तत्’ तथा सति तस्मिन् हिरण्यपुरुषे सामलक्षणं  
 ‘वीर्यं’ स्थापितवान् भवति । “चित्ते गायतीति । चित्तलिङ्गके  
 मन्त्रे “चित् देवान्, मित्वादिके \* । तदुक्तं कर्कभाष्ये— “पुरुषे

चित्ते साम गायतीति कात्यायनेन पुरुष इति सप्तमोर्निर्देशा-  
दात्म्ये पुरुषे चित्ते चित्तसिद्धये † मन्त्रे साम गायति—इति † ।  
“सर्वाणि होत्वादि । लोके यावन्ति हि ‘चित्राणि’ विचित्र-  
रूपाणि सन्ति, तत् सर्वसमुदायरूपः चित्त्वः ‘अग्निः’; अत-  
र्विचे गानं वृत्त मिति । “त मुपधावेत्वादि । ‘तं’ हिरण्य-  
पुरुषम् ‘उपधाय’ ‘न पुरस्तात् परीयात्’ पूर्वस्यां दिशि नाति-  
क्रमेत् ‡ । परिगमने हि ‘अयम्’ अग्निः ‘मा’ मां ‘नेत्’ नेष  
‘हिनसत्’ हिंसात्, बाधेत । हिनस्तेर्लेंटि षडागमः § ॥ २४ ॥

अथ यजमानकर्तृकं पुरुषस्योपस्थानं विधत्ते— “अथ  
सर्पनामैरिति । “नमोऽस्तु सर्पेभ्य इत्याद्याः सर्पनामाख्या  
मन्त्राः ॥ । सूत्रितं हि— “उपतिष्ठते यजमानो नमोऽस्त्रि-  
तोति ¶ । अथेतत् सर्पनामभिरुपस्थानं लोकत्रयस्वापनहेतुत्वेना-  
ख्यायिकया प्रतिपादयति— “इमे वै लोका इत्यादिना ।  
‘वदिदं’ लोकत्रयवर्त्ति किं मपि प्राप्तिजातं मक्षि, ‘अनेन  
सर्वेषु’ सह पृथिव्यादयः ‘ते लोकाः सर्पन्ति’ । तस्मात् सर्प-  
निमितात् सर्पशब्दाभिधेया लोका इत्यर्थः । तथा चित्त्वाग्नि-

• ‘चित्तसिद्धये “कथामचित्तः”—इत्यस्याम्—इति च तत्र इति; ।

† च मन्त्रः वा० सं० २७. ३२ ।.

† का० श्री० ख० १७. ३. ४ भाष्यम् ।

‡ का० श्री० ख० १७. ३. ५ ।

§ पा० ख० ३. ४. ७, ३. १. ३४, ३. ४. १७, ३. ४. ८४ ।

|| वा० सं० १३. ५—च ।

¶ का० श्री० ख० १७. ४. ५ ।

रिति 'यत्' अस्ति, 'एषः' एव खलु सर्वेषां 'देवानाम्' 'आत्मा'; अतः 'ते देवाः' 'एत मात्मानं' हिरण्यपुरुषं सुपचात्र 'अवि-  
भक्तुः' भयं प्राप्ताः । "यद्देन इत्यादिना भयस्वरूपप्रतिपादनम् ।  
यदि खलु 'नः' अस्माकम् 'अनेनात्मना' सह 'इमे लोका न सपैतुः'  
(॥२५॥), तर्ह्यस्मदीयस्वात्मनो लोकसम्बन्धविरहादाश्रयो न स्यादि-  
त्येवं भोताः 'ते' देवाः 'एतानि' नमोऽस्त्वित्यादीनि 'सर्पनामानि'  
'अपश्यन्' । दृष्ट्वा च 'तैः' उपस्थानं कृतवन्तः । तेन अपोस्थानेन  
'अस्मै' हिरण्यपुरुषरूपायान्नये 'इमान्' ग्रथिवीत्यादि- 'लोकान्'  
'अस्थापयन्', 'तैः' लोकैरेवम् 'अनमयन्' वशीकृतवन्तः । "यद-  
नमयन्निति, सर्पनामास्थानिर्वचनम् । सर्पाणां नमनहेतुत्वाच्च  
सर्पनामानीत्यर्थः । "तथैतदित्यादिना आख्यायिकाया सिद्धान्त-  
स्य दार्ष्टान्तिके योजनम्, तच्च व्याख्यातप्रायम् । "तथो  
हास्तेति । सर्पनामभिरुपस्थाने सति 'अस्मै' यजमानस्य 'एते'  
लोकाः 'एतेन' चित्वात्मिकरूपेण आत्मना 'न सर्पन्ति', किम्वच-  
तिष्ठन्त इत्यर्थः ॥ २५, २६ ॥

सर्पनामभिरुपस्थानं मनूय प्रकारान्तरेण स्तौति— "यद्दे-  
वेति । यदिदं किञ्च स्वावरजङ्गमात्मकं प्राणिजातं मस्ति, 'तत्'  
सर्वम् 'एषेव लोकेषु' 'सर्पन्ति' चसति । सर्पणाधिकरणत्वात्  
सर्पा लोकाः । 'तत्' तथा सति, सर्पनामास्थैर्मन्त्रैः 'उपतिष्ठते'  
इति यदस्ति, 'तत्' तेन 'एषेव लोकेषु' वर्त्तमानं नाद्रादिकं  
शमयति । 'नाद्रा' नाशकारिणी आसुरी प्रजा, 'व्यधरः' व्यधन-  
शीलो दन्धशूकादिः, 'शिमिदा' विषहेतुर्लूताहशिकादिः ॥ २७ ॥

तत्र प्रथमं सर्पनाममन्त्रं मनूय तात्पर्यं व्याचष्टे—



“नमोऽस्त्रित्वादिना \* । “य एवेष्टिति । ‘एषु एव त्रिषु लोकेषु’ । ‘ये’ सर्पवशीला दम्भशूकाद्याः प्राणिनः, ‘तेभ्य एतत् नमस्करोति’ इति मन्त्रस्य तात्पर्यार्थः । “दृष्टिवी मन्विति । लक्षणे चनोः कर्मप्रवचनोपत्वम् । मन्त्रार्थो निगदसिधः ॥ २८ ॥

द्वितीयं मन्त्र मन्त्र व्याचष्टे— “या इषव इति । “यातुधान-  
प्रेषिता इति । यातुधानैः राक्षसैः प्रेषिताः खलु ‘एके’ सर्पाः  
‘दशन्ति’ खादन्ति । “दंश दंशने” †, “दंशसञ्ज्ञां शयीति ‡  
नखोपः । चतस्रे ‘यातुधानानाम्’ ‘इषवः’ बाधाः, ईदृश्विधाव  
‘ये’ सर्पाः, ‘ये वा वनस्यतोरुषु’ अनुसक्त वनस्यतिषु वर्तन्ते ।  
‘अवटेषु’ त्रिलोषु शेरते ये सर्पाः, ‘तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः’-इत्यनेन  
मन्त्रेण नमस्कारः क्रियत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तृतीयं सर्पनाम मन्त्र मन्त्र मन्त्रत्रयतात्पर्यं व्याचष्टे— “ये  
वामीति । सर्वत्र ‘व’-शब्दार्थः । ‘दिवः’ सुप्तोक्तस्य सम्बन्धिनि  
‘रोचने’ रोचमाने स्थाने, ‘ये’ वामी सर्पाः ‘सूर्यस्य रश्मिषु’ च  
वर्तन्ते, ‘येषां’ सर्पाणाम् ‘असु’ उदकमन्त्रे ‘सदः’ सदनं स्थानं  
‘कृतम्’ अस्ति, ‘तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति’ ।

“यत्र-यत्रेत्यादि, मन्त्रत्रयतात्पर्यं कथनम् § । ‘यत्र यत्र’ द्वे ‘एते’  
सर्पन्ति वर्तन्ते, ‘तत्’ तत्रैव ‘एभ्यः’ सर्पेभ्यो नम इति । किञ्चपि  
मन्त्रेषु पठितानां नमः-शब्दानां सङ्ग्राहार्था पुनर्वक्तिः— ‘नमो

\* वा० सं० १३. ६ ।

† ‘न-लोपे मञ्जिवाहचर्याद् आक्षेपेव यद्वचम्’-इत्यादिह शेषितः ।

‡ पा० ख० ६. ४. २५ ।

§ वा० सं० १३. ६-८ ।

नम इति'-इति । पुनःपुनर्नमःशब्दप्रयोगेण 'एतन्नमस्कारोति' । नमस्कारं स्वीति— "यन्मो वै नम इति । देवतोद्देशेन ब्रह्मत्यागो 'यन्मः' । स यथा देवानां प्रीतिकरः, तद्वन्नमस्कारोऽपीति तस्य यन्मात्मकता । तथा च यन्मात्मकेनैव नमस्कारेण 'एनान्' सर्पान् 'नमस्यति' पूजयति । नमसः पूजाया मर्थे "नमो वरिव इति \* क्वच् । प्रासङ्गिकं किञ्चिदाह— "तस्मादिति । यस्मादेवं नमस्कारप्रतिपादको नमःशब्दोऽपि यन्मात्मकः प्रयुज्यते, तस्मादेव कारणात् 'अयन्नियं' यन्मात्मकं हे देवदत्त ! नमस्तुभ्य मित्येवं 'न ब्रूयात्' । तस्य वचनस्य यन्नियत्व माविष्करोति— "यथा हेन मिति । 'यथा' खलु 'एनम्' अतिथिं 'ब्रूयात्' "यन्मस्ये" कल्पितः 'इति', 'तादृक् तत्' सदृशमेव तत् नमस्त इति वचनम् ॥ १० ॥

मन्त्रस्य त्रिसङ्ख्या सुपजीष्य † स्वीति— "चिन्मिहपतिष्ठत इति ‡ । 'त्रय इमे लोकाः' पृथिव्यादयः, अतस्तत्तद्व्याया मन्त्रचित्त्व मित्यर्थः । "अथो त्रिहृदन्मिरित्यादिना मन्त्रचित्त्वस्य प्रयोजनान्तरप्रतिपादनम् । "त्रिहृदन्मिरित्यादि, प्राग् व्याख्यातम् । "तावतेवाच्चा इति । 'अच्चा' हिरण्यस्यपुङ्गवाय 'तावता' तस्मात्मेः परिमाद्येनैव 'इमान् लोकान्' 'एतत्' एतेनोपस्थानेन 'स्थापयति' । 'अथो' अपि च 'तावता' तत्परिमाद्येनैव 'इदं' 'सर्वं' जगत् तेनोपस्थादेन. 'शमयति' ॥

\* पा० ख० ३१. १६ ।

† वा० सं० १३. ६—८ ।

‡ का० श्रौ० ख० १७.०४. ६ । .

तद्योपस्थानं तिष्ठता कर्त्तव्य मिति स्थितिगुणं विधाय स्वीति—  
“तिष्ठन्नुपतिष्ठत इति । ऊर्द्धाकारिणावस्थानात् ‘तिष्ठन्तीव’ खलु  
‘इमे लोकाः’, ‘अथो’ अपि च उपविष्टात् पुरुषात् ‘तिष्ठन्’  
खलु पुरुषो ‘वोर्यवतरः’ अतिशयितवोर्यवान् । तस्मादुपस्थानस्य  
तिष्ठत्कर्तृकता युक्तित्थर्थः ॥ ११ ॥

अभिहोमं विधत्ते— “अथैन मिति । उपस्थानानन्त-  
र्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः । ‘एनं’ हिरस्मयपुरुषम् ‘अभिजुहोति’  
अभितः सर्वासु दिक्षु उपरि होमेन संस्कार्यात् । तद्व्यं  
विधत्ते— “आज्येनेति । आहुतिपञ्चकार्यं पञ्चगृहोत माज्यं  
सुषि गृहीत्वा, तेनाभिजुहुयादित्थर्थः \* । “तस्योक्त इति ।  
‘तस्य’ पञ्चसङ्ख्यायुक्तत्वस्य स्थावको वाक्यशेषः प्रागाङ्गात  
इत्थर्थः ॥

“सर्वतः परिसर्प मिति । ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु ‘परिसर्पं’  
परिभ्रूय तां तां दिशं परिक्रम्य । “आभीक्ष्ण्ये ऋणु च” † । परि-  
सर्पणस्य प्रयोजनमाह— “सर्वाभ्य इति । ‘सर्वाभ्यो दिग्भ्यः’  
सकाशात् ‘एनं’ पुरुषम् । गत मन्यत् ॥ १२ ॥

मन्त्रविध्यं मनुवदति— “यदेवेन मिति । “ऊच्यते  
पात्र इत्याद्यान् ‡ राघोष्ठान् पञ्च मन्त्रान् विधातु माध्या-  
यिका माह— “एतद्दे देवा इति । “यद्दे न इम मिति । ‘नः’

\* का० शौ० सू० १७. ४. ७ ।

† पा० सू० ३. ४. २२ ।

‡ वा० सं० १३. ८-१३ ।

अस्माकम् 'इमम्' आत्मानम् 'इह' अस्मिन्नवसरे 'नाद्राः रक्षांसि'  
 'यत्' येनोपायेन न हन्युः', स उपायः क इति विचारितवन्त  
 इत्यर्थः । "राक्षोघ्नान् प्रतिसरानिति । राक्षसान् प्रति अस्त्र-  
 रूपेण सरन्ति गच्छन्ति इति 'प्रतिसराः' कण्ठ्य पाञ्च इत्याद्या  
 मन्त्राः \* । अत एव रक्षोहननसम्बन्धात् 'राक्षोघ्नाः' ; 'वै'-शब्दः  
 प्रसिद्धौ । सा च "अस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैरित्वादिमन्त्रवर्णा-  
 दवशेया † । "तथैवेतदित्यादिना । उक्तार्थदृष्टान्तमुखेनाभिहितो-  
 मन्त्रविधिः । मन्त्रद्वारा रक्षोहननहेतुतां प्रतिपाद्य द्रव्यमुखे-  
 नापि तत् प्रतिपादयति— "वज्रो वा इति । "घृतं खलु  
 मे देवा वज्रं कृत्वा सोम मघ्नन्ति ‡ तैत्तिरीयके प्रसिद्धं  
 घृतस्य वज्ररूपत्व मत्र 'वै'-शब्दो द्योतयति । यद्वा आग्ने-  
 स्वाग्निज्वालाहेतुत्वात् वज्रत्वम् । "पञ्चर्त्तवः संवत्सर इति ।  
 हेमन्तशिशिरयोः समासाभिप्रायेण § । "तावतैवेतद्रक्षांसौति ।  
 यत्परिमाणविशिष्टचित्त्वोऽग्निः, तावत्परिमाणेन 'एतद्' एतेन  
 कर्मणा 'नाद्रा रक्षांसि' नाशयति । मन्त्रदेवताद्वारेण प्रशंसति—  
 "आग्नेयीभिरिति । अग्निदेवता यासां ता आग्नेय्यः, "अग्ने-  
 र्वज्र" ॥, "टिड्ढाण्व्"-इति वा ङीप् ॥

\* वा० सं० १३. ६—१३ ।

† अ० सं० ४. ४. १ ।

‡ तै० सं० ६. २. २. ७ ।

§ ऐ० ब्रा० १. १. १ द्रष्टव्यम् ।

॥ पा० अ० ४. २. ३३ ।

१ पा० अ० ४. १. १५ ।

इन्द्रोद्धारश्च स्वीति— “मिष्टुर्भिरिति । “वक्षो वै मिष्टु-  
चिति । इन्द्रे च सहोत्पन्नत्वाद् वीर्योपेतात्, प्रजापत्यवयव-  
वृत्त्यन्ते च मिष्टुर्भो वक्ष्यत्वम् ॥

परिसर्पणप्रकारं विधिक्षुर्विहितं परिसर्पणं मनूय स्वीति—  
“सर्वतः सरिसर्पं मिति । उक्तार्थं नेतत् ॥ १४ ॥

“पञ्चादम्बेरित्वादिना परिसर्पणं प्रकारो निरूप्यते । ‘अम्बेः’  
प्रथमं ‘पञ्चात्’ प्रतोषां दिशि प्राङ्मुख उपविष्टः सन्, प्रथमेन  
मन्त्रेण पुरुषं अभिषुङ्गोति । अष्टोत्तरभागे दक्षिणामुख उप-  
विष्टः सन्, द्वितीयेन मन्त्रेण अभिषुङ्गोति । ‘अथ पुरस्तात्’  
प्राक्षां दिशि प्रत्यङ्मुख उपविष्टः सन्, तृतीयेन मन्त्रेण ।  
‘अथ’ यथेतं प्रतिनिवृत्त्य ‘अघनेन परीत्य’, पुरुषस्य पञ्चाद-  
भागेन परिक्रम्य, ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां दिशि उदङ्मुख  
उपविष्टः, चतुर्थेन मन्त्रेण अभिषुङ्गोति । “तदक्षिणादिति ॥  
एवं क्रियमाप्ते सति होमस्य प्रादक्षिणेन हस्तिरूपपक्षा  
भवति । ‘तत्’ खलु प्रादक्षिण्यं ‘देवता’ देवसम्बन्धिनि  
कर्मणि योष्यम्, ‘अथ’ अनन्तरम् ‘अनुपरीत्य’ दक्षिणदिक्कक्षा-  
यात् प्रतीचीं दिशं गत्वा, तत्र ‘प्राङ्मासीनः’ पश्चमेन मन्त्रे-  
ण अभिषुङ्गुयात् ॥ तथैव सति हि ‘अथ’ यजमानस्य ‘एतत्’  
अभिहोमाख्यं ‘कर्म’ प्रागपवर्गं ‘कृतं’ ‘भवति’-इत्यर्थः ॥ १५ ॥

• इष्टेव पुरस्तात् ( ३५८ पृ० १३ पं० ) प्रष्टव्यम् ।

† का० श्री० छ० १७. ४. ८ ।

‡ का० श्री० छ० १७. ४. ९. १० ।

सुचोदपधानं विधत्ते—“अथ सुचाविति \* । तत् प्रशंसति  
—“बाह्व वा इति । “सुहृदक्षिणो हस्तः, उपभृत् सव्यः”  
—इत्यादियुत्पत्त्यन्तरप्रसिद्धेः † सुचोर्बाहुकपता । तथा सति  
‘एतत्’ सुगुपधानेन ‘अस्मिन्’ हिरस्मयपुरुषे ‘बाह्व एव’  
‘प्रतिदधाति’ सम्दधाति । सुचोर्बाहुकपताप्रसिद्धिं मभिनयेन  
दर्शयति—“इद मेवेति । ‘इद मेव’ हस्तापं प्रसृतिरूपेण ‡  
दृश्यमानं ‘कपुल्लसम्’ § सुगमस्थानीयम् । ‘अयम्’ एव बाहुः  
‘दण्डः’ सुकदण्डः ; अतः सुगुपता अग्नयोः प्रत्यक्षसिद्धेत्यर्थः ।  
हित्वा मनुष्यं स्त्रीति—“हे भवत इति । दक्षिणोत्तरपार्श्वयो-  
स्तदुपधानं विधत्ते—“पार्श्वत इति । तत्र हेतु माह—  
“पार्श्वतो हीति ॥ ३६ ॥

तत्र दक्षिणपार्श्वे उपधेयायाः सुचो वृक्षविशेषं विधत्ते—  
“कार्श्वर्यमयी मिति ॥ । कार्श्वर्यवृक्षेण निर्मिता सुक् कार्श्वर्य-  
मयी । सुचस्तत्पञ्जतिता मास्थायिकया प्रतिपादयति—“एतद्वा  
इत्यादिना । “वनस्पति मपस्पन्निति । कार्श्वर्याख्यं वनस्पति  
मिति सम्बन्धः । सिद्धं मन्यत् । सुच आज्येन पूरणं विधातु  
स्त्रीति—“आज्येन पूर्या भवतीति ॥ ३७ ॥

उत्तरपार्श्वे उदुम्बरवृक्षकृतायाः सुच उपधानं विधत्ते—

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ११ ।

† ते० ब्रा० ३. ३. १ ।

‡ ‘सृष्टिरूपेण’—इति ज-पाठः ।

§ ‘कपल्लसम्’—इति क-पाठः ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. १२ ।

“अथोदुम्बरी सुत्तरत इति \* । “अर्वा इत्यादि, प्राशुत्कार्यम् । उपधानसमये दध्ना तस्याः पूरणं विधाय स्वीति — “दध्ना पूर्वा भवतीति । “रसो वै दधीति । पयस ओषधिसाररसात्मकत्वाद् दध्नोऽपि रसात्मकत्वम् ॥ ३८ ॥

सुषोऽपधान मन्थ तयोर्बाहु रूपतां वक्तुं तावत् तदुपादा-  
नयोर्वच्योदत्यति माह — “यद्देवेत्यादिना । विस्त्रिष्टावयवस्य  
‘प्रजापतेस्तेजः’ ‘आदाय’ गृह्यत्वा ‘अग्निः’ दक्षिणतः ‘अकर्षत्’  
अनेषीत् । ‘सः’ अग्निः प्रथमं अग्निं कार्ययद्वा ‘उदरमत्’ उत्कृष्ट  
मरमत्, सुख मवाप्नोदित्यर्थः । “यत् कृष्ट्यादिना कार्यय-  
नामनिवृत्तिः । कर्षेर्धातोः रमेव कार्ययद्वादिन्यतिर्वच-  
विकारेण द्रष्टव्या । ‘अथ’ अग्निगमनानन्तरम्, ‘अस्य’ विस्त्रि-  
ष्टावयवस्य प्रजापतेः सम्बन्धि ‘भोजः’ आन्तरं वीर्यं ‘इन्द्रः’  
‘आदाय’ स्वीकृत्य ‘उदङ्’ उत्तरामुखः सन् उत्तरभागे ‘उद-  
क्तामत्’ । ‘उत्कृष्टस्य’ ‘सः’ ‘उदुम्बरः’ वृक्षो जातः ॥ ३९ ॥

“ताम्रवीदिति । ततः ‘तौ’ अग्नीन्द्रो प्रजापतिः ‘अत्रवीत्’ । ‘मा  
उपेत’ मा सुपनच्छतम्, ‘एतत्’ मदीय मङ्गं ‘प्रतिधत्त’ पुनःसन्धा-  
नेन संस्मृतम् । ‘येन’ कारणेन ‘भि’ मदीयशरोरात् ‘युव मुदक्तामि-  
ष्टम्’ । ‘इति’-शब्दः प्रजापतिवाक्यपरिसमाप्ति । “ताभ्यामित्यादि,  
तयोरग्नीन्द्रयोर्वाक्यम् । “युवदद्भयोः वृष्टीचतुर्वीदितियाख्ययोः”  
-इति † चतुर्थ्यन्तस्याव ‘नौ’-भावः । हे प्रजापते ! ‘ताभ्यां’ कसु

आवाभ्यां 'सर्वं मन्नं प्रयच्छ', तर्ह्यावां त्वा सुपगच्छावेति'। पुनः प्रजापतिरब्रवीत्— हे अग्नीन्द्रौ ! युवां 'बाह्व भूत्वा' मां 'प्रप-  
योथा' प्रविशतम् 'इति' । 'तौ' अपि 'तथा' अस्तु 'इति' ब्रूताम् ।  
एवं तौ वशीकृत्य प्रतिज्ञातप्रकारेण 'सर्वं मन्नं 'ताभ्यां' प्रजापतिः  
'प्रायच्छत्' । 'तौ' अय्यग्नीन्द्रौ 'बाह्व' हस्तौ 'भूत्वा', 'एनं'  
प्रजापतिं 'प्रापयेतां' प्राप्तवन्तौ । 'हि' यस्मात् प्रजापतिरुत्क्रमेण  
'सर्वं मन्नम् प्रायच्छत्', तस्मादेव कारणादवनिष्पादनं मन्नादनञ्च  
बाहुकरणकं लोके दृश्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

इत्थं कार्शर्यौदुम्बरयोरुत्पत्तिम्, अग्नेरिन्द्रस्य च बाहु-  
रूपताञ्च प्रतिपाद्य, तदुपजीवनेन आग्नेयमन्त्रेण कार्शर्य-  
मन्त्रा उपधानं विधत्ते— "स कार्शर्यमयी मिति । यत्  
तेज आदाय अग्निर्निरगात्, ते अग्नेः सम्बन्धिना प्रजापति-  
शरीरतेजसा त्वां सादयामीति मन्त्रार्थः \* । "तदस्मिन्नेतदिति ।  
'तत्' तेन मन्त्रेण 'एतत्' तेजः 'अस्मिन्' चित्वास्मिन् रूपे प्रजा-  
पतौ 'प्रतिदधाति' सन्दधाति । अथ तस्मिन्नेव कार्शर्यमन्त्र-  
पधाने मन्त्रान्तरं मपि दर्शयति— "अस्मिन्मूर्ध्नेति † । 'एष  
उ सोऽग्निरिति । 'सः' प्रतिपादो यः 'अग्निः', 'एषः' चित्त्वोऽग्नि-  
रेवेत्यर्थः ॥

अस्य मन्त्रस्य हृन्द्दोऽनूय स्तूति— "गायत्रेति । उप-  
दध्यादिति शेषः । "गायत्रोऽग्निरित्यादि गतम् । हृत्तेन पूरणं  
मनूय स्तूति— "हृत्तेन पूर्येति । हृत्तस्मान्नेयत्वं प्रागुक्तम् ॥ ४१ ॥

\* वा० सं० १३. १३. २ । ।

† वा० सं० १३. १४ ।



एवं दक्षिणभागे कार्त्तुर्यमस्युपधानं मुक्ता तथैवोत्तर-  
भागे औदुम्बर्युपधानं मिन्द्रदेवत्वेन यशुषा कर्त्तव्यं मित्याह—  
“अधौदुम्बरी मिति \* । निगदसिद्धोऽर्धः । ‘अस्मिन्’ औदु-  
म्बर्युपधाने मन्त्रान्तरं विधत्ते— ‘भुवो यज्ञस्येति † । “एष  
उ स इन्द्र इति । ‘एषः’ खलु चित्तोऽग्निः ‘सः’ प्रसिद्धो  
मन्त्रप्रतिपाद्यः ‘इन्द्रः’ । “सा यदित्यादि । ‘सा’ भुवो यज्ञ-  
स्येति ऋक्, यस्मात् ‘आत्मेयी’ अग्निदेवताका, तस्मादिदम्  
‘अग्निकर्म’ सम्पन्नम् । कथं तर्हि तस्या ऐन्द्रे औदुम्बरीसुगु-  
पधाने विनियोग इत्यत्राह— “अथ यत् त्रिष्टुविति । यस्मात्  
सा ऋक् त्रिष्टुपृच्छन्दस्ता, तस्मादैन्द्रे कर्मणि विनियोक्तु  
मर्हति । यस्मादिन्द्रस्त्रिष्टुपृच्छन्दसा सहोत्पन्नः ‡, अभिधया  
तृत्या छन्दोदारेण च मन्त्रस्योपाधिसिद्धं मिन्द्राग्निदेवता-  
कत्वं प्रशंसति— “ऐन्द्राग्नोऽग्निरिति । एतदेव विदुषोति—  
“इन्द्राग्नौ वै सर्वे देवा इति । इन्द्रस्याधिपतित्वात् सर्व-  
देवतात्मत्वम्, अन्तेरपि सर्वान् देवान् प्रति इविषो वदनात्  
सर्वदेवतात्मकता । अहा, इन्द्रस्य प्राथम्यादग्नौ चरमभावितात्  
तदन्तवर्तिनः सर्वे देवा इति इन्द्राग्नौः सर्वदेवतात्मकत्वम् ।  
“अग्नौ देवाना मवसो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अग्न्या  
देवताः”—इत्यनेन § समानव्यायात् । चित्वाग्निश्च सर्वदेवतः,  
सर्वदेवताप्रीतिकारः । “यावानग्निरित्यादि, गतम् ॥

\* का० श्री० ख० १७. ४. १३ ।

† वा० सं० १३. १५ ।

‡ तै० सं० ७. १. १. ४ ।

§ ऐ० ब्रा० १. १. १ ।

दध्ना पूरणं मनूय स्तौति— “दध्ना पूर्येति \* । “ऐन्द्रं वा  
इत्यादि । ‘ऐन्द्रम्’ इन्द्रदेवत्वं खलु ‘दधि’; दर्शयुगे इन्द्रं  
प्रति दध्ना हविष्टेन दीयमानत्वात् । अत एव दर्शयाग-  
विधिः श्रूयते— “ऐन्द्रं दध्यमावास्याया मिति † । “स्वेन रसे-  
नेति । इन्द्रस्य स्वकीयो रसः साम्नाय्यम् । वृत्रवधानन्तरं शरी-  
राभिरुगतस्य, पृथिव्या भोषधिवीरुदात्मना परिणतस्य, पशुभि-  
र्भक्षणेनात्मन्याहृतस्य, इन्द्रसम्बन्धिना वीर्यस्यैव पयोरूपेण परि-  
णामात्तद्विज्ञातिभूतं दध्यपि परम्परया इन्द्रस्य स्वकीयो रसः ।  
एतत् श्रुत्वन्तरं— “इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यं मित्यादिना  
प्रपञ्चितम् ‡ । ‘प्रोषाति’ तर्पयति । ‘प्रोञ् तर्पणे’—इति §  
धातुः ॥ ४२ ॥

“तावस्यैतावित्यादि । ‘तो’ तथाविधो ‘एतो’ ‘इन्द्राज्जी’  
एव ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘बाह्व’ अभूताम् । भूत्वा च ‘तौ’ तेजसा  
अग्निसम्बन्धिना प्रकाशेन, इन्द्रसम्बन्धिना ‘वीर्येण’ ‘च’ ‘सह’  
‘प्रपद्येते’ प्राप्तुतः । सुचीरुपधाने च स्थानविशेष माह— “स  
सम्प्रतीति ॥ । ‘सः’ अप्वर्युः उपहितस्य हिरण्यपुरुषस्य ‘उरः’  
सम्प्रति’ उरःप्रदेशेन समानं सुची उपदध्यात् । तत् कव  
मिति चेत् उच्यते— तं ‘पुरुषम्’ ‘आकाश’ अभिप्राय ‘यच्च’

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १३ ख ।

†, ‡ ते० मं० २. ५. ३. ३, ५ ।

§ का० उं० २ धा० ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. १० त ।

यस्मिन् स्थाने उपहितं सुगन्धयम्, तदुरःप्रदेशम् 'अभ्याप्नोति';  
'तत्' तच्च 'मालिख्य' विद्धं कृत्वा, 'एने' सूचो उपदध्यात् \* ।  
'एवः' य उरोदेशः स खलु 'एतयोः' बाहुसंस्तुतयोः 'लोकाः' स्थान  
मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

तयोस्तिर्यग्यतयोपधानं पूर्वपक्षयति— "ते एक इति ।  
'तिरश्चौ' तिर्यग्रे, 'तिर्यश्चौ वा' इति †; तत्रोपपत्तिं कथयन् ।  
तदेतत् प्रतिषिध्य प्रागग्रत्वं सिद्धान्तयति— "न तथा कुर्या-  
दित्यादिना । तत्रोपपत्तिं कथयति— "प्राङ् लोप इति ।  
प्राक्शिरस्तः खलु 'एषोऽग्निधीयते' तदवयवयोर्बाहुसंस्तुतयोः सूचो-  
रपि प्रागग्रतैव युक्तेति भावः । 'अयो' अपि च 'एवं' प्रागग्रौ  
प्रसारितावेव खलु 'बाह्व' वीर्यवत्सरौ अतिशयेन वीर्यवन्तौ ‡ ।  
स्थापनसादनाधिवदनानां पृथक् विधाय स्तौति— "ते नानोप-  
दधातीति । स्यष्टोऽर्थः ॥ ४४ ॥

एतस्योपहितस्य हिरण्यपुरुषस्य सुगन्धतिरिक्तबाहुकरणं  
पूर्वपक्षयति— "तदाहुर्नैतस्येति । 'एतस्य' उपहितस्य हिर-  
ण्यपुरुषस्य । "एतौ वा अस्येति । 'ये एते सूचौ' उपहिते,  
ते च खलु 'अस्य बाह्व' सुगन्धतिरिक्तबाह्वोरपि करौ अधि-  
काङ्गता स्यात्; नेत् अतिरेचयानि नैवातिरिक्तं करवाचीति  
पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः । "स वै कुर्यादेवेत्यादिः; सिद्धान्तः । 'सः'  
खलु अर्धयुः सुगन्धतिरिक्तावपि पुरुषस्य बाह्व 'कुर्यादेव' । तत्र

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १० ख ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. १४ ।

‡ 'अतिशयिनवीर्यवन्तौ'—इति च-प्राठः ।

हेतु माह— “एतौ वा अस्येति । ‘अस्य’ पुरुषस्य ‘सम्बन्धिनी’  
‘बाह्व’ अनुलक्ष्य ‘एतौ’ \* सुचौ उपधातये ; अतो न तदप्रति-  
निधिरिति तयोरनिवृत्तिः ॥

बाह्वोः सङ्गावं प्रकारान्तरेणोपपादयति— “अथो एताविति ।  
‘अथो’ अपि च ‘एतौ’ बाह्व ‘पक्षौ’ पञ्चात्मनश्चित्वाग्नेः  
पक्षस्थानोयौ । संस्कारस्य संस्कार्य मन्तरेणानुपपत्तेः संस्कार्यौ  
बाह्व अवश्यं कर्त्तव्यावित्याह— “अथो यान्येतन्निमित्ता-  
दिना । ‘रूपाणि’ अग्निरूपाणि पशुशीर्षादीनि, ‘स्तोमाः’  
चिह्नत्पञ्चदशादयः †, बृहद्रथन्तरादीनि पृष्ठानि ‡, ‘छन्दांसि’  
गायत्र्यादीनि । एते च स्तोमादयः स्वस्वलिङ्गैर्मन्त्रैरिष्टका-  
रूपेणोपधेयाः । यान्येतानि पशुशीर्षादीनि, तानि सर्वाण्यध्वर्युः  
‘उपधास्यन् भवति’ । ‘एतयोरेव’ पक्षसंस्तुतयोः बाह्वोः ‘सा’  
‘संस्कृतिः’ गुणोत्कर्षहेतुः संस्कारः, ‘एतयोः’ ‘वृद्धिः’ अभिवृद्धि-  
हेतुः । “तस्मादित्यादि, स्पष्टम् ॥ ४५ ॥ १ [ ४. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माध्वीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘अनुलक्ष्येने’—इति ज-पाठः ।

† ते च सा० ता० ब्रा० तृतीयप्रपाठकारम्भतो द्रष्टव्याः ।

‡ तानि सामानि ऊह्यमानारम्भतो द्रष्टव्यानि ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

स्वयमात्मना मुपदधाति । इयं वै स्वय-  
मात्मनेमा मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हितां पुरुषा-  
दुपदधात्यन्नं वै स्वयमात्मनेयं वै स्वयमात्मनेय  
मु वा ऽपन्न मस्याऽ हि सर्व्वं मन्नं पच्यते ऽनन्त-  
र्हित मेवास्मादेतदन्नं दधात्युत्तरा मुत्तर मेवास्मादे-  
तदन्नं दधाति ॥ १ ॥

यदेव स्वयमात्मना मुपदधाति । प्राणो वै  
स्वयमात्मना प्राणो ऽमेवैतत् स्वय मात्मन आत्मने  
प्राण मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हितां पुरुषादुप-  
दधाति प्राणो वै स्वयमात्मनेयं वै स्वयमात्मनेय  
मु वै प्राणो यद्दि किञ्च प्राणीयं तत् सर्व्वं  
विभर्त्यनन्तर्हित मेवास्मादेतत् प्राणं दधात्युत्तर  
मेवास्मादेतत् प्राणं दधाति ॥ २ ॥

यदेव स्वयमात्मना मुपदधाति । प्रजापतिं  
व्युत्सस्तं देवता आदाय व्युत्क्रामस्तासु व्युत्-  
क्रामन्तीषु प्रतिष्ठा मभिपद्योपाविशत् ॥ ३ ॥

स यः स प्रजापतिर्व्यसत् । अय मेव स यो-  
 ऽय मग्निश्चीयतेऽथ या सा प्रतिष्ठैषा सा प्रथमा स्वय-  
 माहृता तद्यदेता मत्रोपदधाति यदेवास्यैषात्मनः-  
 स्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेता मत्रोपदधाति  
 ॥ ४ ॥

तां वै प्रजापतिनोपदधाति । प्रजापतिर्ह्येवै-  
 तत् स्वयमात्मनः प्रत्यधत्त ध्रुवासीति स्थिरासीत्ये-  
 तद्यो प्रतिष्ठितासीति धरुणेति प्रतिष्ठा वै धरुण  
 मास्तृता विश्वकर्मेणेति प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा  
 तेनास्तृतासीत्येतन्मा त्वा समुद्र उद्दधीन् मा सुपर्ण  
 इति रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णस्तौ त्वा  
 मोद्दधिष्ठा मित्येतद्व्यथमाना पृथिवीं दृष्ट्वेति यथैव  
 यजुस्तथा बभूवुः ॥ ५ ॥

प्रजापतिष्ठा सादयत्विति । प्रजापतिर्ह्येतां  
 प्रथमां चिति मपश्यदपां पृष्ठे समुद्रस्तेमन्नित्यपां  
 हीयं पृष्ठं समुद्रस्य हीयं मेम व्यचस्वती प्रथस्वती

मिति व्यञ्जस्वती च होयं प्रथस्वती च प्रथस्व  
पृथिव्यसीति प्रथस्व पृथिवी चासीत्येतत् \* ॥ ६ ॥

भूरसीति । भूर्हीयं भूमिरसीति भूमिर्हीय  
मदितिरसीतीयं वा ऽमदितिरियं हीदं सृञ्चं  
ददते विश्वधाया इत्यस्यां हीदं सर्वं हितं  
विश्वस्य भुवनस्य धर्त्रीति सृञ्चस्य भुवनस्य धर्त्री-  
त्येतत् पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृष्ट्वा पृथिवीं मा  
हिंसीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृष्ट्वात्मानं मा  
हिंसीरित्येतत् ॥ ७ ॥

विश्वस्मै प्राणायानाय । व्यानायोदानायेति  
प्राणो वै स्वयमात्मन् सृञ्चस्मा ऽउ वा ऽएतस्मै  
प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्रायेतीमे वै लोकाः स्वय-  
मात्मन् इमं ऽउ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्र मग्निष्ठाभि-  
पात्विष्वग्निष्ठाभिगोपायत्वित्येतन् मग्ना स्वस्येति  
महत्या स्वस्येत्येतच्छर्द्धिषा श्रुतमेनेति यच्छर्द्धिः  
श्रुतमं तेनेत्येतत् सादयित्वा सुददोहसाधिवदति

तुस्योक्तो बभ्रुरथ साम गायति तुस्योपरि' बभ्रुः  
॥ ८ ॥

तदाहुः । कथं मेष पुरुषः स्वयमाह्वयानभि-  
निहितो भवतीत्यन्नं वै स्वयमाह्वया प्राणः स्वय-  
माह्वयानभिनिहितो वै पुरुषोऽग्नेन च प्राणेन  
च ॥ ८ ॥

अथ दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति । पशुवो वै दूर्ध्वे-  
ष्टका पशुनेवैतदुपदधाति तद्यैरदोऽग्निरनन्तर्हितैः  
पशुभिरुपैत्तु ऽएते तानेवैतदुपदधाति ता मनन्त-  
र्हिताः स्वयमाह्वयाया उपदधातीयं वै स्वय-  
माह्वयानन्तर्हितांस्तदस्यै पशुन्दधात्युत्तरा मुत्तरां-  
स्तदस्यै पशून् दधाति ॥ १० ॥

यद्वेव दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति । प्रजापतेर्विस्सस्तं स्य  
यानि लोमान्यशीयन्त ता ब्रूमा ओषधयोऽभव-  
न्नुयास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत्स्मिन्नुत्क्रान्ते-  
ऽपद्यत \* ॥ ११ ॥

\* 'ऽपद्यत'—इति ख, 'ऽपद्यत'—इति ग, घ ।



सोऽब्रवीत् । अथ ध्वाव माधूर्वीदिति यदु-  
ब्रवीदधूर्वीन् मेति तस्माद् धूर्वा धूर्वा इ वै तां  
दूर्वेत्याचक्षते परोऽर्घं परोऽर्घकामा हि देवास्तदे-  
तत् चत्रं प्राणो ज्येष्ठ रसो लोमान्यन्या ओषधय  
एता मुपदधत् सर्वा ओषधीरुपदधाति ॥ १२ ॥

तं यत्न देवाः समस्कुर्वन् । तदस्मिन्नेतं प्राणं  
रसं मध्यतोऽदधुस्तथैवास्मिन्नयं मेतदधाति ता मनन्त-  
र्हिताः स्वयमातृन्नाया उपदधातीयं वै स्वयमातृ-  
न्मानन्तर्हितास्तदस्या ऽओषधीर्हधात्युत्तरा मुत्तरा-  
स्तदस्या ऽओषधीर्हधाति सा स्यात् समूला साया  
कृत्स्नतायै यथा स्वयमातृन्नाया मुपहिता भूमिं  
प्राप्नुयादेव मुपदध्यादस्यां ज्यैवैता जायन्त ऽहमा  
मनु प्ररोहन्ति ॥ १३ ॥

काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती । पुरुषः पुरुष-  
स्पर्शेति काण्डात् काण्डाज्जोषा पर्वणः पर्वणः  
प्ररोहत्येवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन क्षिति  
यथैव यजुस्तथा वसुः ॥ १४ ॥

या शतेन प्रतनोषि । सहस्रेण विरोहसीति

यतेन ह्येषा प्रतनोति सहस्रेण विरोहति तस्यास्ते  
 देवीष्टके विधेम हविषा व्यय मिति यथैव यजु-  
 स्तथा बभ्रुर्वाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो बभ्रुः  
 सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः  
 ॥ १५ ॥

अथ द्वियजुष मुपदधाति । इन्द्राग्नी ऽचका-  
 मयेतां स्वर्गं लोकं मियावेति तावेता मिष्टका  
 मपश्यतां द्वियजुष मिमा मेव ता मुपादधातां ता  
 मुपधायास्यै प्रतिष्ठाबै स्वर्गं लोकं मैतां तथैवैत-  
 दयजमानो यद् द्वियजुष मुपदधाति येन रूपेण यत्  
 कर्म कृत्वेन्द्राग्नी स्वर्गं लोकं मैतां तेन रूपेण  
 तत् कर्म कृत्वा स्वर्गं लोकं मयानीति सा यद्  
 द्वियजुर्नाम हे ह्येतां देवते ऽपश्यतां यद्देव द्वि-  
 यजुष मुपदधाति यजमानो वै द्वियजुः ॥ १६ ॥

तदाहुः । यदसाविव यजमानो योऽसौ हिर-  
 रण्यः पुरुषोऽथ कतमदक्षेदु रूप मिति दैवो  
 वा ऽस्य स पात्मा मानुषोऽयं तदात् स हिर-  
 रण्यो भवत्यमृतं वा ऽस्य तद्रूपं देवरूपं ममृतं

हिरण्यं मय यदियं मृदुः कृता भवति मानुषं  
अक्षेदं रूपं \* ॥ १७ ॥

स यदमू मेवोपदध्यात् † । नेमा मपशिष्यात्  
क्षिप्रे हस्माक्षोकाद्यवमानः प्रेषादय यदिमा मपशि-  
नष्टि यदेवाख्येदं मानुषं रूपं तदस्यैतदपशिनष्टि  
तथो हानेनात्मना सर्वं मायुरेति ॥ १८ ॥

स यन्नानूपदध्यात् । न हैतं दैव मात्मान मनु-  
प्रजानीयादय यदनूपदधाति तथो हैतं दैव मा-  
त्मान मनुप्रजानाति ता मनन्तर्हितां दूर्ध्वेष्टकाया उप-  
दधाति पशवो वै दूर्ध्वेष्टका यजमानं तत् पशुषु  
प्रतिष्ठापयति ॥ १९ ॥

तदाहुः । कय मस्यैतावात्मानौ प्राचेन सक्त-  
ताव्यवच्छिन्नौ भवत इति प्राचो वै स्वयमादृक्षा  
प्राचो दूर्ध्वेष्टका यजमानो द्वियजुः स यदनन्तर्हिता  
स्वयमादृक्षायै दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति प्राचेनैव तत्

\* 'रूपं'—इति ग, घ ।

† 'मेवोपदध्यात्'—इति ग, घ ।

प्राणोऽसन्तनोति सन्ध्यात्यथ यदनन्तर्हितां दूर्ध्वेष्ट-  
कायै द्वियजुष मुपदधाति प्राणो वै दूर्ध्वेष्टका  
यजमानो द्वियजुरेव मु हास्यैतावात्मानौ प्राणेन  
सन्ततावव्यवच्छिन्नौ भवतः ॥ २० ॥

यास्ते ऽग्ने सूर्ये रुचोः\* । या वो देवाः सूर्ये  
रुच इति रुचो रुच मित्यमृतत्वं वै रुगमृतत्वं  
मेवास्मिन्नेतदधाति हाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो  
बभ्रुरथो इयुः स्रुवैतद्रूपं मृच्छापञ्च सादयित्वा  
सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः ॥ २१ ॥

अथ रेतस्त्रिचा ऽउपदधाति । इमौ वै लोकौ  
रेतस्त्रिचाविमौ ह्येव लोकौ रेतः सिञ्चत इतो  
वा ऽथ मूर्ध्नि रेतः सिञ्चति धूमो सामुत्र बृष्टि-  
र्भवति ता मसावमुतो बृष्टिं तदिमा चन्तरेण प्रजा-  
यन्ते तस्मादिमौ लोकौ रेतस्त्रिचौ† ॥ २२ ॥

व्विराड्ज्योतिरधारयदिति । अयं वै लोको  
व्विराट् स इमं मनिं ज्योतिर्धारयति स्वराड्-

\* 'रुचोः'—इति क. ख ।

† 'रेतःत्रिचौ'—इति ख ।

ज्योतिरधारयदित्यसौ वै लोकः स्वराट् सो \* ऽमु-  
मादित्यं ज्योतिर्धारयति विराड् वृहेमौ † लोको  
स्वराट् च नानोपदधाति नाना हीमौ लोको सकृत्  
सादयति समानं तत् करोति तस्माद् हानयो-  
र्लोकयोरुन्ताः समायन्ति ॥ २३ ॥

युद्धेव रेतस्त्रिचा ऽउपदधाति । चाण्डौ वै रेत-  
स्त्रिचौ यस्य चाण्डौ भवतः स एव रेतः सिञ्चति  
विराड्ज्योतिरधारयत् स्वराड्ज्योतिरधारयदिति  
विराड् वृहेमा ‡ चाण्डौ स्वराट् च तावेतज्ज्योति-  
र्धारयतो रेत एव प्रजापति मेव नानोपदधाति  
नाना हीमाचाण्डौ सकृत्सादयति समानं तत्  
करोति तस्मात् समानसम्बन्धनौ तेऽचनन्तर्हिते  
द्वियजुष उपदधाति यजमानो वै द्वियजुरनन्तर्हितौ  
तद्यजमानादाण्डौ दधाति ॥ २४ ॥

\* 'स्वराड्ज्यो' - इति ख ।

† 'विराड् वृहेमौ' - इति सा०-सम्मत इत्याद्य ङा०-वेबरः ।

'विराड् वृहेमौ' - इति च पाठो ङा०-वेबरः ।

‡ 'विराड् वृहेमा' - इति सा०-सम्मत इत्याद्य ङा०-वेबरः ।

अथ विश्वज्योतिष मुपदधाति । अग्निर्वै  
 प्रथमा विश्वज्योतिरग्निर्द्यौर्वास्तिर्लोके विश्वं ज्योति-  
 रग्नि मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः रेत-  
 सिग्भ्या मुपदधातीमौ वै लोकौ रेतसिचावनन्त-  
 र्हितं तदाभ्यां लोकाभ्या मग्निं दधत्यन्तरेवोपद-  
 धत्यन्तरेव हीमौ लोकावग्निः \* ॥ २५ ॥

यदेव विश्वज्योतिष मुपदधाति । प्रजा वै  
 विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननं  
 मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः रेतसिग्भ्या  
 मुपदधात्याण्डौ वै रेतसिचावनन्तर्हितां तदाण्डा-  
 भ्यां प्रजातिं दधत्यन्तरेवोपदधत्यन्तरेव ह्याण्डौ  
 प्रजाः प्रजायन्ते ॥ २६ ॥

प्रजापतिष्ठा सादयत्विति । प्रजापतिर्द्यौतां  
 प्रथमां चिति मपश्यत् पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मती  
 मिति पृष्ठे ह्ययं पृथिव्यै ज्योतिष्मानग्निः † ॥ २७ ॥

\* 'लोकावग्निः'—इति ग, घ ।

† 'ज्योतिष्मानग्निः'—इति ग, घ ।

व्यिश्वस्मै प्राणायापानाय । व्यानायेति प्राणो  
 वै व्यिश्वज्योतिः सर्वस्मा ऽउ वा ऽएतस्मै प्राणो  
 व्यिश्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्वं ज्योतिर्यच्छेतदग्निष्टे-  
 ऽधिपतिरित्यग्नि मेवास्या अधिपतिं करोति साद-  
 यित्वा सुददोऽसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥ २८ ॥

अथऽर्त्तव्ये ऽउपदधाति । ऋतव एते यदृतव्ये  
 ऽऋतुनेवैतदुपधाति मधुश्च माधवश्च व्यासन्निका-  
 वृतू ऽऋति नामनी ऽएनयोरिते नामभ्या मेवैने  
 ऽएतदुपदधाति दे ऽऋष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः  
 सङ्गत् सादयत्येकं तदृतुं करोति ॥ २९ ॥

तद्यदेति ऽअत्रोपदधाति । संवत्सर एषो-  
 ऽग्निरिम ऽउ लोकाः संवत्सरस्तस्याय मेव लोकः  
 प्रथमा चितिरय मस्य लोको वसन् ऋतुस्तद्यदेति  
 ऽअत्रोपदधाति यदेवास्मैते ऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्  
 प्रतिदधाति तस्मादेति ऽअत्रोपदधाति ॥ ३० ॥

यदेवैते ऽअत्रोपदधाति । प्रजापतिरेषोऽग्निः  
 संवत्सर उ प्रजापतिस्य प्रतिष्ठैव प्रथमा चितिः  
 प्रतिष्ठो ऽअस्य वसन् ऋतुस्तद्यदेति ऽअत्रोपदधाति

यदेवास्मैते ऽथात्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मा-  
 देते ऽअचोपदधाति ते ऽअनन्तर्हिते विश्वज्योतिष  
 उपदधाति प्रजा वै विश्वज्योतिरनन्तर्हितास्तत्  
 प्रजा ऋतुभ्यो दधाति तस्मात् प्रजा ऋतुर्नवानु-  
 प्रजायन्त ऽऋतुभिर्ह्येव गर्भे सन्तः सम्प्रश्यन्त्यृतुभि-  
 र्जातम् \* ॥ ३१ ॥

अथाषाढा मुपदधाति । इयं वा ऽअषाढेमा  
 मेवैतदुपदधाति तां पूर्वार्द्धे ऽउपदधाति प्रथमा ह्येय  
 मसृज्यत ॥ ३२ ॥

सा यदुषाढा नाम । देवाश्चामुराश्चोभये प्राजा-  
 पत्या अस्पृहन्त ते देवा एता मिष्टका मपश्यन्नषाढा  
 मिमा मेव ता मुपादधत ता मुपधायामुरान्सपत्नान्  
 भ्रातृव्यानस्मात्सर्वस्मादसहन्त यदसहन्त तस्माद-  
 षाढा तथैवेतद्यजमान एता मुपधाय द्विषन्त भ्रातृव्य  
 मस्मात् सर्वस्मात् सहते ॥ ३३ ॥

यदेवाषाढा मुपदधाति । व्याग्वा ऽअषाढा वा-

\* 'जातम्'—इति ग, घ ।



चैव तद्देवा असुरान्सपत्नान् भातृव्यानस्मात् सर्व-  
स्मादसहन्त तथैवैतद्यजमानो व्याचैव द्विषन्तं भातृ-  
व्य मस्मात्सर्वस्मात्सहते व्याच मेव तद्देवा उपादधत  
तथैवैतद्यजमानो व्याच मेवोपधत्ते \* ॥ ३४ ॥

सेयं व्यामभृत् । प्राणा वै व्यामं यद्वि किञ्च  
प्राणीयं तत् सर्वं विभर्त्ति तेनेयं व्यामभृद्वाग् च त्वेव  
व्यामभृत् प्राणा वै व्यामं व्याचि वै प्राणेभ्योऽन्नं  
धीयते तस्माद्वाव्यामभृत् † ॥ ३५ ॥

त एते सर्वे प्राणा यदुषाढा । तां पूर्वार्द्ध‡  
उपदधाति पुरस्तात् प्राणान्दधाति तस्मादि-  
मे पुरस्तात् प्राणास्तान्नान्यथा यजुष्यत्येष्टक्या पुर-  
स्तात् प्रत्युपदध्यादेतस्यां चित्तौ नेत्याणानपिदुधा-  
नीति § ॥ ३६ ॥

यद्वपस्याः पञ्च पुरस्तादुपदधाति । अन्नं वा

\* 'मेवोपधत्ते'—इति ख, 'मेवोपधत्ते'—इति ग, घ ।

† 'मभृत्'—इति ग, घ ।

‡ 'पूर्वार्द्ध'—इति, ख ।

§ 'दधानीति'—इति क ।

ऽप्रापोऽनपिहिता वा ऽअग्नेन प्राणास्ता मुनन्तीहिता  
मृतव्याभ्या मुपदधात्पृथु तद्वाचं प्रतिष्ठापयति सेयं  
व्यायुतुषु प्रतिष्ठिता व्वदति ॥ ३७ ॥

तदाहुः । यत् प्रजा विश्वज्योतिर्व्यागुषाढाथ  
कस्मादन्तरेण ऽर्त्तव्येऽउपदधातीति संवत्सरो वा ऽऋ-  
तव्ये संवत्सरेण तत् प्रजाभ्यो व्याच मन्तर्दधाति  
तस्मात् संवत्सरवेलायां प्रजा व्याचं प्रवदन्ति ॥  
॥ ३८ ॥

अषाढासि सहमानिति । असहन्त द्यौतया  
देवा अमुरानसहस्रारातीः सहस्र पृतनायत इति  
यथैव यजुस्तथा बभूवुः सहस्रवीर्यासि सा मा  
जिन्वेति सर्वं वै सहस्रं सर्ववीर्यासि सा मा  
जिन्वेत्येतत् सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो  
बभूवुः ॥ ३९ ॥

तदाहुः । कस्मादभिस्त्रयमाहस्य मन्या इष्टका  
उपधीयन्ते प्राच्य एता इति द्वे वै योनी ऽइति  
ब्रूयाद्देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः प्राचीनप्रज-  
नना वै देवाः प्रतीचीनप्रजनना मनुष्यास्तद्यु-

देताः प्राचीरुपदधाति देवयोनिरेवैतद्यजमानं प्रज-  
नयति ॥ ४० ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [४. २.] ॥

गते ब्राह्मणे रुक्माद्युपधानं विहितम् \* , अथास्मिन् ब्राह्मणे  
स्वयमाढ्यादूर्वेष्टकाद्युपधानं विधास्यते । कात्यायनः,— “स्वय-  
माढ्यां पुरुषे शर्करां क्षिद्रा मिति † । पुरुषप्रयत्न मन्तरेण या  
स्वत एव क्षिद्रयुक्ता, शर्करा क्षुद्रपाषाणविशेषः , सा स्वयमाढ्या,  
तां हिरण्यं पुरुषे उपदध्यात् । तदेतद् विधत्ते— “स्वय-  
माढ्या मुपदधातीति । स्वयमाढ्यास्या मिष्टका मुपदध्या-  
दिति विधिरुचेयः ; यथा “औदुम्बरी यूपो भवतीति । तच्च  
हि भवतीत्यस्य वर्त्तमानापदेशत्वात् प्रत्यक्षविधित्वासम्भवेऽपि  
“जम्बे”—इत्याद्यर्थवादकृतस्तुत्या विधिरुचीयत इति निर्णीतम् ।

ननु “जम्बा उदुम्बर इत्यादेः यूपोदुम्बरस्य फलविधाय-  
कत्वात् कथं मर्यादादत्त मिति चेत्, न ; अविहितस्य  
फलाभिधानायोगाद् विहितस्येति वक्तव्यम् ; विधिश्च तस्मार्थ-  
वादत्वं मन्तरेण न सम्भवतीति । अतोऽत्रापि “इयं वै”—  
इत्याद्यर्थवादस्य वर्त्तमानापदेशत्वादुक्तेतस्यो विधिः । एव मन्त्र-  
त्रापि वर्त्तमानापदेशेषु अयं निव न्यायो द्रष्टव्यः ।

\* नास्म्येतद् वाक्यं ज-पुस्तके ।

† का० श्री० सू० १७. ४. १५ ।

तस्याः स्वयमाह्वयाः पृथिवीविकारत्वात् तदुपधानेन  
पृथिव्युपधान मेव सम्पादितं भवतीत्याह— “इयं वा इति ।

यदुक्तं सूत्रे पुरुष इति, तद् विधत्ते— “ता मनन्तर्हिता  
मिति । ‘ताम्’ इष्टकां ‘पुरुषात्’ ‘मनन्तर्हिताम्’ अव्यवहितान्,  
तत्सम्बन्धा मुपदध्यादित्यर्थः ।

पुरुषसम्बन्धत्वेनोपधानं प्रशंसति— “अन्नं” वा इति ।  
पृथिव्यां ब्रौह्मादीनां सर्वेषां मन्त्रानां पच्यमानत्वादन्नरूपा  
पृथिवी, स्वयमाह्वया च पृथिवीत्युक्तम् ; अतश्च पुरुषसम्बन्धे-  
नोपधानेन तस्मिन्नन्नमेव निहितत्वात् भवति ।

मनन्तर्हितमित्युक्तत्वात् क्वचित् तत्पार्श्वे संश्लेषेणाप्यव्यवधान  
मुपपद्यत इत्यत आह— “उत्तरा मिति । ‘उत्तरां’ पुरुष-  
स्योपर्यवस्थिताम् । विधेयविशेषणमेतत् । अत एव सूत्रे ‘पुरुषे’  
इति सप्तम्या उपधानाधिकरणत्वं सुक्तम् ।

“उत्तरमेवास्मादिति । ‘अस्मात्’ पुरुषात् ‘उत्तरम्’ उपर्य-  
वस्थितम् ‘अन्नं’ करोति, पुरुषस्य मुखे दधातीति \* भावः ॥ १ ॥

विहितां स्वयमाह्वया मनूय प्राणात्मना स्तौति— “यद्दे-  
वेति । “स्वयमाह्वया मुपदधातीति यदस्ति, तत्कारणं मुच्यत  
इत्यर्थः । “प्राणो ज्ञेयैतत् स्वयं आत्मन आह्वये”—इति स्वय-  
माह्वयाः प्राणस्वोपपादनम् । प्राणो नाम शरीरान्तर्गतेमानो  
वायुः । स हि आत्मनोऽर्थे स्वयम् ‘आह्वये’ आतर्दनं कुरुते,  
शरीरान्तर्गतनाडोऽहं अवकाशं कृत्वा प्रवर्तते । अथ वा आत्मनः  
शरीरस्यान्तः आह्वये इति योजना । आह्वये इति “उत्तरिर्

\* ‘निदधातीति’—इति च ।

हिंसानादरयोः \*”—इत्यस्माद्वीधादिकाकृष्टि रूपम् ; अतः स्वयमातर्हन्सामान्यात् स्वयमाढ्यक्षायाः प्राणात्मकत्वं मित्यर्थः ।

विहितव्यवधानं मनुवदन् न केवलं स्वयमातर्हन्सामान्यादेव प्राणत्वम्, अपि तु पूर्वोक्तपृथिवीत्वसाम्याच्चापि † प्राणत्व मस्या विद्यत इति दर्शयति — “ता मनस्तर्हिता मित्यादिना । यत् किञ्चिन्ननुष्यपशुपक्षिसरोरुपादिकं प्राणिजात मस्ति, तत् सर्वं पृथिवी बिभर्त्ति खलु । अनेन पृथिव्याः प्राणात्मकत्वं सुपपादितम् । स्यष्ट मन्वत् ॥ २ ॥

अथ पुनरपि ता मेवेष्टकां विस्त्रस्तावयवस्य प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपेण प्रशंसति — “यदेवेति । पूर्वं प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विस्त्रस्ताङ्गोऽभूत् । तादृशं ‘तं’ प्रजापतिम् अवयवशः ‘आदाय’, देवताः ‘व्युदक्रामन्’, ततः ‘तासु’ ‘व्युत्क्रामतीषु’ ‡, स प्रजापतिः प्रतिष्ठारूपं मङ्गं स्वयम् ‘अभिपद्य’ गृहीत्वा ‘उपाविशत्’ । तदेतत् प्राक् प्रपञ्चेनोक्तम् — “प्रजापतिः प्रजा असृजत, स प्रजाः सृष्ट्वा सर्वं माजि मित्वाव्यस्रंसत, तस्माद्विस्त्रस्तात् प्राणो मध्यत उदक्रामदित्यादिना § । प्रजापतः प्रजासर्जनेन विस्त्रस्तावयवत्वं तैत्तिरीयकेऽप्यान्नातम् — “प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा व्यस्रंसतेति ॥ ३ ॥

\* न० उ० ६ ब्रा० ।

† ‘पृथिवीत्वमाद्यापि’— इति च, ‘पृथिवीत्वप्रजाद्यापि’ इति छ ।

‡ ‘देवाः’, ‘तेषु’, ‘व्युत्क्रामन्’ इति त्रयः पाठास्तत्त्वार्था वा सायनीयाः ।

§ पुरस्तादिहेतु १. १. २ ( ४६ पृ० ) दृश्यम् ।

॥ तै० ब्रा० २. ३. ४. १.

“स य इति । ‘सः’ प्रजानां स्रष्टा, यः प्रजापतिः ‘विस्वस्तो-  
ऽभूत्’, ‘सोऽय मेव’ ; य एव इष्टकासङ्घातरूपः ‘अग्निधीयते’ ।  
‘अथ’ ‘या च’ ‘सा’ प्रजापतिना प्राप्ता ‘प्रतिष्ठा’, ‘सा एषा’ ;  
इदानीं उपधीयमाना ‘प्रथमा स्वयमादृशा’ । प्रथममध्यमोत्तमासु  
तिसृष्वपि चित्तिषु तिस्रः स्वयमादृशा उपधीयन्ते, अतोऽत्र प्रथ-  
मेति विशेषणम् । “तद्यदिति । यतः ‘एताम्’ इष्टकाम् ‘अत्र’ पुरुषे  
‘उपदधाति’, ‘तत्’ तेन ‘अस्य’ पुरुषरूपस्य प्रजापतेः ‘आत्मनः’  
स्वस्य ‘यदेतत्’ प्रतिष्ठालक्षणं मङ्गम् । ‘एषेति लिङ्गव्यत्ययः \* ।  
‘तत्’ ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतत्’ एतेन निहितवान् † भवति ।  
तस्मादस्मिन् पुरुषे उपदध्यात् ॥ ४ ॥

विहिते उपधाने मन्त्रं विधत्ते— “तां वै प्रजापति-  
नोपदधातीत्यादिना । अत्र “ध्रुवासि धरुणास्तृता”—“प्रजापतिर्वा  
सादयतु”—“भूरसिभूमिरसि”—इति तिसृभिर्ऋग्भिः ‡ “विश्वस्मै  
प्राणाय”- इति § यजुषा च ।

यत एषा स्वयमादृशेष्टकोपधीयते, अतः प्रजापति-  
शब्देन तद्विशिष्टं मन्त्रं लक्षयित्वा, तेन लक्षित-लक्षणया ते  
सर्वे मन्त्रा लक्ष्यन्ते— “प्रजापतिर्वावैतत् स्वय आत्मनः प्रत्य-  
धत्तेत्यनेन लक्षितलक्षणाविवक्षाकारणं सुच्यते ॥ । यतः प्रजा-

\* ‘एष इति लिङ्गव्यत्ययः’-इति क, ज ।

† प्रजापतौ च ते निहितवान्-इति क-पाठः, डा० वेवरेण च  
दृष्टः । ‘प्रजापतौ प्रति निहितवान्’-इति ज ।

‡ वा० सं० १३. १६. १७, १८ ।

§ वा० सं० १३. १६ ।

॥ ‘लक्षितलक्षणाकारणं सुच्यते’-इति ज ।

पतिः स्वयमात्मनः 'एतत्' प्रतिष्ठासंज्ञकं मङ्गं 'प्रत्यक्षत्',  
अतस्तत्प्रतिष्ठासंज्ञकस्वयमात्मस्योपधानमन्त्रेऽपि तत्सम्बन्धप्रतीतिर्यथा  
स्यादिति प्रजापतिनोपदध्यादित्युक्तम् ।

प्रथमा सृचं व्याचष्टे— "ध्रुवासीति \* । "स्थिरासीत्येतदिति  
ध्रुवासीत्यस्य व्याख्यानम्, "अथो प्रतिष्ठासीत्येतदपि ध्रुवासीत्यस्यैव  
विवरणम् । 'धरुणेति'-प्रतीकमादाय व्याचष्टे— "प्रतिष्ठा वै  
धरुणमिति । सर्वस्याधारभूतत्वर्थः । "आस्तृता विश्वकर्माणेत्यस्य  
व्याख्यानम्— "प्रजापतिर्वै विश्वकर्मेति । विश्वस्य कृत्स्नप्रपञ्चस्य  
कर्म सृष्टिलक्षणं मस्यासीति विश्वकर्मशब्देन प्रजापतिरभिधीयते ।  
तेन 'आस्तृता' आच्छादिता, उपहितेत्येतदुक्तं भवति ।

"रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्ण इति । अत्र पुष्करपर्णे रुक्म  
निधाय, तत्र च हिरण्यपुरुषमवस्थाप्य, तस्योपरि स्वयमात्मस्यो-  
पधानं कर्तव्यम् । अतश्च "मा त्वा समुद्र उदधीन्मा सुपर्ण इति †,  
अनेन आधारभूतो रुक्मपुरुषो तव हिंसां मा कार्षाम्, किन्तु  
आनुकुल्येनाङ्गीकुरुतामित्येतदुच्यते ।

"यथैव यमुस्ताया बभूवुरिति । अनेन यथा मन्त्रस्तथैव व्याख्या-  
नम्— "अव्ययमानां पृथिवीं दृष्ट्वेत्येष मन्त्रभागः ‡ स्मृत्यर्थ  
इत्युच्यते ॥ ५ ॥

\* 'ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मेत्या'—इति वा० सं० १३. १६  
अथः प्रथमो भागः ।

† एव वा० सं० १३. १६ द्वितीयो भागः ।

‡ एव हि वा० सं० १३. १६ तृतीयो भागः ।

अथ द्वितीया मृचं व्याचष्टे—“प्रजापतिश्चेति \*१। यतः  
 ‘प्रजापतिः’ ‘एतां प्रथमां चिति मपश्यत्’, अतः “प्रजापतिश्चा  
 सादयत्विति मन्त्र आह । अपा माच्छादकत्वात् ‘इयं पृथिवी अपां  
 पृष्ठे । तथा ‘समुद्रस्य’ अपि ‘एमन्’ । एमन्निति “इण् गतौ †”—  
 इत्यस्मात् “अन्त्येभ्योऽपि दृश्यन्ते”—इति ‡ मनिन् प्रत्ययः । “समुद्र-  
 स्येति, ज्ञयोगे कर्मणि षष्ठी § । ‘समुद्रस्य एमा’ समुद्रं प्राप्तेत्यर्थः ।  
 परितः समुद्रेण वलयितत्वात् । “एमन्निति सप्तम्येकवचनस्य  
 “सुपां सुलुगित्यादिना ॥ लुकि सति रूपम् । ‘इयं पृथिवी’ व्यच-  
 स्वती’ व्यञ्जनवतो, अभिव्यक्तियुक्ता, ‘प्रथस्वती’ विस्तारयुक्ता चेत्ये-  
 तत् प्रत्यक्षसिद्धम् ; स्वयमादृष्ट्या च पृथिव्यात्मिका ; अतश्च व्यच-  
 स्वतीं प्रथस्वती मिति मन्त्र आह, “प्रथस्व पृथिवी चासीत्ये-  
 तदिति ¶ । यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्वेत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः ।  
 पृथिवीशब्दस्य प्रथनप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते—  
 “तत् पुष्करपर्वेऽप्रथयत्, यदप्रथयत्, तत् पृथिव्यै पृथिवीत्व  
 मिति \*\* ॥ ६ ॥

\* “प्रजापतिश्चा सादयत्वपान्पृष्ठे समुद्रस्येमन् । व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं  
 प्रथस्व पृथिव्यसि”—इति वा० खं० १३. १७ ।

† अदा० प० ३४ घा० ।

‡ पा० ख० ३. २. ७५ ।

§ पा० ख० २. ३. ६५ ।

॥ पा० ख० ७. १. ३६ ।

¶ मन्त्रदशभिर्प्राय एव ब्राह्मणोक्तः, न तु मन्त्रपाठः ।

\*\* तै० ब्रा० १. १. ३. ७. १ ।



अथ तृतीया सूचं व्याचष्टे—“भूरसीतीति \* । “भूर्हीयं भूमिर्हीय मिति । ‘इयं’ पृथिवी, यतः सर्वेषां सुखानि भावयतीति भूः ; अस्याः सकाशादिदं सर्वं मविज्ञात मभूदिति भूमिश्च । अत एव श्रुतिः,—“अभूद्वा इदं मिति तद् भूम्यै भूमित्व मिति† । तस्माद्भूरसि भूमिरसौत्वभिधत्ते । “इयं ह्रीदं सर्वं ददते”—इत्यनेनादितित्वोपपादनम् । ‘इयं’ पृथिवी ‘इदं सर्वं’ भोग्यवस्तुजातं ‘ददते’, तस्माद् अदितिः । “दद दाने ‡”—इत्यस्माददितिशब्दो निष्पद्यो द्रष्टव्यः । ‘विश्वं’ सर्वम् ‘अस्यां’ निहित मिति ‘विश्वधायाः’ । “विश्वस्य भुवनस्येति । भुवनशब्देनात्र भुवनवर्त्ति पदार्थजातं लक्ष्यते, ततश्च सर्वस्य भुवनवर्त्तिपदार्थजातस्य धारयिनीत्येतदुक्तं भवति । पृथिवीरूपत्वादात्मनः “पृथिवीं यच्छेत्त्वादिना आत्मन एव नियमनादिकं क्रियता मित्युच्यत इत्याह—“आत्मानं यच्छेत्त्वादिना ॥ ७ ॥

अथ यक्षुर्मन्त्रं व्याचष्टे—“विश्वस्मै प्राणायेति § । एक एव प्राणवायुर्वृत्तिभेदात् प्राणापानव्यानोदानशब्दैरभिधीयते । “प्राणो ह्येवेतत् स्वय मात्मनश्चादन्दत इति स्वयमादन्वायाः प्राणत्वं सुक्तम् ॥ । “सर्वस्मा उ वा एतस्मा इति । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ¶ । सर्वस्य स्वस्वेतस्य प्राणिसङ्घस्य प्राण एवाशासो

\* वा० सं० १३. १८ ।

† तै० ब्रा० १. १. ३. ७. १ ।

‡ भा० आ० १७ ब्रा० ।

§ वा० सं० १३. १६ ।

॥ इत्येव चित्तोक्तिकायां ( १७८ पृ० ६ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

¶ पा० १. ३. ६१ सू० १ ब्रा० ।

भवति , अतः सर्वस्यापि प्राणादिस्वैर्यार्थं तवोपधानं मिति यावत् ।

“इमे वै लोका इति । तिस्रः स्वयमादृशाः , पृथिव्यन्तरिक्षपुलोकात्मिकाः । ‘इमे’ खलु ‘लोकाः’ ‘प्रतिष्ठा’ सर्वप्राणिना माधारः । “चरित्रं मिति प्रत्येकविवक्षयैकवचनम् , नियतलिङ्गत्वाच्चपुंसकलिङ्गम् । ततश्च प्रथमायाः स्वयमादृशायाः पृथिव्यात्मकत्वात् , सर्वेषां माधारभूताय संसारसाधनभूताय च अस्मै लोकाय तवोपधानम् । “गोपायत्वित्येतदिति । पृथिव्यभिमानिदेवतात्वात् “अग्निस्त्वा अग्नि गोपायत्वित्येतदुक्तम् । “यच्छर्हिः शक्तमम् , तेनेत्येतदिति । ‘शक्तमम्’ अतिशयेन सुखकरं यच्छर्दिस्तेजोस्ति , तेनेति ॥

मन्त्रार्थस्तु ,— हे स्वयमादृश्ये ! स्थिरासि , सर्वेषां प्रतिष्ठासि , प्रजापतिनोपहितासि । तादृशीं त्वां वक्त्रो मोहधीत् । तथा हिरण्यपुरुषश्च त्वां मोहधीत् । तथा सति अव्यथमानां त्वं पृथिवीं दृढीकुरु (१६) । किञ्च प्रजापतिः अपा माच्छादके समुद्रं प्राप्तवति भूप्रदेशे व्यकल्पतीं विस्तारवतीं त्वां सादयतु । यतस्त्वं पृथिव्यसि , अतः ‘प्रथस्व’ विस्तारवती भव (१७) । किञ्च , त्वं सर्वेषां सुखानां भावयित्री असि , सर्वेषां चोत्पत्तिस्थानं मसि , सर्वस्यापि भोग्यवस्तुनो दात्री असि , कृत्स्नस्यापि भुवनवर्त्तिपदार्थजातस्य धारयित्री असि । तादृशो त्वं पृथिवीरूप मात्मानं ‘नियच्छ’ दृढीकुरु , मा च क्षिप्सौः (१८) । प्रयोजनं मन्त्ररेण त्वां ‘नोपदधे’ किन्तु सर्वस्यापि प्राणिनः स्वैर्यार्थं त्वां उपदधामि , त्वां अग्निं मन्त्रामहे । तिस्रोपगच्छाद्दसः । ‘स्वस्त्वा’ अग्निनाशेन

सुखातिशयसम्पादकेन तेजसा च गीयायतु । तथा 'देवतया'  
'अङ्गिरस्यत्' अङ्गिरसा तुष्या, 'ध्रुवा' 'स्थिरा' 'सीद' उपविशेति  
कृत्स्नमन्त्रार्थः ॥

अथ "तया देवतयेत्यनेन मन्त्रेण सादयित्वा "ता अस्येत्यने-  
नाधिवदेदित्याह— "सादयित्वेति । अत्र सूत्रम्— "सादन-  
सूददोहसौ सवेच तया देवतया ता अस्येतीति \* । साद-  
नाधिवदनमन्त्रयोर्व्याख्यानं प्रागुक्तं मित्याह— "तस्योक्तो बन्धु-  
रिति । 'तत्र' तस्मिन्. काण्डे "प्राणो वै सूददोहा इत्यादिना  
अधिवदनमन्त्रो, व्याख्यातः † । षष्ठकाण्डे "स उपदधाति  
'तया' देवतयेति, "वाग्वै सा देवतेत्यादिना व्याख्यातः सादन-  
मन्त्रः ‡ ॥

अथ स्वयमाह्वानायां सामगानं विधाय, तत्प्रयोजनकथनलक्षणं  
व्याख्यानं उपरिष्ठाद् वक्ष्यत इति दर्शयति— "अथेत्यादिना ।  
अस्यां प्रथमायां स्वयमाह्वानायां भूरिति व्याहृत्यां साम गायेत् ।  
अत एव सूत्रम्— "भूरित्येतस्यां साम गायति"—इति § ।  
तद्वाख्यानन्तु "अथ स्वयमाह्वानासु सामानि गायतीत्यादिनो-  
त्तरत्र अष्टमकाण्डावसाने प्रपञ्चते ॥ ८ ॥

\* "नित्ये सादनसूददोहमा, उपघानादुत्तरे तथा देवतया ता  
अस्येति"—इति का० श्रौ० सू० १६. ७. १४ ।

† पुरस्तादिहेतु ८० पृ० ८ पं० दृश्यम् ।

‡ तत्र १. २. २८ ( ६ भा० २२ पृ० ) दृश्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. १६ ।

॥ उपरिष्ठात् ८. ७. ४. १ दृश्यम् ।

( प्राणात्मकत्वात् तदुपधानेन पुरुषः कथं मनमिनिहितो भवतीति प्रश्नपूर्वकं स्वयमाह्वयाः ) \* लोके हि पुरुषस्योपरि पाषाणे निहिते अस्य † महानुपरोधो जायते, अतोऽत्र स्वयमाह्वयाः पाषाणात्मकत्वात् ‡, तयोश्चोपरोधहेतुत्वाभावात्, प्रत्यु-  
तानुकूलत्वात्, तत्तन्निधानेऽपि पुरुषोऽनभिहित एव भव-  
तीत्याह — “तदाहुरित्यादिना ॥ ८ ॥

स्वयमाह्वयेष्टकोपधानानन्तरं दूर्वेष्टकोपधानं विधत्ते—  
“अथेति । इष्टकाशब्दो मृन्मयेष्टकासु मुख्यः, दूर्वायानूपधान-  
सामान्याङ्गीणः । पशुपुष्टिसाधनत्वेन दूर्वाणां मपि पशुत्वात्, तदु-  
पधानेन § पशूनां मेवोपधानं कृतं भवतीत्याह—“पशवो वा इति ।  
यदुक्तं “पशून्नेवेतदुपदधातीति, तत् किं साधारणपशुविषयम् ?  
नेत्याह—“तद्यौरद इति । ‘अदः’ पुरस्तात् ‘अग्निः’ ‘अनन्तर्हितैः’  
अव्यवहितैः । स्वस्य तेष्वनुप्रवेशादनन्तर्हितत्वम् । तादृशैः ‘यैः’  
पञ्चभिः पशुभिः अन्यत्रोपजगाम, ‘ते’ पशवः ‘एते’ दूर्वेष्टकात्मका  
इत्यर्थः । अग्निः पशून् प्रविश्यान्यत्र जगामेत्येतत् “स एतान् पञ्च  
पशून् प्राविशदित्यादिना षष्ठकाण्डे प्रपञ्चेनोक्तम् ॥ । “उपदधातीति

\* बन्धनीचिह्नान्तःपाठो नास्ति ह-पुस्तकादन्यत्र ।

† ‘निहितस्य’—इति ऊ ।

‡ ‘अत्रप्राणात्मकत्वात्’—इति ऊ । “लोके पुरुषस्योपरि पाषाणे  
निहिते तस्य महानुपरोधो जायते । स्वयमाह्वयाः पाषाणा-  
त्मकत्वात्”—इति अ ।

§ ‘तदुपधाने’—इति ऊ, अ ।

॥ १ प्र० ४ भा० २ कः ( ३ भा० ५३ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

सामान्येन विधानात् स्नानविशेषं विधाय प्रशंसति— “ता मनन्तर्हिता मित्वादिना । “ता मनन्तर्हितां पुरुषादुपदधा-  
तीति स्नयमादृशेष्टकास्नापनविधिव्याख्यानेनैव कृतव्याख्यान-  
मेतत् \* ॥ १० ॥

विहित मुपधान मनुष्य ओषधीनां दूर्वायासोत्पत्तिप्रद-  
र्शनपूर्वकं तदुपधानेनैव ( क्षत्र मन्थाः ) † सर्वौषधीः प्राण-  
रसञ्चोपहितवान् भवतीति स्तौति— “यद्देवेत्यादिना । “अशी-  
यन्तेति अपतन्नित्यर्थः ॥ ११ ॥

“सोऽब्रवीदिति । ‘अयम्’ एव प्राणो माम् ‘अधूर्वीद्’ अहिंसो-  
दिति ‘सः’ प्रजापतिः ‘अब्रवीत्’ । ‘यदब्रवीन्मा अधूर्वीत्’-इति ,  
‘तस्माद्’ एष प्राणो नाम्ना ‡ ‘धूर्वा’ अभूत् । ननु धूर्वा न दूर्वा  
भवितु मर्हति, तत् कथं दूर्वेत्युच्यत इत्यत आह—“धूर्वा ह वै ता  
मिति । धूर्वाशब्दः पचाद्यजन्तः § । लोकेऽपि यत् किञ्चिन्नामधेय-  
विशिष्टं पुरुषं गौरवार्यं भ्राता पितेत्येवं परोक्षेण व्यपदिशन्ति ,  
तदद् देवा अपीत्यर्थः । “तदेतदिति । यतः ‘एषः’ दूर्वा प्राणात्मको  
‘रसः’ । प्राणस्य रसात्मकत्वं श्रूयते—“प्राणो ह्यङ्गानां रस इति ॥ ।  
‘एषः’-इति पुञ्जिङ्गत्वं प्राणरसापेक्षम् । अतः ‘तदेतद्’ ‘दूर्वा’  
‘क्षत्रं’ प्रधानम् । क्षत्रशब्देनात्र प्राधान्यं लक्ष्यते । ‘तदेतत्’-

\* पुरस्तादिहैव २७८ पृ० १० पं० द्रष्टव्यम् ।

† नास्थेतद् पदद्वयं क-पुस्तकाध्वयम् ।

‡ नास्थेतत् पदं क-पुस्तके ।

§ पा० छ० ३. १. १३४ ।

॥ छा० भा० ३. ३. १० द्रष्टव्यम् ।

इत्यपि नपुंसकलिङ्गं चतुर्थशब्दापेक्षम् । तथा सति लोकां  
प्राणानुविधायित्वात् प्राणरसात्मिका मेतां दूर्वेष्टका मुपदध्यात् ।  
लोमात्मिकाः 'सर्वा अप्योषधीरुपदधाति' ॥ १२ ॥

किञ्च 'यत्र' यदा 'देवाः' 'तं' प्रजापतिं चयनसंस्कारेण संस्कृत-  
वन्तः, तदा 'अस्मिन्' प्रजापतौ 'मध्यतः' मध्ये । सप्तम्यर्थे तसिः\* ।  
'प्राणं' रसम् अदधुः† स्थापितवन्तः । तथैव 'अयम्' अध्वर्युः  
'एतत्' एतेन दूर्वेष्टकोपधानेन 'प्राणं' रसं निहितवान् भवती-  
त्यर्थः । "ता मनस्तर्हिता मित्यादि । तस्यार्थसु व्यक्त एव ।

उपधातव्यायाः दूर्वेष्टकाया लक्षण माह— "सा स्वादिति ।  
'कृत्स्नतायै' सम्पूर्णत्वाय ; अष्टिद्वमूलाग्रं हि सम्पूर्णं मन्यूनं  
भवति । अतो मूलाग्रवती कार्या । उपधाने विशेष माह—  
"यथेति । अत्र कात्यायनः— "मूलाग्रवतीं दूर्वां तस्यां पुरस्ताद्  
भूमिप्राप्ता मिति ‡ । दूर्वेष्टकायाः पुरस्ताद् भूमिसंस्पर्शेनो-  
पधाने इमां दूर्वां मनुलक्ष्यैता ओषधयो भूमौ प्ररोहयुरित्वाह—  
"अस्यां ज्ञेयता इति ॥ १३ ॥

"काण्डादिति, "या शतेनेति च द्वाभ्या मपीय मिष्टका उप-  
धीयते । तत्र प्रथममन्त्रे पूर्वार्विस्वार्थः प्रत्यक्षसिद्ध इति दर्श-  
यति— "काण्डात्-काण्डादिति § । द्वितीयार्विन्तु निगदव्याख्यात  
मित्वाह— "एवा नो दूर्वे इत्यादिना । काण्डशब्दः स्तम्बवाची ,

\* पा० सू० ५. ३. ७, १४ ।

† 'निदधुः'—इति क ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. १८ क ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. १८ ख ।

परः शब्दः पर्ववचनः । यावन्तः काण्डाः स्तम्भा विद्यन्ते, तत्रैकै-  
कस्मात् स्तम्भात् प्रकर्षेणोत्पद्यमानाः । एकस्मिन्नपि स्तम्भे  
यावन्ति 'परुषि' पर्वाणि विद्यन्ते, तेभ्यैकैकस्मात् पर्वणः  
'परितः' प्रकर्षेणोत्पद्यमानाः । अथ वा, काण्डशब्देन पर्वणो-  
र्मध्यवर्ती दण्ड उच्यते ; 'काण्डात्-काण्डात्' सर्वस्मात् काण्डा-  
दित्यर्थः । 'परुषः-परुषः' सर्वस्मात् पर्वणः । हे दूर्वे ! येषु  
काण्डेषु यानि पर्वाणि सर्वाणि विद्यन्ते, तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि  
परतः प्ररोहन्ती भवसीत्यर्थः । 'एवा' एवं यथा त्वं भवसि,  
एवं 'नः' अस्मान् 'शतेन सहस्रेण च' शतसहस्रसङ्ख्याकैः पुत्रा-  
दिभिः 'प्रतनु' विस्तारयेति प्रथमस्यार्थः ॥ १४ ॥

हे दूर्वे ! 'या' त्वम् काण्डानां 'शतेन' आत्मानं विस्तारयसि,  
अङ्गुराणां 'सहस्रेण' विविधं प्रादुर्भवसि, हे 'देवि' द्योत-  
माने इष्टके ! 'तस्यास्ते' वयं 'हविषा' 'विधेम' परिचरेमेति  
द्वितीयस्यार्थः ॥ १५ ॥

उपधानमन्त्रगता मर्यसिद्धां हित्वसङ्ख्या मनुवदति— "हाभ्या  
मुपदधातीति । हित्वसङ्ख्याप्रशंसालक्षणं व्याख्यानम् "हाभ्या मभि-  
क्षुहोति, दिपाद्यजमानः, यजमानोऽग्निरित्यादिना प्रागुक्तं ॥  
मित्याह— "तस्योक्तो बभ्रुरिति । "सादयित्वेत्यादिकन्तु  
व्याख्यातम् ॥ १५ ॥

\* वा० सं० १३. २० ।

† वा० सं० १३. २१ ।

‡ इहेव पुरस्तात् २३५ ए० ४ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ इहेव पुरस्तात् ३०० ए० ५ पं० द्रष्टव्यम् ।

कात्यायनः— “यास्त इति द्वियजुष मिति \* । “यांस्ते अग्ने  
सूर्ये रुचः”—इति , “या वो देवाः”—इति , द्वाभ्यां † द्वियजुर्ना-  
मिष्टका मुपदधादिति सूत्रार्थः । तदेतद् विधत्ते— “अथेति ।  
विहिता मिष्टकां यजमानस्य स्वर्गप्राप्तिसाधनत्वेन प्रशंसति—  
“इन्द्राग्नी इत्यादिना । स्पष्ट मेतत् ।

“इमा मेवेति । ‘ताम्’ आत्मना दृष्टाम् ‘इमाम्’ अस्माभि-  
रधिष्ठीयमाना मिष्टकाम् ‘एव’ ‘उपादधाताम्’ । ‘ता मुपधाय’,  
‘अस्यै प्रतिष्ठाये’ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ‡ । अस्माः ‘प्रतिष्ठायाः  
सकाशात् सोपानवदिमा मारुह्य ‘स्वर्गं लोकं’ प्राप्नुता मित्यर्थः ।  
“तथैवेतदिति । “यजमानो द्वियजुष मुपदधातीति यत् एतत् ,  
‘तथैव’ इन्द्राग्निदेवतावदेव । तदेव दर्शयति— “येनेति । येन  
प्रकारेण ‘यत् कर्म कृत्वा’ इन्द्राग्नी ‘स्वर्गं लोकं’ प्राप्नुताम् ,  
तेनैव प्रकारेण ‘तत् कर्म कृत्वा’ अहं मपि ‘स्वर्गं’ प्राप्तवानिति  
‘यजमानो द्वियजुष मुपदधाति’ । तस्मादेवा स्वर्गप्राप्तिसाधन  
मिति भावः ।

प्रकृताया एवेष्टकायाः द्वियजुरिति नामप्राप्तिं दर्शयति—  
“सा यदिति । यतः ‘एतां’ ‘हे देवते’ इन्द्राग्नी ‘अपश्यताम्’ ,  
तस्माद् द्वियजुर्नामिष्ट मिष्टकेत्यर्थः ॥

ननु देवतादयदर्शनात् कथं द्वियजुरिति नाम स्यादिति  
चेत् , उच्यते— यतो ‘हे देवते एतां अपश्यताम्’ , अत एव द्वाभ्यां

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २० । परं तत्रास्ति पाठभेदः ।

† वा० सू० १३. २२, २३ ।

‡ पा० ३. २. ६२ सू० १ वा० ।



यजुर्भ्यां मुपधीयते । तथा सति यजुर्हव्येनोपधानस्यापि देवता-  
हयदर्शनोपाधिकत्वाद् द्वियजुरिति नामधेयस्यापि देवताहयदर्शन  
मेव निमित्तं मित्वमिप्रायः ॥

ननु “यास्ते अन्वे”-“या वो देवाः”-इत्यनयोर्मन्त्रयोः ऋग्-  
व्यवस्थया पठितत्वात् कथं यजुःशब्देन तदभिधानं मिति ? एवं  
तर्हि अथ यजुःशब्देन मन्त्रमात्रं लक्ष्यते ।

“ऋक्सामयजुषां लक्षणं जैमिनिना दर्शितम्—

“तेषां सृन् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या,  
शेषे यजुः शब्दः”—इति \* ।

एतदेवान्धत्तं सङ्गृहीतं मभियुक्तैः—

“नर्कामयजुषां लक्षणं साङ्ख्यार्थादिति शङ्किते ।

पादश्च गीतिः प्रक्षिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः”— इति † ।

अथवा मन्त्रे एव यजुःशब्दव्यवहारो दृश्यते ; यथा—  
“तस्मास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयं मिति ‡ : “यथैव यजुस्तथा  
बभ्रुरित्येवमादौ § ॥

अथ तां निवेष्टकां यजमानात्मनापि प्रशंसति— “यद्देवेति ।  
द्वियजुषो यजमानात्मकत्वात् तदुपधानेन यजमानं निवास्मिन्नोके  
अर्पितवान् भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

द्वियजुषो यजमानत्वोक्त्या सन्तोदयां पाञ्चिकानां जिज्ञासा  
भवतारयति— “तदाहुरित्यादिना । “अथ कतमदिति । ‘अथ’

\* मी० जै० ख० २ अ० १ पा० ३५, ३६, ३७ ख० ।

† जै० अग्नि० २. १. १०, ११, १२ ।

‡, § पुरस्तादिहैव पञ्चमन्त्रोपाख्यानं (३०४, २६६ पृ०) ब्रूयम् ।

‘अस्य’ यजमानस्य ‘इदं’ द्वियजुर्नामिष्टका कतमद् ‘रूपं’ स्वरूपमिति । रूपापेक्षया नपुंसकत्वम् । उक्तस्योत्तरं दर्शयति — “देवो वा इति । ‘सः’ हिरण्यस्यः पुरुषः ‘अस्य’ यजमानस्य देवत्वप्रयुक्तः ‘आत्मा’ शरीरम् ; यद् \* द्वियजुरिष्टका मनुष्यत्वप्रयुक्त आत्मेत्यर्थः । हिरण्यत्वात् पुरुषस्य देवशरीरत्वम्, मनुष्यत्वात् द्वियजुषो मानुषशरीरात्मत्वम् प्रतिपादयति — “तद्यदित्यादिना । “देवरूपमिति । यतो देवरूपम्, अतः ‘अस्य’ यजमानस्य तद्रूपम् ‘अमृतं’ खलु ; विलापनेऽप्यविनश्यत्वाद्दिरण्यस्यामृतत्वम् । “मानुषं” होति । ‘इदं’ द्वियजुर्लक्षणम् स्वरूपम् । यतो मानुषम् अतः ‘इयं मृदः कृता भवति’ पार्थिवो भवति, मानुषाणां पार्थिवत्वादित्यर्थः ॥ १७ ॥

द्वियजुष उपधानस्यान्वयश्चतिरेकयोगुणदोषप्रदर्शनेनावश्यकत्वमाह — “स यदित्यादिना । ‘अमृतं’ हिरण्यपुरुषलक्षणा मिष्टकाम् एव ‘उपदध्यात्’ । “नेमा मिति । ‘इमां’ द्वियजुर्लक्षणा मपि तदानीं मेव चेदुपदध्यात्, ‘नापशिंथात्’ नावशिष्येत्, तर्हि मानुषशरीररूपद्वियजुरिष्टकाया अपरिशेषणात् क्षिप्रकाले एव ‘अस्माज्जोकात्’ ‘यजमानः प्रेषात्’, तस्यास्तदानीं मनुषधानेनावशिष्येते तु ‘अनेन’ द्वियजुर्लक्षणेन मानुषशरीरणास्मिंज्जोके यजमानः कृत्स्नम् आयुरेतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथास्या इष्टकायाः हिरण्यपुरुषसमीपे सर्वदाऽनुपधाने दोषप्रदर्शनपूर्वकम्, तत्रोपधाने गुणं दर्शयति — “स यदि-

त्वादिना । समीपेऽनुपधाने सति असम्बन्धाद् यजमानः स्वकीयं देवरूपं मनुक्रमेण 'न प्रजानीयात्' ; उपधानेन तु प्रजानीयात् ।

अथ ता मेवेष्टकां दूर्वेष्टकासंस्पर्शेनोपदध्यादित्याह— “ता मनन्तर्हिता मिति ॥ १८ ॥

यजमानस्य हिरस्मयपुरुषो देवं शरीरम् ; द्वियक्षुषु मानुषं मित्पुत्रम् । तयोर्मध्ये स्वयमादृष्टादूर्वेष्टकायोरुपधानेन व्यवधानात् शरीरद्वयस्यापि प्राणेन कथं मध्यवच्छेद इति याज्ञिकानां प्रश्नं भवतारयति— “तदाहुरिति । ‘सन्तती’--इत्यस्यैव विवरणम्— “अश्ववच्छिन्नाविति । उक्तस्योत्तरं दर्शयति— “प्राणो वा इत्यादिना । ‘प्राणो वै स्वयमादृष्टा’ “प्राणो ह्येवैतत् स्वयं मात्मन आदृष्टे”--इति स्वयमादृष्टायाः प्राणत्वमुक्तम् । “अथास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामदित्यादिना प्राणरस एव दूर्वोऽभूदित्यपि उक्तम् । सन्तनोतीत्येतदेव विवृणोति— “सन्दधातीति । स्पष्टं मन्यत् ॥ २० ॥

द्वियक्षुष उपधाने मन्त्रौ विधत्ते— “यास्ते अग्ने इति \* । “यास्ते अग्ने सूर्यं रुचो”--“या वो देवाः सूर्यं रुचः”--इत्येताभ्यां † मन्त्राभ्यां द्वियक्षुषं उपदध्यादित्यर्थः । मन्त्रयोः पुनःपुनः रुक्पदप्रयोगस्वाभिप्रायमाह— “रुचं रुचमिति । “अस्मिन्निति , यजमाने इत्यर्थः ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २० ।

† वा० मं० १३. २२, २३ ।

मन्त्रयोस्त्वय मर्थः \*— “हे ‘अग्ने !’ ‘ते’ .तव ‘सूर्ये’  
 सूर्यमण्डले ‘याः’ ‘रुचः’ दीप्तयो ‘रश्मिभिः’ रश्मिरूपेण  
 ‘दिवम्’ ‘मातन्वन्ति’ सर्वतो व्याप्रवन्ति । रात्रौ या  
 अग्नेर्दीप्तयः , ता एव सूर्यादयकाले सूर्यरश्मयो भवन्ति ।  
 एतच्च तैत्तिरीयके अग्निहोत्रब्राह्मणे समान्नातम्— “उद्यन्तं  
 वावादित्य मन्मिरनुसमारोहतीति † । ‘ताभिः’ सर्वाभिर्दीप्तिभिः  
 ‘नः’ अक्षत्सम्बन्धिने ‘जनाय’ यजमानलक्षणाय ‘रुचे’ कृधि  
 प्रकाशं कुरु । ‘रुचे’-इति विभक्त्यत्ययः ‡ , रुच मित्यर्थः ।  
 ‘नस्त्राधीति’ “अतः कृकसीत्यादिना § विसर्जनीयस्य सकारः ॥  
 हे ‘देवाः !’ ‘वः’ युष्माकं सम्बन्धिन्यः सूर्यमण्डले वर्त्तमानाः ‘याः’  
 ‘रुचः’ दीप्तयः सन्ति , तथा ‘गोषु अश्वेषु च ‘याः’ दीप्तयः सन्ति ,  
 ‘ताभिः’ सर्वाभिर्दीप्तिभिः हे ‘इन्द्राग्नी !’ ‘हे बृहस्पते !’ द्वयोऽपि  
 यूयं ‘नः’ अक्षत्सम्बन्धिने यजमानाय ‘रुचं धत्त’ प्रकाशं  
 सम्पादयतु ॥

ननु चायं मन्त्रोऽध्वर्युणा पठ्यते , ततश्च “रुचन्नो  
 धत्तेति लिङ्गेन मन्त्र मुच्चारयितुरध्वर्युरेव तत् फलं युज्यते ;

\* तयोः पाठस्त्वेवम्,—

“यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिव मातन्वन्ति रश्मिभिः ।

ताभिर्नो अद्य सर्वाऽभि रुचे जनाय नस्कृधि ॥ २२ ॥

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।

इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचे न धत्त बृहस्पते ॥ २३ ॥

† तै० ब्रा० २. १. २. १० ।

‡ पा० ३. १. ८५ सू० द्रष्टव्यम् ।

§ पा० सू० ८. ३. ४६ ।

अतो न इति पदं किं मित्युपचरित मिति चेत्, न ;  
यजेतेत्यात्मनेपदश्रुत्या साङ्गप्रधानफलस्य यजमानगामित्वं प्रती-  
यते ; न च परिक्रोतस्त्राध्वयोर्दक्षिणातिरिक्तफलसम्बन्धो न्यायः ।  
तस्मा श्रुतिन्यायाभ्यां विरुद्धं तस्मिन् यजमानपरत्वेनोपचरणीयम् ।  
तस्माद्यजमानेन पात्रेषु “आयुर्दा अन्नेऽस्यायुर्मे देहीत्यादिषु \*  
क्रियमाणानुवादिषु प्रत्यगाशीर्मन्त्रेषु श्रुतं फलं यथा याज-  
मानम्, तथैवाध्वर्युणा पात्रेषु करणमन्त्रेषु श्रुतं मपि फलं  
याजमानं मेव । “इहाम्ना मित्यादिकं पूर्वं व्याख्यातम् । प्रका-  
रान्तरेणापि हित्वं प्रशंसन्ति — “अथो हय मिति । द्विविधं  
रूपं मन्वीति तदुपधानमन्त्रयोरपि हित्वं सुपपद्यत इत्यर्थः ।  
व्याख्यातं सुत्तरं वाक्यम् ॥ २१ ॥

अथ रेतस्त्रिङ्नामधेययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते — “अथ  
रेतस्त्रिचा इति । “लोपः शाकल्यस्व”-इति † वकारलोपः ।  
विहिते-इष्टके. पृथिवीदुलोकात्मना प्रशंसन्ति — “इमो वै लोका-  
वित्यादिना । तत्रानयोर्लोकयोः रेतस्त्रेकत्वप्रतिपिपादयिषयो-  
क्तम् — “इमौ वै लोकाविति । तद्रेतस्त्रेचन मनयोः प्रत्यक्षसिद्धि  
मित्याह — “इमौ द्वेवेति । “इतो वा अथ मित्यादिना । तदेव  
प्रत्यक्षत्वं दर्शयति — ‘अयं’ लोकः ‘इतः’ अस्मात् प्रदेशात्  
धूमलक्षणं ‘रेतः’ सिञ्चति, ‘सः’ धूमः ‘अमुत्र’ द्युलोके वृष्टि-  
र्भवति । वेति स्त्रीलिङ्गं वृष्ट्यपेक्षम् । धूमस्य मेघकारणत्वात्  
तद्वारा वृष्टिकारणत्वाद् धूमो ‘वृष्टिरिति कारणे कार्यलो-

\* वा० सं० ३. १७. २ ।

† पा० ख० ८. ३. १६ ।

पचारः । 'तां' वृष्टिम् 'असौ' भूलोकः 'अमुतः' अमुकान् प्रदेशात् सिञ्चति । तस्मादनयोर्लोकयोर्मध्ये वृष्टिपरिणतान्नद्वारा प्रजाः 'प्रजावन्ते' । श्रूयते हि— "अन्नाद्वा प्रजाः प्रजायन्ते"—इति \* । अन्यत्राप्युक्तम्— "वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"—इति † । "तस्मादिमौ लोकौ रेतस्त्रिचौ ; रेतस्त्रिचोरनयोर्लोकयोः रूपिणानुसन्धानादिवृत्ते अपि रेतस्त्रिचावित्युच्येते ॥ २२ ॥

तत्र प्रथमाया उपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— "विराड् ज्योति रिति ‡ । 'अयं लोकः' पृथिवी 'विराट्'-शब्देनाभिधीयते । 'सः' च 'इमम्' अस्मदादीनां प्रत्यक्ष मग्निरूपं 'ज्योतिर्धारयति' । प्रथमा रेतस्त्रिक् भूलोकात्मिकेत्युक्तम्, तस्मात् प्रथमरेतस्त्रिगात्मको विराड्-शब्दाभिधेयो भूलोकोऽग्निरूपं ज्योतिर्धारयति ॥ "स्वराड् ज्योतिरिति द्वितीयोपधानमन्त्रः § । सोऽप्येव मेव व्याख्येयः ।

अनयोर्लोकयोर्विराट्-स्वराट्-शब्दाभिधेयत्वं मैवोपपादयति— "विराड् च होमाविति । विविधं राजत इति विराट् । स्वयं मेव राजत इति स्वराट् । तयोः पृथक्-पृथक्-मन्त्रेणोपधानं माह— "नानोपदधातीति । यतः 'इमौ लोकौ' 'नाना' पृथग्भूतौ, तस्मात्तदात्मिकयोरिवृत्तकयोरुपधानं पृथक्-पृथक्-मन्त्रेण कर्तव्यं मित्यर्थः । उपधानमन्त्रवत्त्वादनमन्त्रस्यापि

\* ते० आ० उप० ७. २. २ ।

† म० स० ६. ७. ६ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. २२ ।

§ वा० सं० १३. २४० ।

पार्थिव्येन प्राप्तावाह— “सन्नदिति । “तया देवतयाङ्गिरस्वद्  
ध्रुवा सोद”—इत्ययं सादनमन्त्रः \* । त मेकवार मुच्यार्य सादयेत् ।  
न तु प्रतीष्टक मित्यर्थः । तेन तदुपधानं समानं करोति ।  
‘तस्मादनयोर्लोकयोः’ अन्ताः प्राप्ताः ‘समायन्ति’ परस्परं सम्बन्धा  
भवन्ति । अन्तरिक्षभागा हि पृथिवीभागैः सम्बन्ध्यन्त इत्येतत्  
प्रत्यक्षसिद्धमेव ॥ २३ ॥

अथ तदेवेष्टकादय माण्डात्मकेनापि स्तौति— “यद्देवेति ।  
अण्डशब्दात् ‘स्वार्थिकोऽण्’ प्रत्ययः । आण्डाविति पुरुष-  
सम्बन्धिनी वीज उच्यते । “यस्य आण्डौ भवत इत्यादिना  
आण्डयोः रेतस्त्रिंशं प्रतिपादितम् । “विराड् च द्वीमाविति ।  
आण्डयोः प्रजोत्पादनसामर्थ्याद्विराड् च प्रत्यक्षसिद्ध मित्यर्थः ।  
प्रजापतिशब्देन † प्रजोत्पादनं मभिधीयते । रेतसः प्रजापतेश्च प्रजा  
सम्बन्ध इति तत्प्रकाशकत्वाज्ज्योतिश्च मित्यवगन्तव्यम् । “समान-  
सम्बन्धनाविति । एकरूपसम्बन्धनावित्यर्थः । प्रकृतयोरिष्टकयोः  
स्वानविशेषमाह—“ते अनस्तर्हि”—इति ‡ । द्वियजुषोः समीपे  
अश्ववधानेनोपधानं किमर्थं मित्यत आह— “यजमानो वा  
इति ॥ २४ ॥

रेतस्त्रिंशोरुपधानानन्तरं विश्वज्योतिराख्याया इष्टकाया  
उपधानं विधाय, ता मन्वात्मना स्तौति— “अथेति § । अथ-

\* वा० सं० २७. ४५ ।

† ‘प्रजापतिशब्देन’—इति, ‘प्रजापतेश्च’—इति च ह-पुरुषकोटी पाठौ ।

‡ का० श्री० १७. ४. २२ ख० इतिर्द्रष्टव्यः ।

§ का० श्री० ख० १७. ४. २३ ।

माहृषा इव विश्वज्योतिषोऽपि तिस्रो विद्यन्ते, अतोऽच \*  
 प्रथमेति विशेषणम् । अस्मिन् लोके 'भुवि' यत् किञ्चन  
 ज्योतिरस्ति, तत् सर्वं मग्निमय मेवेति । अग्निर्विश्व-  
 ज्योतिरिति तदात्मकत्वेनानुसन्धानादिष्टकापि 'विश्वज्योतिः';  
 अतस्तदुपधाने अग्निं मेवोपहितवान् भवति । विधत्ते—  
 "ता मनन्तर्हिता मिति । 'तां' विश्वज्योतिषं 'रेतस्मिन्' भ्याम्  
 'अनन्तर्हिताम्' अव्यवहितां तत्संस्पर्शेनोपदध्यात् । तथा सति  
 रेतस्मिचोः पृथिवीद्युलोकात्मकत्वात् ताभ्यां मव्यवहितं मेव  
 'अग्निं' दधाति । क्वचित् पार्श्वेऽपि तत्संस्पर्शेनोपधाने अव्यवधानं  
 मुपपद्यत इत्यत आह— "अन्तरेवेति । "अन्तरेव हीति ।  
 "अन्तरा इवेति पदविभागः । इवशब्द एवकारार्थः । "अन्त-  
 रान्तरेच युक्ते"—इत्यनेन † इमाविति द्वितीया । अनयोर्लोकयो-  
 र्मध्ये पृथिव्या उपरि अन्तरिक्षे खल्वग्निः प्रकाशते ; तस्मात्  
 मध्यत उपधानम् ॥ २५ ॥

अथैता मिष्टकां प्रजात्मना प्रशंसति— "यद्देवेति । 'प्रजा  
 हि विश्वज्योतिः' यतः प्रजा ज्ञानशक्त्या सर्वान् पदार्थान्  
 प्रकाशयति, तस्मात् प्रजा विश्वज्योतिरित्येतदपरोक्षम् ; अतः  
 प्रजा विश्वज्योतिः । तथा सति एतदिष्टकोपधानेन प्रजननं  
 प्रजोत्पादनं मेवोपहितवान् भवति । प्रजायाः प्रजोत्पादनस्य  
 च कार्यकारणभावादभेदविवक्षयैव युक्तम् । रेतस्मिचोराण्डत्वाद्,  
 विश्वज्योतिषश्च प्रजात्वात्, ताभ्यां मव्यवहितत्वेन मध्यत

\* 'अतोऽच'—इत्येतदस्ति ऊ-पुस्तके ।

† पा० सू० २. ३. ४ ।



उपधाने प्रजोत्पादनं सेवाख्योर्निर्द्दिष्टं भवतीति दर्शयति— “ता मन्तर्हिता मिति । “अन्तरेव ज्ञाणाविति । आख्योर्मध्यतः \* एव रेतोनिर्गमनहारत्वात्, तत एव ‘प्रजाः प्रजायन्ते’ ॥ २६ ॥

अथ तस्मिन्नुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “प्रजापति-  
द्वेत्वादिना † । यतः ‘प्रजापतिरेतां प्रथमां चिति मपश्यत्’,  
अतः प्रथमां विश्वज्योतिषं “प्रजापतिद्वा सादयत्”—इति ‡ मन्त्रेण  
उपदध्यादित्यर्थः । “पृष्ठे ज्ञाय मिति । ‘पृथिव्यै’—इति, षष्ठ्यर्थे  
चतुर्थी § । यतश्च पृथिव्याः ‘पृष्ठे’ उपरि ‘अग्निज्योतिषान्’ विश्व-  
ज्योतिषान्मिरित्युक्तम्— “अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योति रिति || ;  
अतः “पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिषतीम्”—इति ¶ मन्त्रवचनम् ॥ २६ ॥

“प्राणो वा इति । विद्यमाने एव प्राणे सर्वेषा मिन्द्रियाणां  
स्व-स्व-विषयप्रकाशकत्वात् प्राणस्य विश्वज्योतिषम् । “सर्वस्मा उ  
वा एतस्मै”—इति । सर्वस्य स्वस्वेतस्य लोकस्य । पूर्ववच्चतुर्थी \*\* ।  
प्राणः आशास्त्रो †† भवतीति शेषः । अपानो व्यानश्चेति प्राण  
एव वृत्तिभेदभिन्नः ; प्राणस्य विश्वज्योतिषात् । ‘विश्वस्मै’ सर्वस्य  
लोकस्य प्राणादिस्वर्याद्यं तवोपधान मिति मन्त्रभाग आह । “सर्वं  
ज्योतिरिति विश्वशब्दार्थविवरणम् । “अग्निष्टेऽधिपतिरिति”—

\* ‘आख्योर्मध्ये’—इति छ ।

† का० श्री० छ० १७. ४. २१ ।

‡, § वा० सं० १३. २४. १ ।

§, \*\* पा० छ० १. ३. ६२. वा० १ ।

|| इहेव पुरस्तात् २५ कञ्जी ( १८७ पृ० ) दृष्टया ।

†† ‘आश्रयो’—इति ज ।

एतन्मन्त्रभागकथनेन 'अग्नि मेव' 'अस्याः' विश्वज्योतिषः 'अधि-  
पतिं करोति' ।

हे विश्वज्योतिः ! पृथिव्याः पृष्ठे 'ज्योतिषती' ज्योतिषा  
युक्तां त्वां 'प्रजापतिः' 'सादयतु' स्थापयतु । किमर्थं मिति  
तत्राह— 'विश्वस्यै' विश्वस्य, सर्वस्य लोकस्य 'प्राणाय अपानाय  
व्यानाय' प्राणादिष्व्यापारार्थम् । किञ्च 'विश्वं' समस्तं 'ज्योतिः'  
तेजो 'यच्छ' नियच्छ, अस्मादायत्तं कुरु । 'ते' तव 'अग्निः अधि-  
पतिः', अतः स त्वां 'परेभ्यो भोपायस्त्विति, कृत्स्नमन्त्रार्थः ॥ २८ ॥

अथ ऋतव्याख्ययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते— "अथेति \* ।  
'ऋतव्ये'—इति "वाङ्मृतुपितृषसो यत्"—इति † देवतार्थे यत्  
प्रत्ययः । "यच्च भम्"—इति ‡ भसञ्ज्ञायाम् "भोर्गुणः"—इति §  
गुणः, "वान्तो यिप्रत्यये"—इति ॥ अवादेशः । ऋतुदेवत्येष्टको  
पधानेन ऋतूनां भवोपधानं भवतीत्याह— "ऋतव एत इति ।

ऋतव्ययोरुपधाने मन्त्रं विधाय ॥ व्याचष्टे— "मधुञ्चेति \*\* ।  
मधुमाधवशब्दाभ्यां चैत्रवैशाखावुच्येते । "वासन्तिकाविति, "वस-  
न्ताश्च"—इति †† ठञ्-प्रत्ययः । ऋतुशब्दो मासद्वये मुख्यः, अथ

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २४ ।

† पा० सू० ४. २. ३१ ।

‡ पा० सू० १. ४. १८ ।

§ पा० सू० ६. ४. १४६ ।

॥ पा० सू० ६. १. ७६ ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. २५ ।

\*\* वा० सं १३. २५ ।

†† पा० सू० ४. ३. ६० ।

तदवयवभूते मासे उपचाराद् वर्त्तते । मधुश्च माधवश्चेत्येतौ वसन्त-  
सम्बन्धिनौ 'ऋतू' मासौ ; अतश्च तद्देवत्यत्वेन तदात्मिके वा  
मुपदधामि इत्यर्थः । "नामनी"-इत्यादिना मधुमाधवशब्दो-  
पयोगं दर्शयति । ननु स्वयमाह्व्यादिवदेकैकस्या इष्टकाया  
उपधानं विज्ञाय, किं मिति ह्योरुपधानं मिति तत्राह— "हे  
इष्टके इति । इष्टकयोर्द्वित्वेऽपि सकृन्नादनेनैक मेव ऋतुं  
सम्पादयतीत्याह— "सकृदिति ॥ २८ ॥

प्रथमायां चितौ तदुपधानस्य कारणं माह— "तद्यदित्या-  
दिना । 'एते' ऋतव्ये 'अथ' प्रथमायां चितौ 'उपदधाति'-इति  
यत्, तन्न कारणं मुच्यते— 'एषः' चीयमानः 'अग्निः' 'संवत्सरः'  
संवत्सरात्मकः । अग्नेः संवत्सरात्मकत्वं संवत्सरं सुखायां सम्भृत्यो-  
त्पादनीयत्वाद् । चीयमानस्त्वग्नेः प्रजापतिरूपत्वं प्रागुक्तम्—  
"स यः प्रजापतिर्व्यस्त्रंसत, अयं मेव स योऽयं मन्त्रिणीयत  
इति \* । 'सः' प्रजापतिः सर्वलोककारणत्वेन तदात्मकः । "संव-  
त्सर एषोऽग्निरिति । तस्य संवत्सरात्मकत्वोक्तेः संवत्सरः 'इमे  
लोकाः' खलु । "तस्येति । 'तस्य' संवत्सरान्निसर्वलोकामकस्य  
प्रजापतेः । 'अयं मेव लोकः' पृथिवी । प्रथमा चितिः, वसन्त  
ऋतुश्च, प्राथम्यसादृश्याद् 'अस्य' संवत्सरात्मकस्य 'प्रजापतेः' अव-  
यवभूतः 'अयं' लोकः ; अतश्चात्र प्रथमायां चितौ 'एते' ऋतव्ये  
वसन्तर्तुदेवत्यत्वेन तदात्मिके, उपदधातीति यत्, तेन यदेव  
'अस्य' प्रजापतेः 'आत्मनः' स्वस्य 'एतद्' इष्टकाद्यलक्षणं

यदङ्ग मस्ति, तद् 'अस्मिन्' अवयवे प्रथमचितिलक्षणे 'एतत्' एतेन पुनः 'प्रतिदधाति' \* ; तस्मादेते प्रथमायां चित्तावुप-  
दध्यात् ॥ ३० ॥

अथ पुनस्ते एव ऋतव्ये प्रजापतेः प्रतिष्ठात्मनापि स्तौति—  
“यदेवेति इति । “प्रतिष्ठो अस्य वसन्त ऋतुरिति । ‘प्रतिष्ठा  
उ’ इति पदविभागः । “आहुणः” †, उकारस्य “निपात एका-  
जनाङ्”—इति ‡ प्रगृह्यसञ्ज्ञायाम् “भूतः प्रगृह्या अचि”—इति §  
प्रकृतिभावात् “प्रतिष्ठो अस्थेति । “एङ्; पदान्तादिति”—इति ॥  
पररूपत्वं न भवति । वसन्तर्त्तौः संवत्सरप्रथमावयवत्वात् प्रति-  
ष्ठात्वम् । यच्चावयवे प्रतितिष्ठति, सा प्रतिष्ठा । यथा पुरुषः  
पदयोः प्रतितिष्ठति, तद्वत् संवत्सरोऽपि वसन्तर्त्तौ प्रतितिष्ठति ।  
प्रथमायाश्चित्सु उत्तरचितिलक्षणान् प्रजापतेरवयवान् प्रत्या-  
धारत्वात् प्रतिष्ठात्वम् ; अतश्च प्रथमायां चितौ प्रकृतयो-  
रिष्टकयोरुपधाने प्रजापतेः स्वस्य वसन्तर्त्तुदेवत्वत्वेन तदात्मकै-  
तदिष्टकादयलक्षणं यत् प्रतिष्ठारूप मङ्ग मस्ति, तदस्मिन्नेतेन  
प्रतिनिहितवान् भवतीत्यर्थः ॥

अथानयोरिष्टकयोरुपधानस्य स्थानविशेषं विधाय प्रशं-  
सति— “ते अनन्तर्हिते इति । “अनन्तर्हितास्तदिति । ‘तत्’

\* ‘प्रदधाति’—इति ज ।

† पा० सु० ६. १. ८७ ।

‡ पा० सु० १. १. १४ ।

§ पा० सु० ६. १. २५ ।

॥ पा० सू० ६. १. १०६ ।

तेन 'प्रजाः' 'ऋतुभ्यः' 'अनन्तर्हिताः' अव्यवहिताः 'दधाति',  
 ऋतुषु प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः । तदेव दर्शयति— "तस्मादिति ।  
 यत एव तस्मात् 'प्रजाः' 'ऋतुभ्यः' अभिलक्ष्य 'प्रजायन्ते' 'गर्भे'  
 सन्तं' 'गर्भेऽपि विद्यमानं' 'जन्तुम्' ऋतुभिर्ज्ञेयं 'सम्पश्यन्ति' ।  
 ऋतूनां कालात्मकत्वात्, कालस्य च सदातनत्वेन सर्वोत्पत्ति-  
 मन्निमित्तत्वाद्, अजातावस्था, जायमानावस्था, जातावस्था  
 च तत्रैव सम्पद्यन्त इति भावः ॥ ११ ॥

विधत्ते— "अथेति \* । 'अथ' ऋतुष्वेष्टकोपधानानन्तरम्,  
 अषाढाभिधा मिष्टका सुपदध्यात् । अषाढायाः सृज्येष्टकात्वात्  
 तदुपधाने पृथिव्युपधानं मेव सम्पादितम् भवतीत्याह— "इयं  
 वा इति । तस्या अषाढाया उपधानम् चयनस्थलस्य पूर्वभागे  
 कर्त्तव्यं मित्याह— "तां पूर्वाहं इति । ननु किमर्थं मखाः  
 पूर्वाहं उपधानं मिति तत्राह— "प्रथमेति । 'इयम्' अषाढा,  
 उल्हायाः 'प्रथमा' पूर्वा 'असृज्यत' खलु ॥ १२ ॥

प्रज्ञताया इष्टकायाः अषाढेतिनामधेयप्राप्तिप्रदर्शनपूर्वकं सुप-  
 धानोपयोगं दर्शयति— "सा यदषाढा नामेत्यादिना । पुरा खलु  
 'देवाद्यासुराश्च' 'प्राजापत्याः' प्रजापतेरपत्यभूताः । पत्युत्तरपदत्वाद्  
 "दित्वादित्वेत्यादिना † अपत्यार्थे स्त्र-प्रत्ययः । 'ते' एते उभये  
 ऽपि अर्वा मकुर्वन् । ततः 'ते देवाः' केनोपायेनासुरान् जयेमिति  
 विचार्य, 'एताम्' अषाढाभिधाम् 'इष्टकां' तदुपायत्वेन 'अप-  
 स्यन्' । इष्टा च 'ता मिसाम्' इष्टका सुपद्विजयन्तः । ततः 'ता

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २५ ।

† पा० सू० ४. १. ८५ ।

मुपधाय 'असुरान्' 'सपन्नान्' वैरिणः, 'भ्रातृव्यान्'-इति सपन्न-  
शब्दार्थविवरणम् । भ्रातृशब्दाद् "अन् सपन्ने"-इति \* सपन्नार्थे  
अनो विधानात् । तानसुरान् 'अस्मात् सर्वस्मात्' स्थानाद् 'अस-  
हन्त' निराकुर्वन्, यथैषु लोकेषु अवस्थानं न लभन्ते, तथा पर्यबी-  
भवन्नित्यर्थः । यत एतया असुरानसहन्त, 'तस्मादषाढा'-इति  
नामवेयम् । अत्रासुराणां सहनकथनेन स्वेष्टा मसहन् मर्थतः  
प्राप्तम् ; अतश्चेतस्या इष्टकायाः स्वेष्टा मसहन् प्रत्यपि कारण-  
त्वादसहनसाधनत्वेनाषाढेत्युच्यते । "साव्यै साढा साढेति निगमः"  
-इति † 'साढा'-शब्दो निपातितः, ततो नञ्समासः, व्यत्ययेन  
मूर्धन्यादेशः । "तथैवेतदिति । यथैव देवा अषाढा मुपधाय  
असुराभिराकुर्वन्, 'तथैव' 'यजमान एता मुपधाय' 'द्विषन्तम्'  
इषं कुर्वन्तम्, 'भ्रातृव्यम्' अस्मात् सर्वस्मात् 'प्रदेशाभिरा-  
कुर्वते' ॥ ३१ ॥

अथैता मेवेष्टकां वागात्मनापि प्रशंसति ‡—"यद्देवेति । "वा-  
चैव तद्देवाः"-इत्यादिना अषाढाया वाग्रूपत्वं § प्रतिपाद्यते । यतो  
देवा निर्भर्त्तनादिविशिष्टया 'वाचैव' 'असुरानसहन्त', तस्माच्चिरा-  
करणसाधनत्वसाधर्म्यादषाढा वाक् खल्वित्यर्थः । "तथैवेति ।  
यतो देवाः वाचा असुरान् असहन्त, ततो देववदेव 'यज-  
मानः' अपि 'वाचैव' द्विषन्तं भ्रातृव्य मस्मात् सर्वस्मात् सहन्ते ।

\* पा० छ० ४. १. १४५ ।

† पा० छ० ६. ३. ११३ ।

‡ 'प्रशंसति'-इति छ ।

§ 'वाग्रूपाषाढयोक्तं'-इति छ ।

यतः अवरटा उक्तन्यायेन वागात्मिका , अत एतेन अषाढो-  
पधानेन 'वाच मेव उपादधत देवाः', 'तथैव' 'यजमानः'  
'वाच मेवोपधत्ते' ॥ ३४ ॥

यदुक्तं मियं वा अषाढेत्यषाढायाः पृथिव्यात्मकत्वम् \* ,  
तदुपजीव्यास्या अषाढाया इष्टकायाः 'वामभृत्'-सञ्ज्ञाप्राप्तिं  
दर्शयति— "सेय मिति । 'वामं' वननीयं वस्तु ; 'प्राणाः'  
सर्वेराशस्त्रमानत्वात् 'वामं' वस्तु । 'यत् किञ्च' 'प्राणीयं'  
प्राणवत् अर्थजातं मस्ति , 'तत् सर्वम्' 'इयं' पृथिवी 'विभर्ति'  
लुलु । अतश्च वामशब्देन प्राणानां मभिधानात् , प्राणानां तद्वतां  
आभेदविवक्षया 'इयं' पृथिवी 'वामभृत्'-सञ्ज्ञेति तदात्मिका-  
प्यषाढा वामभृत्-सञ्ज्ञेत्यर्थः । "वाग्वा अषाढेति यदुक्तं वागा-  
त्मत्वकम् † , तदप्युपजीव्येतत्सञ्ज्ञालाभं म.ह— "वाग्घ  
त्वेवेति । "वाचि वा"-इत्यत्र वाक्शब्देन वागिन्द्रियस्थानं  
मुखं लक्ष्यते , प्राणानुविधायित्वात् प्राणशब्देन च ओम्नादीनी-  
न्द्रियाणि , प्राणेश्वोऽर्थे वाचि मुखे अन्नं 'धीयते' निधीयते ।  
"तस्माद् वाग्वामभृदिति । तदात्मिकाषाढापि वामभृदित्य-  
भिधीयते ॥ ३५ ॥

सेय मित्यादिनोक्तप्रकारेण निष्पन्नं मर्थं माह— "त एत  
इति । सेय मित्यादिना अषाढाया आधिभौतिकप्राणात्मकत्व  
मुक्तम् , वाग्घ त्वेवेत्यादिना तु आध्यात्मिकप्राणात्मकत्वम् ।  
ततश्च अषाढेति यदेवा , 'ते सर्वे प्राणाः' आध्यात्मिकत्वा-

\* इहैव परस्तात् ३२ कण्ठी ( १८६ पृ० ) दृष्टम् ।

† पुरस्तात् ३४ कण्ठी ( १८६ पृ० ) दृष्टम् ।

धिभौतिकत्वादिभेदेनोभयविधा अपि प्राणा इत्यर्थः । \* 'त एते'  
-इति 'प्राणाः'-इत्येतदपेक्षया लिङ्गवचने । उक्त मृषाढाया  
उभयविधप्राणात्मकत्वमुपजीव्य, तस्याः पूर्वभागे उपधान  
मुपपादयति— "तां पूर्वाहं इति । 'तस्मादिति । 'पुरस्तात्'  
पूर्वभागे इत्यर्थः । "इमे"-इति अभिनयेन निर्देशः । 'तस्मात्'  
पूर्वाहं उपधानात् मुखे 'इमे प्राणाः' अवतिष्ठन्त इति शेषः ।  
अषाढायाः पूर्वभागे मन्त्रवत्या इष्टकाया उपधानं निवारयति  
— "तां नान्ययेति । 'पुरस्तात्' 'ताम्' मृषाढां 'प्रति' 'अन्यया'  
मन्त्रवत्या इष्टकयोपधानं 'न' सम्पादयेत् । 'एतस्यां चित्ता-  
विति । तत्र हेतुरुच्यते— "नेदिति, निपातः परिभये  
वर्त्तते \* । अषाढायाः प्राणात्मकत्वाद् एतस्यां प्रथमायां चित्तौ  
तस्याः पुरस्तात् मन्त्रवदिष्टकोपधाने तदव्यवधानात् 'प्राणान्'  
एव अपिहितवान् भवतीति परिभयेन नोपदध्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

ननु यदि समन्त्रकाणां मिष्टकानां मुपधाने प्राणापिधानम्,  
तर्हि अपस्यानां मन्त्रविशिष्टानां मिष्टकानां मुपधानेन तत्  
कक्षात् भवतीत्यत आह— "यदपस्या इति । अपस्यानां  
मन्त्रात्मकत्वं तद्विधायकब्राह्मणेऽभिधास्यते † । आपस्यानात्मिकाः;  
तत्कारणत्वात् । अत्रेव तु प्राणानां मुपधानं न सम्भवति;  
अन्वोपजीवित्वात् प्राणानाम् । अतश्चात्मात्मकत्वादपस्यानां  
समन्त्रकाणां मय्युपधानं न विरुध्यत इति भावः । अथ तस्या  
उपधानं सूतश्चयोः समीपे विधाय स्वीति— "ता मनन्तर्हिता

\* "नेति एष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये" — इति निरु० १. ३. ४ ।

† इहैवोपरिष्ठाद् पञ्चमे ब्राह्मणे १०० कण्डिकायां द्रष्टव्यं भविष्यति ।



मिति । 'स्येयं वाच्यतु प्रतिष्ठिता वदतीति । ऋतुव्यवस्थितेषु प्राणिषु प्रतिष्ठिता वदतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

“प्रजा वै विश्वज्योतिरिति विश्वज्योतिषः प्रजात्व सुक्तम् ,  
“वाक्वा अषाढेति अषाढाया वाक्वा प्रतिपादितम् , ततश्च विश्व-  
ज्योतिषः समीपे अषाढाया उपधाने सति प्रजासु वाशुपहिता  
भवति ; तदक्त्वा तयोर्मध्ये किमर्थं ऋतव्ययोरुपधानं कृतं  
मित्याशङ्क्य तत्कारणं माह— “तदाहु रिति । “संवत्सरो वा  
ऋतव्ये इति । “ऋतव एते यदृतव्ये इति ऋतव्ययोः ऋत्वात्म-  
कत्वात् , सम्भूय सर्वेषां सृत्वां संवत्सरात्मकत्वात् , ऋतव्ये  
संवत्सरः । ततश्च ऋतव्ययोरन्तरोपधाने संवत्सरेण प्रजाभ्यो वाचं  
व्यवहृतां करोति । ‘तस्मात्’ इदानीं सुत्यप्तेरुपरि ‘संवत्सरवेलायां’  
संवत्सरं गते सति पश्चात् ‘प्रजाः वाचं प्रवदन्ति’ ॥ ३८ ॥

प्रकृताया इष्टकाया उपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—  
अषाढासीत्वादिना \* । यतो ‘देवाः’ ‘एतया’ इष्टकया ‘असुरान्’  
‘सहस्रन्त’ निराकुर्वन् ; अतः सहस्रसाधनत्वाद् “अषाढासीति  
मन्त्रं आह । “सहस्रवीर्यासीत्यत्र सहस्रशब्देनापरिमितसङ्ख्या  
विवक्षितेति दर्शयति— “सर्वे वै सहस्र मिति । हे  
इष्टके ! त्वं ‘सहस्रानां’ असुराणां निराकर्त्री ; अतो नाम्ना अषा-  
ढासि । तस्मात् ‘अरातीः’ अदानशीलान् (अपून् †) ‘सहस्र’  
परिभावय । किञ्च ये पूर्वं विरोधिना न भवन्ति , इतः परम्  
‘दुतनां’ सङ्ग्रामं मिच्छन्ति , ते ‘दुतनायकः’ । दुतनाशब्दा-

\* वा० शं० १३. १६ ।

† नास्म्येतत् परं उ-पुस्तके ।

दाकारलोपाभावश्चाहसः । तानपि परिभाषय । किञ्च त्वं  
'सहस्रवीर्यासि' अपरिमितवीर्यविशिष्टा \* भवसि । अनेन शत्रु-  
निराकरणसामर्थ्यं सुपपादितम् भवति । तादृशी 'सा' मां 'जिन्व'  
प्रीणीहीति मन्त्रार्थः ॥ ३८ ॥

अथ दूर्वेष्टकादीनां स्वयमादृशायाः प्राग्भागे उपधाने  
कारणं माह— “तदाहुरिति । ‘अभि स्वयमादृशाम्’ अभिलक्ष्य,  
स्वयमादृशाया उपरि भागे इत्यर्थः । “लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये”  
—इत्यव्ययीभावसमासः † । ‘अन्या इष्टकाः’ उपरि वक्ष्यमाणाः  
‘उपधीयन्ते’ ‘एताः’ दूर्वेष्टकादयस्तस्याः ‘प्राच्य उपधीयन्ते’—  
इति यदस्ति, तद्योत्तरं माह— “हे वै योनी” —इति । ‘देवयोनिः’  
‘अन्यः’, ‘मनुष्ययोनिः अन्यः’, इति यदुक्तं मन्वत्त्वम्, तदाह—  
“प्राचीनेति । ‘प्राचीने भागे’ पूर्वभागे ‘प्रजननम्’ उत्पत्तिः,  
तत्कारणं वा येषां ते तद्योक्ताः ; ‘मनुष्याः’ तु ‘प्रतीचीनप्रजननाः’  
ततश्च ‘एताः’ इष्टकाः स्वयमादृशायाः ‘प्राचीः’ प्रागपवर्गाः  
‘उपदधाति’—इति यत्, तेन ‘देवयोनिरेव’ ‘एतत्’ एनं ‘यज-  
मानम्’ ‘प्रजनयति’ उत्पादयति । दूर्वेष्टकादीनां सुत्तरोत्तर-  
पूर्वभावेन उपधानं कात्यायनेनोक्तम्— “पूर्वाम्-पूर्वा सुत्त-  
राम्”—इति ‡ ॥ ४० ॥ २ [४. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थोऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘अपरिमितसङ्गाकवीर्यविशिष्टा’—इति क ।

† पा० छ० २. १. १४.

‡ का० औ० छ० १७. ४. १६ ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो ह्यार्धं निवारयन् ।

सुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूर्वौ स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्दीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नोक्तां रुक्मवाजिदिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ ,  
व्यश्राणोद्दिश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजम्बा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।  
आज्योत्थं प्राज्यजम्बा लवणज मन्त्रणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मङ्गत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्नाज्यधुरन्धरेण

सग्यणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे तृतीयप्रपाठकश्च समाप्तः † ॥

\* अथत्वाष्टीप्यन्वः पञ्चमकाण्डोयद्वितीयाध्यायीन्ते द्रष्टव्याः ।

† अथ ३ ब्रा० ४५ क० , २ ब्रा० ४० क ; सङ्कलयनयाञ्च  
तृतीयप्रपाठकोयदयोर्माङ्गणयोः ८५ कण्डिकाः श्रुता इति ।

अथ

चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

कूर्मं मुपदधाति । रसो वै कूर्मीं रस मेवैतदु-  
पदधाति यो वै स एषां लोकानां मसु प्रविद्धानां  
पराङ्मसोऽत्यक्षरत्स एष कूर्मस्तु मेवैतदुपधाति या-  
वानु वै रसस्तावानात्मा स एष इमऽएव लोकाः \*  
॥ १ ॥

तस्य यदधरं कपालम् । अयं स लोकस्तत्  
प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकोऽथ  
यदुत्तरं सा दौस्तद्वावगृहीतान्त मिव भवति  
व्यवगृहीतान्तेव हि दौरथं यदन्तरा तदन्तरिक्षं

स एष इमऽएव लोका इमानेवैतन्नोकानुपदधाति

॥ २ ॥

तु मभ्यनक्ति । दध्ना मधुना घृतेन दधि हैवास्य  
लोकस्य रूपं घृतं मन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैन-  
मेतद्रूपेण समर्हयत्यथो दधि हैवास्य लोकस्य रसो  
घृतं मन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैन मेतद्रूपेण समर्ह-  
यति \* ॥ ३ ॥

मधु ज्वाता ऋतायत ऽवृत्ति । यां वै देवता मृग-  
भ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सऽक्सो देवता तद्य-  
जुस्तद्वैतन्मज्जैवेषु त्रिचो रसो वै मधु रस मेवा-  
स्मिन्नैतद्वधाति गायत्रीभिस्त्रिभिस्तस्योक्तो बन्धुः  
॥ ४ ॥

स यत् कूर्मी नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजा-  
पतिः प्रजां असृजत यदसृजताकरोत्तद्वदकरोत्  
तस्मात् कूर्मः काश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः  
प्रजाः काश्यप्य इति ॥ ५ ॥

स यः स कूर्मोऽसौ स षादित्यः । अमु मेवै-  
तदादित्य मुपदधाति तं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मुपदधा-  
त्यमुं तदादित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं दधाति तस्माद-  
सावादित्यः पुरस्तात् प्रत्यङ् धीयते दक्षिणतोऽषा-  
ढायै वृषा वै कूर्मो योषाषाढा दक्षिणतो वै वृषा  
योषा मुपशेतेऽरन्निमात्रेऽरन्निमात्राच्च वृषा योषा  
मुपशेते सैषा सर्वासा मिष्टकानां मृष्टिषी यदृषाढै-  
तस्यै दक्षिणतः सन्त्सर्वासा मिष्टकानां दक्षिणतो  
भवति ॥ ६ ॥

यदेव कूर्म मुपदधाति । प्राणो वै कूर्मः प्राणो  
हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति प्राण मेवैतदुपदधाति  
तं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मुपदधाति पुरस्तात्तत् प्रत्यञ्चं  
प्राणं दधाति तस्मात् पुरस्तात् प्रत्यङ् प्राणो धीयते  
पुरुष मभ्यावृत्तं यजमाने तत् प्राणं दधाति दक्षि-  
णतोऽषाढायै प्राणो वै कूर्मो व्यागृषाढा प्राणो वै  
व्याघ्रो वृषा प्राणो मिथुनम् ॥ ७ ॥

अपां गुक्षगत्सीदेति । एतद्वापां गृक्षिष्ठं यज्ञेषु  
एतत्तपति मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन् माम्निर्वैश्वानर

इति मेव त्वा सूर्यो हिंसीन् मो ऽग्निर्वैश्वानर  
 इत्येतदुच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेतीमा वै स्रुवाः  
 प्रजा या इमा इष्टकास्ता अरिष्टा अनार्ता अनु-  
 वीक्षस्वेत्येतदनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचता मिति  
 यथैवेन दिव्या वृष्टिरनुसचेतैव मेतदाह ॥ ८ ॥

अथैन मेजयति । चीनसमुद्रान्समसृपत्  
 स्वर्गानिती मे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकास्तानेषु  
 कूर्मा भूत्वानुसृससर्पापां पतिर्वृषभ इष्टकाना  
 मित्यपां द्वेष पतिर्वृषभ इष्टकानां पुरीषं  
 व्यसानः सुकृतस्य लोक इति पशवो वै पुरीषं  
 पशून् व्यसानः सुकृतस्य लोक इत्येतत् तत्र गच्छ  
 यत्र पूर्वे परेता इति तत्र गच्छ यत्रैतेन पूर्वे  
 कर्मण्येयुरित्येतत् ॥ ९ ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इति । महती द्यौः  
 पृथिवी च न इत्येतदिमं यज्ञं मिमिक्षता मितिमं  
 यज्ञं मयता मित्येतत्पृतां नो भरीमभिरिति  
 बिभृतां नो भरीमभिरित्येतद् द्यावापृथिव्ययोस्तमयो-  
 पदधाति द्यावपृथिव्यो हि कूर्माः ॥ १० ॥

त्रिभिरुपदधाति । वय इमे लोका अथो विष्टु-  
 दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावतैवैन मितदुप-  
 दधाति त्रिभिरभ्यनक्ति तत् षट् तस्योक्तो बभ्रु-  
 रवका अधस्ताङ्गवन्त्यवका उपरिष्ठादापो वा अश्रवका  
 अपा मेवैन मेतन्मध्यतो दधाति सादयित्वा सुद-  
 दोहसाधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः ॥ ११ ॥

अथोलूखलमुसले ऽउपदधाति । विष्णुरका-  
 मयतान्नादुः स्या मिति सु एते ऽदृष्टके ऽअपश्यदुलू-  
 खलमुसले ते ऽउपाधत्त ते ऽउपधायान्नादो ऽभवत्तथै-  
 वैतद्यजमानो यदुलूखलमुसले ऽउपदधाति येन  
 रूपेण यत् कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्तेन रूपेण  
 तत् कर्म कृत्वान्नादोऽसानौति तदेतत्सर्वं मन्त्रं यदु-  
 लूखलमुसले ऽउलूखलमुसलाभ्यां ऽश्वेवाहं क्रियत  
 ऽउलूखलमुसलाभ्या मदाते \* ॥ १२ ॥

ते रेतस्त्रिचोर्ध्वेलयोपदधाति । पृष्ठयो वै रेतः-  
 सिधौ मध्यं मु पृष्ठयो मध्यतं एवास्मिन्नेतदन्नं दधा-

\* 'मदाते'—इति च, न ।



अतरे ऽउत्तर मेवास्मादेतदुन्नं दधात्यरन्निमात्रे ऽरन्नि-  
मात्राद्यान्न मदाते ॥ १३ ॥

प्रादेशमात्रे भवतः । प्रादेशमात्रो वै गर्भी  
व्यिशुरन्न मेतदात्मसम्भित मेवास्मिन्नेतदुन्नं दधाति  
यदु वा ऽपात्मसम्भित मन्नं तदवति तन्न हिनस्ति  
यद्भूयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति ॥ १४ ॥

औदुम्बरे भवतः । जग्वै रस उदुम्बर ऊर्ज्य  
मेवास्मिन्नेतद्रसं दधात्यथो सर्ज्य ऽएते व्यनस्पतयो  
यदुदुम्बर एते ऽउपदधत् सर्वान् व्यनस्पतीनुपद-  
धाति रेतस्त्रिचोर्व्यलयेमे वै रेतस्त्रिचावनयोस्तद्वन-  
स्पतीन् दधाति तस्मादनयोर्व्यनस्पतयश्चतुःसक्ति  
भवति चतस्रो वै दिशः सर्वासु तद्दिक्षु व्यन-  
स्पतीन् दधाति तस्मात् सर्वासु दिक्षु व्यनस्पतयो  
मध्ये सङ्गृहीतं भवत्यलूखलरूपतायै ॥ १५ ॥

यद्देवोलूखलमुसले ऽउपदधाति । प्रजापते-  
र्विचक्षात् प्राणो मध्यत उदचिक्रमिषत् मन्नेना-  
यज्ञात् तस्मात् प्राणो ऽग्नेन गृहीतो यो ह्येवान्न  
मति स प्राचिति ॥ १६ ॥

प्राचे गृहीते ऽस्मादन्नमुदचिन्न मिषत्तत् प्राचेना-  
गृह्णात् तस्मात् प्राचेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति  
सोऽन्न मत्ति ॥ १७ ॥

एतयोरुभयोर्गृहीतयोः । अस्मादूर्गुदचिन्नमि-  
षत्ता मेताभ्या मुभाभ्या मगृह्णात् तस्मादेताभ्या  
मुभाभ्यामूर्गं गृहीता यो ह्यैवान्न मत्ति स प्राणिति त  
मूर्जयति ॥ १८ ॥

जर्जि गृहीतायाम् । अस्मादेते ऽउभे ऽउदचिन्न-  
मिषतां ते ऽजर्जिगृह्णात् तस्मादेते ऽउभे जर्जि  
गृहीते यः ह्येवोर्जयति स प्राणिति सोऽन्न मत्ति  
॥ १९ ॥

तान्येतान्यन्योऽन्येन गृहीतानि । तान्यन्यो-  
ऽन्येन गृहीत्वात्मन् प्रापादयत तदेतदन्नं प्रपद्य-  
मानः स सर्व्वं देवा अनुप्रापयन्तान्नजीवनं णीदः  
सर्व्वम् ॥ २० ॥

तदेष श्लोकोऽव्युक्तः । तद्वै स प्राणो ऽभव-  
दिति तच्च स प्राणो ऽभवन् महा भूत्वा \* प्रजापति-

रिति महान् हि स तद् भवद्यदेन मेतु देवाः  
 प्रापद्यन्त भुजो भुजिष्या वित्वेति प्राणा वै भुजो  
 ऽन्नं भुजिष्या एतत् सर्वं वित्वेत्येतद्यत् प्राणान्  
 प्राणयत् पुरीत्यात्मा वै पूर्यद् वै प्राणान् प्राणयत्  
 तस्मात् प्राणा देवा अथ यत् प्रजापतिः प्राणयत्  
 तस्माद् प्रजापतिः प्राणो यो वै स प्राण एषा सा  
 गायत्र्यथ यत् तदन्न मेष स त्रिणुर्देवताथ या सो  
 ऽर्गेष सु उदुम्बरः \* ॥ २१ ॥

सो ऽब्रवीत् । अयं व्याव मा सर्वस्मात् पाप्मन  
 उदभार्षीदिति यद्ब्रवीदुदभार्षीन्मेति तस्मादुदुम्बर  
 उदुम्बरो ह वै त मुदुम्बर इत्याचक्षते परोऽक्षम्परोऽक्ष-  
 कामा हि देवा उरु मे करदिति तस्मादुरुकर  
 मुरुकरः ह वै तदुलूखल मित्याचक्षते परोऽक्षम्परो-  
 ऽक्षकामा हि देवाः सैषा सर्वेषां प्राणानां योनि-  
 र्यदुलूखलः शिरो वै प्राणानां योनिः ॥ २२ ॥

तत् प्रादेशमात्रं भवति । प्रादेशमात्रं मिव

हि शिरश्चतुःस्रस्ति भवति चतुःस्रस्तौव हि शिरो  
मध्ये सङ्गृहीतं भवति मध्ये सङ्गृहीतं मिष हि  
शिरः ॥ २३ ॥

तं युच देवाः समस्कुर्वन् तदस्मिन्नेतत् सर्व्वं  
मध्यतो ऽदधुः प्राण मन्त्र मूर्ज्जं तथैवास्मिन्नय मेत-  
दधाति रेतस्त्रिचोर्व्वेलया पृष्ठयो वै . रेतस्त्रिचौ  
मध्य मु पृष्ठयो मध्यत एवास्मिन्नेतत् सर्व्वं दधाति  
॥ २४ ॥

व्विष्णोः कर्माणि पश्यतेति । व्वीर्यं वै कर्म  
व्विष्णोर्व्वीर्याणि पश्यतेत्येतद्यतो व्रतानि पश्यथ  
ऽङ्गत्युन्नं वै व्रतं यतो ऽन्नं स्पाशयाश्चक्रं ऽङ्गत्येत-  
दिन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रस्य श्लेष युज्यः सुखा  
द्विदेवत्ययोपदधाति \* द्वे शूलखलमुसले सक्तत्  
सादयति समानं तत् करोति समानं चेतद्ग्न  
मेव सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः  
॥ २५ ॥

\* 'द्विदेवत्यो भवति'—इति क, ख ।

अथोखा मुपदधाति । योनिर्वा ऽउखा योनि  
मेवैतदुपदधाति ता मुलूखल ऽउपदधात्यन्तरिचं  
वा ऽउलूखलं यद्वै किञ्चास्या जर्ज्वन्मन्तरिच मेव  
तन्मध्यं वा ऽअन्तरिचं मध्यतस्तद्योनिं दधाति  
तस्मात् सर्वेषां भूतानां मध्यतो योनिरपि ध्वन-  
स्पतीनाम् ॥ २६ ॥

युधेवोखा मुपदधाति । यो वै स प्रजापति-  
र्व्यस्रः सतैषा \* सोखि मे वै लोका उखि मे लोकाः  
प्रजापतिस्ता मुलूखल ऽउपदधाति तदेन मेतस्मि-  
न्सर्वास्मिन् प्रतिष्ठापयति प्राणे ऽन्न ऽजर्ज्यथो ऽए-  
तस्मादेवैनं मेतत् सर्वस्मादनन्तर्हितं दधाति ॥  
॥ २७ ॥

अथोपशयां पिष्टा । लोकभाज मुखां कृत्वा  
पुरस्तादुखाया उपनिवपत्येष हैतस्यै लोकस्तयो  
हास्येषानन्तरिता भवति ॥ २८ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैषा पक्ता ऋतोपहिता भव-

\* 'व्यस्रः सतैषा'—इति ग, घ ।

तीति यदेव यजुष्कृता तेनाथो यद्वै किञ्चैव मन्त्रि  
व्यैश्वानरमुपनिगच्छति तत एव तत् पक्वम् शृत  
मुपहितं भवति ॥ २६ ॥

ध्रुवासि धरुणेति । तस्योक्तो बभ्रुरितो जज्ञे  
प्रथमं मेभ्यो योनिभ्यो ऽग्निं जातवेदा इत्येतेभ्यो  
हि योनिभ्यः प्रथमं जातवेदा अजायत स गायत्र्या  
विष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्नि-  
त्येतैव्यां ऽएष हृन्दोभिर्देवेभ्यो हव्यं वहति प्रजा-  
नम् ॥ ३० ॥

इषि राये रमस्व । सहसे दुस्व ऽजर्जे ऽअप-  
त्यायेत्येतस्मै सवर्षस्मै रमस्वेत्येतत् समाडसि स्वरा-  
डसीति समाट् च ऋषे स्वराट् च सारस्वतौ  
त्वोत्सौ प्रावता मिति मनो वै सरस्वान् वाक्सर-  
स्वत्येतौ सारस्वता ऽउत्सौ तौ त्वा प्रावता मित्ये-  
तद् हाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो बभ्रुरथो इयम्  
अवैतद्रूपं मृच्चापस्य सादबित्वा सूददोऽसाधिवदति  
तस्योक्तो बभ्रुः ॥ ३१ ॥

अथैना मभिजुहीति । एतद्वा ऽअस्या मेतत्

पूर्वम् . रेतः सिक्तं भवति सिक्तास्तदेतदभिकरोति  
तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं मभिक्रियत ऽप्राज्येन जु-  
होति सुवेण स्वाहाकारेण द्वाभ्या माम्नेयौभ्यां गाय-  
त्रीभ्यां तस्योक्तो बन्धुः ॥ ३२ ॥

अग्ने युक्षा हि ये तव । युक्षा हि देवहृत-  
मानिति युक्तवतीभ्या मिद मेवैतद्योनौ रेतो युनक्ति  
तस्माद्योनौ रेतो युक्तं न निष्पद्यते ॥ ३३ ॥

स यदि संवत्सरभृतः स्यात् \* । अथाभिजुहु-  
यात् सर्व्वं वै तद्यत् संवत्सरभृतः सर्व्वं तद्यदभि-  
जुहोत्यथ यद्यसंवत्सरभृतः स्यादुपैव तिष्ठेता सर्व्वं  
वै तद्यदसंवत्सरभृतो ऽसर्व्वं तद्यदुपतिष्ठते ऽभि-  
त्वेव जुहुयात् ॥ ३४ ॥

पशुरेष यदग्निः † । सो ऽचैव सर्व्वः कृत्स्नः  
संस्कृतस्तस्यावाङ् प्राणः स्वयमादृक्षा श्रोणी द्वियजुः  
पृष्ठयो रेतश्चिबौ कौकसा विप्रतज्योतिः ककुद

\* 'स्नान'—इति ग, घ ।

† 'यदग्नि'—इति ग, घ ।

मृतव्ये यीवा चषाढा शिरः कूर्मी ये कूर्मे प्राणा  
ये शीर्षेण प्राणास्ते \* ते ॥ ३५ ॥

तं वा ऽएतम् । इत जह्वं प्राञ्चं चिनोत्यसौ  
वा ऽष्वादित्य एषो ऽग्निरमुं तदादित्य मित जह्वं  
प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत जह्वः प्राङ्  
धीयते † ॥ ३६ ॥

अथैनं प्रसलव्यावर्त्तयति । अमुं तदादित्यं प्रस-  
लव्यावर्त्तयति तस्मादसावादित्य इमांश्चोक्तान् प्रस-  
लव्यनुपयैति ॥ ३७ ॥

उदरमुखा ‡ । योनिरुलूखल मुत्तरोखा भवत्यु-  
धर मूलूखल मुत्तरं छुदर मधरा योनिः शिर्षं  
मुसलं तद् वृत्तं मिव भवति वृत्तं मिव हि शिर्षं तद्  
दक्षिणत उपदधाति दक्षिणतो वै व्युषा योषा  
मुपशेते यदु पशोः संस्त्रातस्याक्षं तद् दूर्ध्वेष्टका  
तस्य वा ऽएतस्योत्तरोर्ध्वं उदाहिततरो भवति पशु-

\* 'ते'—इति ग, घ ।

† 'धीयते'—इति क ।

‡ 'उदरमुखा'—इति ग, घ ।



रेष यदग्निस्तस्मात् पशोः सुहितस्योत्तरः कुक्षिरुन्नत  
तरो भवति \* ॥ ३८ ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [ ५. १. ] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे , त म हं वन्दे विद्यातीर्थमहेष्टरम् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे स्वयमावृष्टादीनां मुपधानं मभिहितम् ;  
अवास्मिन् ब्राह्मणे कूर्मोदीनां मुपधानं मभिधास्यते । तत्रादौ  
तावत् कूर्मोपधानं विधाय तं रसात्मना स्तौति— “कूर्मं  
मुपदधातीति । उक्तं मेव कूर्मस्य रसत्वं प्रतिपादयति— “यो  
वै स इति । ‘एषां’ पृथिव्यादीनां ‘लोकानाम्’ ‘अप्सु’ ‘प्रविष्टानां’  
मन्वानां ‘सः’ प्रसिद्धो यः ‘रसः’ ‘पराङ्’ अनावृत्तः ‘अत्यक्षरत्’  
अस्त्वत् । ‘सः’ रसः ‘एषः’ इदानीं मन्वाभिरुच्यमानः ‘कूर्मः’ ।  
अतः ‘त मेव’ रसम् ‘एतत्’ एतेन कूर्मोपधानेनोपहितवान् भवति ।  
लोकैरसत्वप्रनाया कूर्मस्य लोकान्मकत्व मेवाह— “यावानु  
वा इति । ‘रसः’ ‘यावान्’ यत्परिमाणः , ‘आत्मा’ देहोऽपि  
‘तावान्’ तत्परिमाणः ; रस एव देहस्यान्तर्भावात् । यथा  
विलीने लोहपिण्डे तत्स्वरूपं तद्रूपे सूक्ष्माकारेण भवतिष्ठते ,  
तद्वन्नोकरसात्मके कूर्मे ‘लोकाः’ अपि सूक्ष्मरूपेण भवतिष्ठन्ते  
इति ‘स एव’ कूर्मः एतत् सर्वलोकान्मक इत्यर्थः ॥ १ ॥

यदुक्तं कूर्मस्य पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वम् , तदेव तच्छ-

\* ‘भवति’—इति क ।

रोरे विविध दर्शयति— “तस्येति । ‘तस्य’ कूर्मस्य यदधस्तनं  
 ‘कपालं’ कठिनत्वम्, ‘सः’ ‘अयं लोकः’ पृथिवी । अधरकपाल-  
 पृथिव्योः कस्त्वित् साधर्म्यस्य प्रदर्शनात् तादात्म्यं सुपपाद-  
 यति— “तत् प्रतिष्ठितं मिथेति । ‘प्रतिष्ठितम्’ अधः सर्वत्र  
 घुष्ठतलम् । अधरकपाल-पृथिव्योस्तथाविधत्वात् तस्य पृथिव्या-  
 ककत्वम् । “अथेति । ‘अथ’ ‘यत्’ ‘उत्तरं’ कपालम्, ‘तद्’ ‘द्यौः’  
 ब्रुलोकः । पूर्ववत् तदेवोपपादयति— “तद् व्यववृष्टीतान्तं मिति ।  
 विविधं मववृष्टीतः अवततः प्रान्तो यस्य, तत् तथोक्तम् ।  
 कूर्मस्योपरिकपालम् सर्वतो मण्डलाकारेणावनतप्रान्तम् ‘इव’  
 ‘भवति’, ‘द्यौः’ अपि तथाविधा ; अतस्तस्य तदात्मकत्वम् ।  
 अथ ‘यत्’ अधरोत्तरयोर्द्वयोः कपालयोः ‘अन्तरा’ मध्यं मस्ति,  
 ‘तदन्तरिक्षम्’ । अतः ‘स एषः’ कूर्मः, ‘इमे’ पृथिव्यादयः ‘एव’  
 लोकाः । तस्मादेतेनोपधानेन ‘इमानेव लोकानुपदधाति’ ॥ २ ॥

विहितस्य कूर्मस्य दधिमधुघृतैरभ्यञ्जनं विधत्ते— “तं मभ्य-  
 नक्षीति \* । दधिमधुघृतानां पृथिव्यादिलोकरूपत्वम् । घृतस्य,  
 दध्न उपरिभावित्वात् पृथिव्युपरितनान्तरिक्षलोकरूपत्वम् ।  
 मधुनसु वृक्षाचलशिखरादिषूपरि भागेष्ववस्थितत्वात् ब्रुलोका-  
 ककत्वम् । अथवा मधुनो मधुररसत्वेन सोमात्मकत्वात्,  
 सोमस्य च ब्रुलोकोऽवस्थानात्, ‘मधु’ ब्रुलोकरूपम् । प्रकारान्तर-  
 णापि दध्यादिभिरभ्यञ्जनं प्रशंसति— “अथो इति ॥ ३ ॥

अभ्यञ्जने मग्नं विधत्ते— “मधु वाता ऋतायत इति † ।

\* का० मी० सू० १७. ४. २७ ।

† य० भा० १३. २७, २८, २९ ।

विहित मन्थनमन्त्रं रसात्मना प्रयंसति—“यां वै देवता मिति ।  
 ‘यां देवताम्’ ‘यभि-सत्त्व’, या ‘ऋक्’ ‘अनूक्ता’ उच्चारिता,  
 तद्देवताप्रतिपादकत्वेनोच्यते, सा ऋक् तत्प्रतिपादकत्वात् सैव  
 प्रतिपाद्या देवता । तथा यजुरपि । एवं च सत्त्वत्र तद्देवतास्व-  
 रूपं मेतत् मधु ; “मधुवाता ऋतायते”—इत्यनया ऋचा प्रति-  
 पाद्यत्वात् । ततश्च ‘एष द्रवः’ प्रतिपाद्यत्वेन देवताभूत-  
 मध्वात्मकः । तिस्र ऋचो यस्मिन् समुदाये, स द्रवः ।  
 “ऋचि त्रेवत्तरपदादिसोपच्छन्दसि”—इति \* त्रिशब्दस्य सम्प्र-  
 सारचम्, ऋवर्चस्य च सोपः, “ऋक्पूरश्चूरिति समासान्तः † ।  
 मधु च सोमरसस्वरूपम् ; अतश्चैतेन द्रव्येनोपधाने सति रसा-  
 त्मके ‘यस्मिन्’ कूर्मे ‘रसं भव’ विहितवान् भवति ।

अभ्यञ्जनमन्त्राणां छन्दःसङ्गो विधत्ते—“गायत्रीमिन्द्रिन्द्रभि-  
 रिति । तद्व्याख्यानम् प्रागुक्तं मित्वाह—“तत्सोक्तो बभूविति ।  
 तच्च “गायत्रीभिः प्राची गायत्री प्राच भवास्मिन्नेतद्भाति तिस्र-  
 भिः, त्रयो वै प्राचाः ताच उदानो व्यानः, तानेवास्मिन्ने-  
 तद् दधाति”—इति षष्ठकाष्टेऽभिहितम् ‡ ।

मन्त्राणां मयं मयः §,— ‘ऋतायते’ ऋतं यज्ञं मात्मनः

\* पा० ६१. ३७ क० १ वा० । † पा० सू० ५. ४. ७४ ।

‡ इत्था० ३ प्र० १ ब्रा० ५ क० ( ६ भा० १११ पृ० ) ।

§ तत्पाठाभ्यन्तरम्,—

“मधु वाता ऋतायते मधु चरन्ति विन्धवः ।

माधीनः सन्धोऽधीः । १ । मधु नक्तं सुतोऽधी मधुमत्

पार्थिवं रजः । मधु द्यौरसु नः पिता । २ । मधुमन्त्रं नो

वयस्यतिर्मधुमा अस्तु द्रव्यैः । माधीर्मादो मधुमन्त्रः । ३ ।

इच्छतीति ऋतायन् यजमानः । व्यत्ययेनाकारः । तस्मै 'वाताः'  
 वायवो 'मधु' मधुररसं 'चरन्ति' स्नावयन्ति । 'सिन्धवः' ससु-  
 द्राश्च नद्यश्च 'मधु चरन्ति' । 'शोषधीः' शोषधयोऽपि । "वा-  
 ष्ट्सि"—इति \* पूर्वसवर्णदीर्घः । 'नः' अस्मत्सम्बन्धि यजमानार्थं  
 'माध्वीः' मधुररसोपेताः 'सन्तु' । "ऋष्यवास्त्यवास्त्येत्वादिना †  
 माध्वी-शब्दो निपातितः । किञ्च 'नक्तम्' रात्रिरपि 'मधु' मधुर-  
 रसोपेता भवतु । अपि च 'उषसः' मधुररसोपेता भवन्तु । तथा  
 यत् 'पार्थिवं रजः', तत् सर्वं 'मधुमत्' असु । 'नः' अस्माकं यज-  
 मानस्य 'पिता' पिबिष्यामीत्यादिना 'दीः' 'मध्वसु' मधुररसोपेता भवतु ।  
 'वनस्पतिः' अश्वत्थादिर्यज्ञसाधनभूतः 'नः' अस्मद्यजमानार्थं  
 'मधुमान् असु' । 'सूर्यः' अपि 'मधुमान्' सन्तापरादित्यलक्ष-  
 माधुर्यरसोपेतः 'असु' । तथा 'मावः' 'नः' अस्मद्यजमानार्थं  
 'माध्वीः' मधुररसोपेताः 'भवन्तु' ॥ ४ ॥

अथ कूर्म इति नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति— "स  
 यत् कूर्म इति । 'एतत्' कूर्मसम्बन्धि 'रूपम्' आत्मनः  
 'छत्वा' 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' । असृजतेत्यस्य व्याख्यानम्—  
 "यदसृजताकरोदिति । असृजतेति यत्, तदकरोदित्यर्थः ।  
 'तत्' तेन कूर्मरूपेण 'अकरोत्'-इति 'यत्', तस्माद् अकरोदिति  
 'कूर्मः'-इति, कूर्मशब्दो न्युपधेय इत्यर्थः । करोतेरौषादिके मक्-  
 प्रत्यये "बहुलं ऋसि"—इत्युत्प्रेक्षः ‡; 'इलि च'-इति § दीर्घे च

\* पा० ख० ६. १. १०६ ।

† पा० ख० ६. ४. १७५ ।

‡ पा० ख० ७. १. १०३ ।

§ पा० ख० ८. २. ७७ ।

कृते, कूर्ध्व इति रूपम् भवति । “कश्यपो ना”-इत्यादिक-  
स्वाय मर्बः,— कूर्मशब्दस्य करणे प्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्, कश्य-  
पस्य च प्रजापतित्वेन प्रजाकारकत्वात्, ‘कश्यपः कूर्मः खलु’;  
अत एव ‘सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः’ इति ‘षादुः’ जनाः । अतस्त-  
कूर्मस्य कश्यपात्मकत्वात् तदुपधानम् प्रशस्त मिति ॥ ५ ॥

अथ त मेव कूर्म मादित्यात्मनापि स्वीति— “स य इति ।  
‘सः’ प्रकृतो ‘यः’ ‘कूर्मः’ अस्ति, ‘सः’ ‘असौ’ विप्रकृष्टः ‘आदित्यः’ ।  
आदित्यात्मकत्वं मण्डलाकारसाम्यात्, यथा ‘आदित्यो यूपः’-  
इति । एतन्नोपधाने आदित्यस्यैवोपधानं कृतम् भवति । उक्त-  
मादित्यात्मकत्वं मुपजीव्य, तस्य अयनप्रदेशे एव पूर्वभागे प्रत्यङ्-  
मुख्योपधानं माह— “तं पुरस्तादिति ।

ननु कूर्मस्यादित्यात्मकत्वेन पुरस्तात् \* प्रत्यगुपधानेनादि-  
त्यस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्निधानं मित्यन्योन्याश्रयता-दोष इति  
चेत्, मेवम् †; कारकप्रापकयोर्हेतुहेतुमज्ञावैपरीत्यं भूषण-  
मेव, न तु दूषणम् । यथा अन्निर्धूमस्य कारको हेतुः,  
धूमशब्देप्रापक इति; तथापि कूर्मस्य पुरस्तात् प्रत्य-  
गुपधानं मादित्यस्य पुरस्तात् प्राङ्निधाने कारकम्,  
आदित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यगवस्थानं कूर्मस्यैवविधोपधाने प्राप-  
कम् । पुरस्तात् प्रत्यगुपधानम्, प्रवाठायाः पुरस्तादुत्तरतो  
वापि आदित्यत आह— “दक्षिणत इति । ‘प्रवाठाये’-

\* “प्रत्यगुपधानम्, एतस्य च पुरस्तात्”—इत्यधिकः पाठोऽत्र उ-पुक्तः ।

† ‘मेवम्’-इत्यस्य स्थाने “नैव दोषः”—इति उ-पाठः ।

इति, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी \* । उक्तेऽर्थे उपपत्ति माह— “वृषा वा इति । वृषशब्देन खेचनसमर्थत्वात् पुमानुच्यते ; अषाढा-  
शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाद् अषाढा योषा खलु । “उत्तरतो हि स्त्री पुमांस सुपश्येते”—इति श्रुतेः † पुमान् दक्षिणभागे योषा सुपश्येते । उपशयनेन ईक्षिततमत्वात् योषा मिति द्वितीया ‡ ; अतश्चास्य कूर्मस्य अषाढायाः दक्षिणभागे उपधानं सुपपन्नमित्यर्थः । दक्षिणभागे विप्रकटेऽप्युपधानं स्यादित्यत आह—  
“अरन्निमाने इति । उखाया अपि पुरस्ताद् अषाढायाः श्रिष्टत्वेन सर्वेष्टकानां मपि प्रग्रस्तत्वात् तद्दक्षिणभागे उपधानेन सर्वेष्टकानां मपि दक्षिणभागे उपशयनं सिद्धम् भवतीति दर्शयति— “सैवेति ॥ ६ ॥

अथ त मेव कूर्मं प्राञ्चालनापि स्तौति— “यदेवेति । “प्राचो ह्येमा इति । ‘प्राचः’ खलु ‘इमाः सर्वाः प्रजाः करोति’ ; प्राणिभिरेव प्रजानां मुत्पादनात् । अतश्च कर्त्तव्यत्वसामान्यात् ‘प्राचः कूर्मः’ इति । तदुपधाने प्राचस्यैवोपधानं भवति । “तं पुरस्तादिनोक्तम् प्राञ्चालकस्य सुपजीव्य ‘पुरस्तात्’ प्रत्यक्षुत्वेनोपधानं सुपपाद्यते । “तस्मादिति । यत एवम्, तस्मात् कारणात् ‘पुरस्तात्’ सुखे प्राणवायुः प्रत्यक्षसुखत्वेन ‘धीयते’ भ्रियते ।

कूर्मस्य प्राञ्चालकत्वाद्दिरक्त्यपुत्रवाभिमुख्येन तस्योपधाने

\* पा० २. ३. ६९ सु० १ वा० ।

† पुरस्तात् १ का० १ प्र० १ ब्रा० २० क० ( १ भा० ३४० ) दृश्यम् ।

‡ पा० सू० १. ४. ३३ ।

पुत्रस्य यजमानरूपत्वाद् यजमाने प्राणनिधानं भवत्याह—  
 “पुत्रस्य मभ्यावृत्त मिति । कूर्मस्य प्राणत्वादवाढायाः वाक्कात्  
 तस्य दक्षिणत उपधानं युज्यत इति दर्शयति — “दक्षिणत इति ।  
 स्त्रीत्वसामान्यादवाढायाः वागात्मकत्वम् । ‘प्राणः’ ‘वाचः’ ‘वृषा’  
 पतिः खलु ; प्राणोपजीवनेन वाचः प्रवृत्तेः । अतः प्राणो  
 वागित्त्वभूय मपि ‘मिथुनम्’ । एवञ्च वागात्मिकाया अवाढाया  
 दक्षिणभागे प्राणात्मकस्य कूर्मस्योपधानं सुपपन्नं मित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ तदुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “अपां गन्ध-  
 बिन्वादिना ॥ “यत्रेति । ‘यत्र’ स्थाने ‘एवः’ सूर्यः ‘एतत्’ तपनं  
 करोति, ‘एतत्’ खलु ‘अपां’ ‘गन्धिष्ठ’ गन्धीरतमम्, ऊद इत्यर्थः ।  
 सूर्यस्य वृष्टिहेतुत्वात् तस्यावस्थानप्रदेशस्य ऊदस्य सुच्यते ।  
 ततश्च कूर्मस्यापा मन्त्ररेखावस्थानाद् ‘अपां गन्धन्’ सूर्यावस्थान-  
 समीपदेशलक्षणे अपां ऊदे ‘सीद’ उपविशेति मन्त्र आह ।  
 “गन्धिष्ठिति । गन्धीरशब्दस्य हान्दसो गन्धवादेयः १, तत  
 उत्तरस्याः सप्तम्याः “अपां सुलुक्”-इत्यादिना ६ लुक् रूपम् ।  
 “गन्धिष्ठ मिति । गन्धन्-शब्दादतिशायने इष्ठनि कृते १, “टेः”-  
 इति ॥ टिलोपे कृते, रूपम् । “मा त्वा सूर्योऽमिताषीन्  
 आग्निर्वैश्वानरः”-इत्यादिमिताषीदित्येतत्पदार्थं आह— “मेव

० का० यौ० अ० १६. ४. १८ ।

१ “असुप्त इव वासि मन्त्रवा”-इति ते० ब्रा० ७. ७. १ ।

२ पा० सू० ७. १. ३६ ।

३ पा० अ० ५. ३. ५५ ।

४ पा० अ० १. ४. १४१ ।

त्वेति । 'अष्टिपत्राः'-इति । पत्रशब्देनात्रायवो • लक्ष्यते,  
तेनात्राष्टिपत्रायवा इत्ययं मर्थः स्यात् । 'या इमाः'  
उपहिताः 'इष्टकाः', 'ताः' इमा एव 'सर्वाः प्रजाः' खलु ।  
इष्टकानां प्रजापत्यात्मकत्वेन, प्रजापतेषु सर्वप्रजाकारणत्वेन,  
तदात्मकत्वादित्यर्थः । रिष्ट-शब्देनानिष्टं व्याधिप्रभृतिकं मुच्यते,  
तद्रहिता अरिष्टाः; तस्यैव विवरणम्— 'अनार्त्ताः'-इति ।  
तथा सति अष्टिपत्राः प्रजाः 'अनुवीक्ष्य'-इत्यनेन एत-  
दुपहितेष्टकारूपाः प्रजाः, यथा 'अरिष्टा अनार्त्ताः' भवन्ति,  
तथा ताः 'अनुवीक्ष्य' अनुपालयेत्येतदुक्तम् भवतीत्यर्थः ।  
'यद्येवैन मिति । 'एनं' कूर्मं मनुलक्ष्य, 'यद्येव' 'दिश्या वृष्टिः'  
सम्बन्धीयात्, 'एवम्' अनेनाभिप्रायेण 'एतत्' अनुल्लेखादिकम्  
आह ॥

"अपाङ्गश्चान्", "चीकसुद्रान्", "मही द्यौः"-इति \* त्रिभिः  
मन्त्रैः अयं कूर्म उपधीयते । तत्र मध्यमेन तं चालयन्नुपदध्यात् ।  
अत एव कात्यायनः— "अपाङ्गश्चान्ति तिस्रभिर्घट्टयति मध्य-  
मया"-इति ॥ ८ ॥

तदेतद्दर्शयन्नाचष्टे— "अथेति । 'एजयति' कम्पयति ।  
"एज् कम्पने"-इति ‡ धातुः । "इमे इति । ये 'इमे' द्ययः'  
'समुद्राः' समुद्रवन्ति समुद्रश्चक्षतीति समुद्रा लोकाः § ।

\* वा० सं० १३. ३०, ३१, ३२ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. १, २ ।

‡ भा० पं० २३४ धा० ।

§ निष्ठा २. ३, १ ब्रह्मम् ।०.



‘स्वर्गाः’ सुखहेतुभूताः । ‘तान्’ ‘एषः’ प्रजापतिः ‘कूर्मां’  
मृत्वा अनुसंसर्पे<sup>\*</sup> ; प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकत्वात् \* । “स एष इमि  
एष लोका इत्यादिना † कूर्मस्य लोकत्रयात्मकत्वाभिधानात्,  
प्रजापतिः कूर्मरूपेण लोकाननुसंसर्पेति ।

अथ मन्त्राभिसन्धिः, — अपाम्पतित्वं कूर्मस्य ; तत्रैव सर्वदा-  
कस्यानात् । वृषमश्वेन वैष्टं लक्ष्यते, तच्च लोकत्रयात्मकत्वादिना  
दृष्टव्यम् । अथ वा दृष्टकालनां स्त्रीणां ‘वृषमः’ पुमान् । पुरीष-  
श्वेन पयवोऽभिधीयन्ते, तान् ‘वसानः’ आच्छादयन्, यज-  
मानस्य सम्पादयन्नित्यर्थः । अथ वा दृष्टकारूपान् पशून्  
- आच्छादयन्निति । पूर्वं सुपदिताः कूर्माः ‘एतेन’ उपधानलक्ष-  
णेन कर्मणा ‘यत्र’ ‘परेताः’ कृताः प्राप्नुवन्, तत्र नष्टेत्ये-  
तदुक्तं भवति ॥ ८ ॥

“मही क्षीरिति ‡, अत्र महीपदस्य विकसितं मर्चं माह—  
“महतीति । द्वितीयपादे ‘मिमिक्षताम्’-इत्यस्यावन मर्च इति  
दर्शयति— “इमं यज्ञं मङ्गता मित्रेतदिति । अनेकार्थत्वादा-  
तूनां मिमिक्षतिरत्रावने वर्त्तते । तृतीयपादे ‘पिपृताम्’-इत्य-  
स्यार्चं माह— “विधृता मिति ॥

• मन्त्रार्थसु,— हे कूर्म । त्वं मया गन्धीरतरे देवे उप-  
विष्ट, तत्र सोदन्तं त्वां सूर्यो मा. अभितपतु, ‘वैश्वानरः’  
सर्वेषां सुदरस्यः सर्वाङ्गा च, सर्वज्ञः अग्निरपि मा अभितपतु ।

\* वा० सं० १३. ३१ ।

† पुरस्तादिहैव द्वितीया कञ्चौ द्रष्टव्या ।

‡ वा० सं० १३. ३२ ।

तथाविधस्य मनसस्स्थितावयवा इष्टकारुपाः प्रज्ञाः सन्तु-  
चीचक्षुः । 'त्वा' त्वां 'दिव्यं दृष्टिः' चानुसम्भवीयता मिति  
प्रथमस्यार्थः \* ॥

हे कूर्म ! त्वं 'त्रीन्' सुखहेतुभूतान् लोकान् 'समसृपत्'  
संसृजोऽसि । अत्ययेन तिवादेशः, छदित्वात् चुरेडादेशः † ।  
अतः स त्वम् 'अपाम्पतिः', 'इष्टकावां' च 'वृषभः', अतस्त्वां  
ब्रवीमि— 'पुरीषम्' इष्टकारूपान् पशून् 'वसानः' आच्छादयन्,  
'सुखतस्य' सुखं सम्पादितस्याम्नेः 'लोके' स्थाने स्थित्वा, 'तत्र'  
गच्छ, एतेन कर्मणा 'पूर्वं' कूर्माः 'यत्र' 'परेताः' परागताः,  
अन्नं प्राप्नुवन्निति द्वितीयस्यार्थः ‡ ॥

"महो यौरिति मन्त्रसु प्रागेव व्याख्यातः § । अन्तिस-  
मन्त्रस्य द्वावापृथिव्यत्वं प्रशंसति— "द्वावापृथिव्य इति ।  
"तस्य यद्वर्षं कपालं मयं स लोकः"—इत्यादिना ॥ कूर्मस्वा-  
धस्तनोपरितमयोः कपालयोर्द्वावापृथिवीरूपत्वस्योक्तत्वात् 'कूर्मो'

\* अथ पाठस्त्वम्—

"आप्राक्तमनसोद् मा त्वा ह्ययोऽभितासोऽन्नामिवैवावरः । अन्तिस-  
मन्त्राः प्रजा सन्तुचीचक्षुः त्वा दिव्यं दृष्टिः अपमाम्पतिम्"—इति ।

† प्रा० अ० ३. १. ५५ ।

‡ अथ पाठस्त्वम्—

"त्रीन्सत्सुत्रात्समसृपत् स्वर्गानपाम्पतिर्द्वेषभ इष्टकानाम् । पुरीषं  
वसानः सुखतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वं परेताः"—इति ।

§ ३४६ पृ० १३ प्रकृतितो इष्टम् ।

॥ पुरस्कृष्टिष्वे ३१५ पृ० २१ पं० इष्टम् ।

यावापृथिव्यः’ ; अतस्तदुपधाने उत्तमाया ऋचो यावापृथिव्यत्वं प्रशस्तमिति यावत् । यावापृथिव्यश्चक्षुः “यावापृथिवीयुना-  
सीरित्वादित्ये च \* देवतार्थे यत्प्रत्ययान्तः ॥ १० ॥

उपधानमन्वासां त्रित्वसङ्ख्या मनुष्य प्रशंसति— “त्रिभि-  
रिति । ‘इमे’ पृथिव्यादयो ‘लोकाः त्रयः’ ; कूर्मश्च लोकत्रया-  
त्मकः ; ततश्च तदुपधानं त्रिभिर्मन्त्रैः सम्याच्यते । अपि च  
अग्निस्त्रित्वसोमात्मकः ; अग्नेस्त्रित्वस्य मेकस्मादेव सहोत्पत्तेः ।  
तथा च श्रूयते— “सु सुखतस्त्रित्वं निरमिमीत, त मग्नि-  
देवताम्बुसृज्यतेति १ । आहवनीयादिभेदेन वा अग्नेस्त्रित्वम् ।  
अथवा षष्ठ्यां कण्ठे रुद्रादिनवनामधेयाभिधेयत्वादाग्नेस्त्रित्वस्य सु-  
क्तम् ३ । तथा सति अत्रोपधानमन्वासां त्रित्वात् ‘अग्निः’ ‘यावान्’  
यत्परिमाणविशिष्टः, ‘अस्य’ च ‘मात्रा’ अवयवः ‘यावती’  
यत्परिमाणविशिष्टा, ‘तावता’ तत्परिमाणविशिष्टेन रूपेण  
‘एतदुपधाने’ सम्यादितम् भवति ।

अभ्यङ्गनमन्वासां सुपधानमन्वासां च सङ्ख्याः सम्भूय  
प्रशंसति— “त्रिभिरभ्यङ्गनीति । ‘तत्’ तथा सति ‘षट्’ सङ्ख्या  
सम्यच्यते । तत्सङ्ख्यासम्यादनस्य तु प्रशंसारूपं व्याख्यानम् “षड्  
वा. ऋतवः”—इत्यादिना § प्रागुक्तमित्यर्थः ।

कूर्मस्याधस्तादुपरिष्ठात्तावकाः आपयेदित्याह—§ “अवका

\* पा० सू० ४. २. ३२ ।

† तं सं० ७. १. १. ४ ।

‡ पूर्वसिन् काठे १. ३. १—१८ ( ४ भा० १७ - २० पृ० ) ऋचम् ।

§ पुरस्तादिष्वेव २ ३. ३५० ऋचम् ।

इति \* । 'अवका' शैवालम् । अवकास्थापनं किमर्थं भित्तं  
 आह— "आपो वा इति । 'अवकाः' अणु जायन्त इति कार्य-  
 कारणमिदं विवक्षया आपोऽप्यवकाः । अतश्चैतेनावकास्थापनेन  
 'अपा मेव मध्यतः' 'एनं' कूर्मं निहितवान् भवति । "साद-  
 यित्वेत्यादिकन्तु प्रागेव व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

कूर्मोपधानानन्तरम् उलूखलमुसलयोरुपधानं विधत्ते—  
 "अथेति । विहितं मुलूखलमुसलयोरुपधानं मन्त्रादनसाधनतया  
 प्रशंसति— "विष्णुरित्यादिना । 'येन' 'रूपेण' 'प्रकारेण' 'यत्  
 कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्', 'तेन' प्रकारेण 'तत् कर्म कृत्वा'  
 अहं मपि 'अन्नादोऽसानोति' अभिप्रायेण 'यजमान उलूखलमुसले  
 उपदधाति' यतः, अतो यथैव विष्णुरभूत्, 'तथैव' 'एतत्' एतेन  
 यजमानोऽप्यन्नादो भवतीत्यर्थः ।

अन्नादनसाधनता कथं मनयोरिति तदुपपादयति— "तदे-  
 तदिति । यतः 'उलूखलमुसलाभ्या मन्त्रं क्रियते'; ताभ्यां  
 व्रीक्षादीनां वितुषीकरणात्, वितुषीकृतानां भेदात्त्वात्,  
 'अत्र मध्युलूखलमुसलाभ्यां क्रियते' । अतश्च 'उलूखलमुसले'-  
 इति यदेतत् कृत्वा मन्त्रम्; तथा सति अन्नादनसाधनतानयो-  
 रूपपद्यत इति भावः ॥ १२ ॥

अनयोः स्नानविशेषं विधाय, स्तौति— "ते इति । रेतस्त्रिधा-  
 विति, इष्टकाविशेषी प्राम्बिहितौ † । तयोः 'वेलाया' प्राम्नेन ।  
 सप्तम्यर्थे द्वितीया । अत एव कात्यायनः,— "रेतस्त्रिधोर्वेलाया

\* का० श्री० ख० १७, ४. २७ ।

† पुरस्कृतं ३, २. २९ इत्यत्रम् ।

मरन्निमान्मुतेरिति \* । तज्ज्ञेते उपदध्यात् । यतो 'रित-  
स्त्रिषो' 'पृष्टयः' । पृष्टिशब्देन कटिपार्श्वस्यास्त्रिविधोपावृत्तेः ।  
अवयवापेक्षया च बहुत्वम् । रितस्त्रेचनसाधनत्वसामान्यात्  
रितस्त्रिषोः पृष्टिरूपता । शरीरमध्येऽवस्थानात् पृष्टयो मध्यं  
हि ; अतश्च तत्रान्ते अयोरुपधानात् मध्यभागे एवास्त्रिन्  
प्रजापती, चोयमानास्त्रिरूपे 'एतत् अत्र' निहितवान् भवति ।

दिगन्तरेऽपि रितस्त्रिवोरुपधानं सम्भवेदित्यत आह—  
“उत्तर इति । स्रयमादृश्याया उत्तरप्रदेशेऽपि । प्रमाणविशेष  
माह— “अरन्निमान्ने इति । लोके हि अरन्निमात्रप्रदेशादत्र  
मादायाभ्यवक्रियते ; अतश्चात्ररूपयोरनयोरुपधानं तावति प्रदेशे  
कर्तव्यम् । “उलूखलमुसले स्रयमादृश्या सुतरेचारन्निमान्ने”—  
इति हि सूत्रम् † ॥ १३ ॥

प्रकृते उलूखलमुसले प्रादेशमात्रे कर्तव्ये इत्याह—  
“प्रादेशमात्रे भवत इति ‡ । परिमाणविशेषोपादाने कार्त्त-  
माह— “प्रादेशमात्रो वा इति । ‘विष्णुः’ स्रजः , चोयमानास्त्रि-  
रूपः । इदानीं मनिष्यत्वेन गर्भः खलु ; अतोऽयं प्रादेशमात्रः ;  
लोके सर्वाणां तावत्-प्रमाणत्वात् । उलूखलमुसलं आहन् ;  
तदेतत् सर्वं मत्र मिल्युक्तत्वात् । ततश्च ‘अस्त्रिन्’ गर्भरूपे  
विष्णौ एतेनात्मसदृशप्रमाणं भव ‘अत्र दधाति’ ।

\* “उलूखलस्य रितस्त्रिवोर्याया मरन्निमान्मुतेः”—इति सुप्रित-  
पाठः का० भौ० ख० १७. ४. २१ ।

† का० भौ० ख० १७. ५. ३३ ।

‡ का० भौ० ख० १७. ५. ३४ ।

अन्वयात्मानुरूपप्रमाणपरिग्रहे को लाभः ? तदतिक्रमे वा कः ?  
इत्यत आह—“यदु वा इत्यादि । ‘आत्मसम्मित मन्त्रम्’ आत्मानं  
रक्षति, न तु हन्ति । यत्तु ततोऽधिकं न्यूनं वा ‘तत्’ तथा न  
करोति । अल्पस्य बलाङ्गपोषाणाधायकत्वाद्, अधिकस्य च दुर्ज-  
रत्वेन पोषाकरत्वादित्यर्थः । “हिनस्तीति, ‘हिसि हिंसायाम्’  
—इत्यस्य \* रौधादिकस्य त्रिपि अस्मि “आत्मलोपः”—इति † नकार-  
लोपे रुधम् । अल्पशब्दादीयसुनि “युवात्सयोः”—इत्यादिना कथा-  
देशे ‡ कनीय इति भवति ॥ १४ ॥

अनयोर्ध्वविशेषं विधाय स्तीति—“धौदुम्बरे भवत इति ।  
‘धौदुम्बरे’ उदुम्बरविकारे, ततो निष्पन्ने भवतः । “विस्वा-  
दित्वाधिकारे § अण् प्रत्ययः । ‘उदुम्बर ऊर्कः’, ‘बेलकरो रसः’  
सुलु । उदुम्बरस्य ऊर्णपत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते—“देवा वा ऊर्णं  
व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति ॥ । तथा चैतेन ‘अस्मिन्’  
प्रजापतौ ‘ऊर्कं मेव रसं निदधाति । सर्ववनस्पतीनां सुपधान-  
सिध्दर्थं उदुम्बरस्य सर्ववनस्पतिरूपता माह—“अथो सर्वं  
एत इति । ‘एते’ उलूखलमुसले ‘उपदधद्’ उपदधानः ‘सर्वान्’  
वनस्पतीन् उपहितवान् भवति ॥

रेतस्त्रिखेलाया सुपधानेन आवाहृथिष्योर्वनस्पत्युपधानं प्रति-

\* स० प० १५ घा० ।

† पा० सु० ६. ४. २३ ।

‡ पा० सू० ५. ३. ६४ ।

§ पा० सू० ४. ३. १५६ ।

॥ तै० ब्रा० ३. १. ३. १० ।

पादयति— “रैतस्मिन्निचोर्वैलयेति । ‘इमे’ आवापृथिव्यौ खलु  
‘रैतस्मिन्निचो’ इष्टके । ‘तत्’ तेन ‘अनयोः’ आवापृथिव्योः ‘वनस्पतीन्’  
उपहितवान् भवति । ‘तस्माद्’ हेतोर्वावापृथिव्योः ‘वनस्पतयः’  
सन्तीति शेषः ॥

उलूखलस्य चतुष्कोणत्वाभिधानेन सर्वदिक्षु वनस्पत्यु-  
पधानं माह— “चतुःस्रतोति । चतस्रः स्रतयः कोणा यस्य ,  
तदिदं चतुःस्रति । यथा ‘मध्ये सङ्गृहीतम्’ मध्यप्रदेशे सङ्गु-  
हितम् । किमर्थम् ? ‘उलूखलरूपतायै’ एवं रूपं हि लोके  
प्रसिद्धं मुलूखलम् । एतस्मादेव च वाक्यशेषादुलूखलं मेव चतुः-  
स्रति मध्यसङ्गृहीतं भवति , न सुसलम् । तथा च वक्ष्यते—  
“तद् वृत्तं मिव भवतीति \* ॥ १५ ॥

अथ विशिष्टावयवस्य प्रजापतेः प्राणं मन्त्रं मूर्जं मस्त्रिचग्नौ  
प्रतिनिधातुं मतिहासं माह— “यदेवेति । ‘मध्यतः’ मध्यप्रदेशात्  
‘प्राणः’ अग्नेष्वतिर्वायुः ‘उदचिक्रमिषत्’ उत्क्रमितुं मैच्छत् । ‘तं’  
प्राणं सुतक्रमितुं मिच्छन्तम् ‘अग्नेन’ अदनीयेन ‘अग्न्यज्ञात्’ गृहीत-  
वान् , प्रजापतिरिति शेषः । ‘तस्मात्’ कारणात् ‘प्राणोऽग्नेन’  
गृहीतः । उक्तं मेवार्थं प्रसिद्धां दृढयति— “यो ज्ञेवेति ।  
‘यो’ हि ‘अप्ता’ ‘अन्नम्’ अदनीयम् ‘अस्ति’ भक्षयति , ‘सः’  
‘प्राणिति’ चेतते ॥ १६ ॥

सिद्धे प्राणग्रहणे अन्नस्योत्क्रमणेच्छा माह— “प्राणे गृहीत  
इति । ‘अस्मात्’ प्रजापतेः ‘अन्नं’ कर्तुं उत्क्रमितुं मैच्छत् ।

‘तत्’ अन्नं ‘प्राप्तेन’ साधनेन ‘अगृह्णात्’ प्रजापतिः । तस्मादि-  
त्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

“एतयोरिति । ‘एतयोर्द्वयोः’ प्राणान्नयोर्वशीकृतयोः ‘जर्क्’  
बलम् ‘उदच्चिक्रमिषत्’ । “जर्ज बलप्राणनयोरिति \* धातुः ।  
जर्जयति बलयतोत्पूर्क् बलम् ; यदा बलहेतुरवरसीऽपि जर्गि-  
त्यभिधीयते । ‘ताम्’ जर्जम् ‘एताभ्या सुभाभ्यां’ प्राणान्नाभ्याम्  
‘अगृह्णात्’ प्रजापतिः । ‘तस्मात्’ अन्नप्राणाभ्यां सा ‘जर्क्’  
‘गृहीता’ वशीकृता । “यो ह्येवेत्यादि, पूर्ववद् व्याख्येयम् । “त  
मूर्जयतीति । ‘तम्’ अन्नारम् पुरुषम् ‘जर्जयति’ बलयति , मुक्त  
मन्नं कर्तुं इति शेषः ॥ १८ ॥

“जर्जीति । जर्क् ग्रहणानन्तरं मुच्चिक्रमिषन्तावन्नप्राणी ‘जर्जा’  
अगृह्णात् । “यं हीति । जर्क् बलं य मेव ‘जर्जयति’ बलयति  
‘सः’ ‘प्राप्ति’ चेष्टते , ‘सोऽन्न मन्ति’ च ॥ १८ ॥

“तान्येतानोति । यतस्मावत् ‘तानि’ सर्वाणि अन्योऽन्येन ‘गृही-  
तानि’ , ततः ‘तान्यन्योऽन्येन’ ‘गृहीत्व’ प्रजापतिः आत्मनि ‘प्रापा-  
दयत्’ प्रापयत् । ‘आत्मन्’-इति, “सुपां सुसुगित्वादिना † सप्तम्या  
सुक् । यत् ‘इदं सर्वम्’ इन्द्रियजातम् ‘अन्नजीवनम्’ । अन्न मेव  
जीवनं यस्य तदन्नजीवनम् ; तदभावे सर्वेषां स्वस्थव्याप्तरा-  
समर्थत्वात् । अतोऽस्मिन् अजापदौ प्रपद्यमानं मन्नं ‘सर्वे देवाः’  
इन्द्रियाणि प्रपन्नान्भूवन् ॥ २० ॥

\* पु० प० १६ पा० ।

† पा०, सु० ३. १. ३३ ।



उत्तेऽर्थे कश्चिन् मन्त्रं संवादयति — “तदेव इति । ‘तत्’  
तत्रार्थे ‘एवः’ वक्ष्यमाणः ‘श्लोकः’ मन्त्रोऽभूत् । मन्त्रः—

“तदे स प्राचोऽभवत्तदा भूत्वा प्रजापतिः ।

भुजो भुजिषा विष्वा यत् प्राणान् प्राचयत् पुरि”-इति ॥

त मेतं मन्त्रं पादशो विभज्य व्याचष्टे — “तद् वा इति । ‘तत्’  
तच्च तदा चक्षलाभाय \* ‘सः’ वै खलु ‘प्राचोऽभवत्’ । प्राणग्रन्थेन  
इन्द्रियाण्युच्यन्ते, ततश्चेन्द्रियोऽभूदित्यर्थः । “महान् भूत्वेति ।  
यदा ‘एनं’ प्रजापतिम् ‘एते देवाः’ इन्द्रियाणि ‘प्रापयन्त’, तदा  
‘स महान् अभूत्’ खलु । “भुजो भुजिषा विष्वेति । भोगसाधन-  
त्वेन ‘भुजः’ प्राचा उच्यन्ते । ‘भुजिषा’-ग्रन्थेन भोग्यत्वादयम् ।  
तदेतत् सर्वं ‘विष्वा’ सम्भूत्येतदुक्तं भवति । “यत् प्राचानिति ।  
‘पुरि’ चात्मनि शरीरे ‘प्राचान्’ ‘प्राचयत्’ स्वस्वव्यापार-  
समर्थानकरोत् । यत एव प्राचयत्, ‘तस्मात्’ ‘देवाः’ इन्द्रियाणि  
प्राचयन्त इति † ( प्राचा इति ) व्युत्पत्त्या प्राचाः अभूवन् ।  
अथ ‘प्रजापतिः’ तान् प्राचयदिति यत्, तस्मात् प्रजापति-  
रपि प्राचोऽभूत् । अत्र प्राचप्रयोजकत्वात् प्रजापतेः प्राचत्व  
मुक्तम् । एतावता तदेतदर्थं प्रपद्यमानं सर्वं देवा अनुप्राप-  
यन्तु अन्नजीवनं ह्रीद् सर्वं मित्यय मन्त्रः संवादप्रदर्शनेनोप-  
पादितो भवति ॥

प्रजापतेर्विष्वादिष्वप्युपक्रमेण प्रकृते किं मायात मित्यत  
आह— “यो वा इत्यादि । ‘सः’ पूर्वोक्तः प्रजापतिसम्बन्धी

\* ‘चक्षलाभावसरेषु’-इति ज-पाठः ।

† मेतन् पश्य मन्त्रि ज-पुस्तकादयम् ।

यः प्राचोऽस्ति, 'सेवा गायत्री' विष्णोः कर्माधीत्यर्थः \* यद् गायत्र्यात्मकं हृद्, स प्राच एतदित्यर्थः । प्रकृतोपधानमन्त्र-सन्निहितत्वादेवेति परामृश्यते—“सेवेति । लिङ्गं विधेयांषेचम् । उत्तरत्रायैवं दृष्टव्यम् । प्राचो वृत्तिभेदेन चिदा भिद्यते, गाय-त्रापि पादभेदेन ; अतः सादृश्यात् † 'प्राचो गायत्री'-इत्युक्तम् । 'अयं' 'यत्' प्रजापतिसम्बन्धि 'अयम्' अस्ति, 'स एष विष्णु-देवता' विष्णुरिति यन्नोऽभिधीयते ; भोगसाधनत्वसामान्या-दस्य विष्णुरूपत्वम् । 'अयं' 'या सा जर्क', 'स एष उदु-म्बरः' । उदुम्बरस्य बलकररसत्वादूर्गात्मकत्वम् ॥ २१ ॥

उदुम्बरोलूलग्रन्थौ निर्वर्ति—“सोऽब्रवीदिति । 'सर्वस्मात्' 'पाप्मनः' कृच्छात् 'मा' माम् 'अयं' हि 'उदभावीत्' उद्भूतवान् 'इति' 'सः' प्रजापतिः 'अब्रवीत्' । कृच्छादुदुम्बरस्यास्याऽब्रवीत्यो-रकरोधकत्वात् ; अतश्चोदभावीत्या मिति यदब्रवीत्, 'तस्मात्' जर्क 'उदुम्बरः' अभूत् । अत एक सुकृत्वादय उदुम्बरः । त मेव देवाः 'उदुम्बर इति परोक्ष माचक्षते' । पारोक्ष्याभिधानं गौरवाय कल्प्यत इति देवानां परोक्षकामत्वम् ।

तथा 'मे' 'उरु' अधिकम् 'अकरत्' अकार्षीदिति यद्-ब्रवीत्, 'तस्मात्' उरुकरम्, त मेव देवाः 'उलूलस्य मिति परोक्ष माचक्षते' । उदुम्बरस्योर्गात्मकत्वात्, उलूलस्य च औदुम्बरत्वात् उरुकरणं पाप्मन उदभावीदित्युक्तं च सम्यज्यते ।

\* 'कर्माधीत्यर्थः'—इति ज-पाठः ।

† 'इत्यस्यादृश्यात्'—इति ज-पाठः ।

उत्पन्नोत्पन्नस्यैवोदरादित्वाद \* भवति; करोति च व्युत्पादनीयौ । 'प्रकरत्'-इति, "कृत्स्नरुद्धिभ्यश्चन्दसीति चुरङादेशः", "कृद्भ्योऽङि गुणः" ‡ । प्रकृतं मुलूखलं शिरोरूपेण प्रशंसति — "सैवेत्यादिना । शिरः 'सर्वेषां' 'प्राधान्यान्' इन्द्रियाणां 'योनिः' खलु ; मुखस्यापि शिरःप्रदेशत्वात् तत्रैव सर्वेन्द्रियाणां मुत्पत्तिः, तथा सति उलूखलं मिति यत्, सैवापि सर्वेषां 'प्राधान्यां योनिः' भवति ॥ २२ ॥

उलूखलश्च शिरस्त्राधर्म्यसम्पादनादेतदुपपद्यत § इत्येतत् प्रदर्शयते — "तदिति । 'तत्' उलूखलं 'प्रादेशमाचम' 'चतुःस्रत्ति' 'मध्ये' च 'सङ्गृहीतं' तनूकुतं 'भवति', शिरोऽपि तथैवेति सर्वप्राश्रियोनित्वं मुलूखलस्योपपद्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

उपसंहरति — "तं यच्च देवा इति । 'यत्र' यदा 'देवाः' 'तं' प्रजापतिं संस्कृतवन्तः, तदेतस्मिन् 'प्राच मत्र मूर्धनम्'-इत्येतत् 'सर्वं' मध्यप्रदेशे निहितवन्तः ; तस्मात् 'तथैव' 'अयं' यज्ञमानोऽपि अनेनोपधानेनैतत् सर्वं सम्पादयति । ऐतस्मिन्मोः घट्टिरूपेण मध्यत्वात् तत्समोपदेशे उपधाने देवा यथा मध्यतोऽदधुः, तथैव 'अस्मिन् मध्यत एव' 'सर्वं' निदधाति ॥ २४ ॥

विहिते उलूखलमुसलदोषपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे — "विन्धोः कर्माचोति ॥ । कर्मशब्देन शीर्यं विवक्षति । अतश्च हे

१ पा० ख० ६. ३. १०६ ।

† पा० सू० ३. १. ५६ ।

‡ पा० सू० ७. ४. १६ ।

§ 'सम्पादनं तु उपपाद्यत'-इति च-पाठः ।

| वा० सं० १३. ३३ ।

जनाः ! 'विन्दोः' यज्ञस्य 'कर्माणि' वीर्याणि 'पश्यन्त' इत्येतत्  
उक्तं भवति । "यत इति । 'यतः' वीर्यतः 'व्रत'-शब्देनात्र  
मुच्यते । 'व्रतानि' अत्रानि 'पश्यन्ते' स्थाशयाचक्षते, स्पर्शयमानानि  
स्पर्शजनैस्तेभ्यामासेत्यर्थः । "स्यैव बाधनस्पर्शनयोः"-इति \* धातुः ।  
"इन्द्रस्येति । 'एवः' यज्ञः 'इन्द्रस्य' 'युज्यः' योग्यः 'सखा हि'  
तस्य दक्षिणेतुत्वात् । अत इन्द्रस्य युज्यः सखेत्युक्तं मित्यर्थः ॥

उलूखलमुसलयोर्द्वित्वात् तदुपधानमन्त्रस्य द्विदेवत्वस्य सुप-  
पन्न मिति दर्शयति — "द्विदेवत्वमेति । उलूखलमुसलयोः  
सादनं पृथगेव कर्त्तव्यं मित्यत आह — "सकृदिति ।  
यतः 'एतत्' उलूखलं मुसलञ्च अत्ररूपेण 'समानं मेव', अतः  
सादनं अपि सकृदेव कर्त्तव्यं मिति । अनेनैव सिङ्गेनोपधान-  
मन्त्रस्याहुतिर्ज्ञाप्यते ; यदि सुगपदुपधानं ज्ञात्, सकृत् सादन-  
शोच्येतेति । उत्तरवाक्यं व्याख्यातम् । अथ कात्यायनः—  
"उलूखलमुसले स्वयमादृष्ट्या सुतरैश्चरन्निमात्रं श्रीदुधरे श्रीदेश-  
माने चतुरस्रं मुलूखलं मध्यसङ्गृहीतं मूर्धं कृतं मुसलं दक्षिणं  
मुलूखलाद्विन्दोः कर्माच्येति ॥ २५ ॥

उलूखलमुसलोपधानानन्तरं सुखाया उपधानं विधत्ते—  
"अचेति \* । इष्टकाचित्तु विधास्यमानस्यान्नेरुखायां श्रुत्युत्पा-  
दनात् सुखायाः योनित्वेन ‡ तदुपधाने योनेरेवोपधानं भवती-

\* भा० उ० ८८७ धा० ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. ४ ।

§ 'उज्जायोनिर्त्वेन'—इति च-प्राठः ।

त्वाह—“योनिर्वा इति । विहितं सुपधानं सुलूखले कर्तव्यं  
 मित्वाह—“ता मिति । तत्रोपधानं प्रयंसति—“अन्त-  
 रिचं वा इति । ‘यत्’ किं अपि वस्तु, ‘अन्ताः’ पृथिव्याः ‘जङ्गम्’  
 उपरि अवस्थितम्, तत् सर्वम् ‘अन्तरिचं मेव’; ‘अन्तरिचं’ च  
 यावापृथिव्योः अन्तराले अवस्थानात् ‘मध्यं हि’; तत्तोलू-  
 खलस्यापि पृथिव्या उपर्यवस्थानेन मध्यभूतान्तरिक्षात्मक-  
 त्वात् तत्रोपधाने मध्यभागे एव योनिरुपधानं भवति ।  
 ‘मध्यतः’-इति; सार्वविभक्तिकस्तस्येति \* सप्तम्यर्थे तसि ।  
 दृष्टानुसारेणोक्तं मध्यं प्रमाचयति—“तस्मादिति । ‘वनस्पतीनां  
 मपि’ बीजानां मध्यभागं भिन्नोपपत्त्यात् † ‘मध्यतो योनिः’  
 इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अथोच्चायाः प्रजापत्यात्मकत्वेनोलूखले उपधानं प्रयं-  
 सति—“यदेवोच्चा मिति । “स इति । प्रजासर्जनेनावयव-  
 विच्छेपदेशापन्नः परावृण्यते—‘सः यः’ । ‘सः’ प्रजापतिः ‘अस्मत्सत’  
 विस्मृतावयवोऽभूत् । ‘सा उच्चा’ । चेति स्त्रीलिङ्गं सुभाषेयया ।  
 अतः प्रजापतेरेतन्नोक्तत्रयात्मकत्वात् ‘एषा’ ‘उच्चा’ अपि, ‘इमे’  
 पृथिव्यादयो ‘सोकाः’ । तथा सति प्रजापत्यात्मिकाया उच्चाया  
 उलूखले उपधानेन विस्मृताङ्गं प्रजापतिम् ‘एतस्मिन् सर्व-  
 स्मिन् प्रतिष्ठापयति’ । तदेव प्रदर्शयते—“प्राचोऽहं जर्मीति ।  
 उलूखलस्य बीदुम्बरत्वेन तस्य चाक्षरसात्मकत्वादक्षरत्वेन च

\* “इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते” -इति पा० सू० ५. ३. १३ ।

† ‘मध्यभागेन उच्यते’-इति च. पाठः ।

प्राधान्यां धारणात् प्राणात्मकत्वं मनुसन्धेयम् । प्राणावर्जं परस्परं ग्रहणं सुक्तम्, न केवलम् प्रतिष्ठापनमात्रम् ; अपि तु अश्ववधानेन तत्सम्बद्धं मेव कुर्यादित्याह— “अथो इति ॥ २७ ॥

उपशयानामोखाभिदे सति तत्प्रतिसम्भानार्थं प्रागवशिषिता मन्त्रसंस्कृता सृत् । तां चूर्णीकृत्योखायाः पुरोभागे निदध्यादित्याह— “अथेति । ‘उखां लोक भाजं’ स्थानभाजं उलूखलभाजिनीं कृत्वेत्यर्थः । उखाभिदेप्रतिसम्भानार्थत्वादुपशयायास्तपुरोभागे अवकाशः, अतस्तत्रोपनिवापेन स्वावकाशस्वाप्यवहिता भवतीत्याह— “एष हैतस्या इति ॥ २८ ॥

इष्टकोपधानप्रदेशे पक्वानां भवोपधानात्, उपशयायाः क्षापकत्वात् कथं सत्रोपधानं बुध्यत इति याज्ञिकानां जिज्ञासा भवतारयति— “तदाहुरिति । “अस्येति । उपधानप्रदेशावकाशस्वेत्त्वर्थः । नृत् मिति पाकविशेषाभिधानात् ‘पक्वा नृता’-इति न पुनरुक्तिः । अथवा पाकेन नृता सतीत्यर्थः । एतत्सोत्तरं हेधा दर्शयति— “यदेवेत्यादिना । ‘एषा’ उपशया नाम ‘यल्लुक्कृतेति यत्’, तेन असौ पक्वा नृता च भवति । मन्त्रेणाहृतैव नृदुपशया क्रियते, अतस्तस्याः मन्त्रेण निष्पादनादेव ऽपाकसम्पत्तिरित्यर्थः । किञ्च ‘यत्’ किञ्चिदपि वस्तु ‘एनं वैज्ञानरं, मग्निम्’ इष्टकोपधानसंस्कारकं प्राप्नोति, ‘तत्’ सर्वं ‘तत एव’ तत्प्राप्तेरेव ‘पक्वं नृतं’ सदेव ‘उपहितं भवति’ ॥ २९ ॥

उलोपधाने भुवासीति, इष्टु राय इति च, ही मन्त्री विद-

धानो व्याचष्टे—“भुवासीत्वादिनाम्” । “भुवासि प्रवृत्तेष्वम्”<sup>१</sup>  
 व्याख्यानम्—“भुवासीति स्मिरासि”—इत्यादिना प्रागुक्तम् ।  
 “एभ्य इति । प्रथमतो यदुक्तायाः जनित्वा, यथात् ‘एतेभ्यो’  
 योनिभ्यः’ लोकेभ्यः ‘जातवेदा भजायत’, यतस्मात्तु मर्मम् “इत  
 इत्यादिमन्त्रभागो ब्रूते इत्यर्थः । ‘एतैः’ गायत्र्यादिभिः ‘छन्दो-  
 भिः’ स ईवोऽग्निः स्वाधिकारं जानन्, ‘इव्यं वहति’ खलु ।  
 छन्दसां इविर्वहनं तैत्तिरीयके श्रूयते—“छन्दांसि देवेभ्योऽपा-  
 क्रामन् वो भांगानि इव्यन् वक्षाम इति § ॥ १० ॥

“इवे राय इत्यादिना ॥ इदमभ्युतिभ्यः सर्वेभ्यो रमस्ते-  
 तदुक्तं भवतीति व्याचष्टे—“एतस्मा इति । यत इय मुक्ता  
 सम्ययाजते, स्वयं मेव राजते, यतः “सम्नाडसि स्मराडसीति  
 मन्त्रभागो ब्रूते-इति व्याचष्टे—“सम्नाडसीति । “सारस्वताविति ।  
 ‘सरस्वान् मनः’ उच्यते, ‘सरस्वती च वाक्’, ‘एतौ’ ‘सार-  
 स्वती’-इति स्वादिभ्योऽच् प्रत्ययः । ‘उक्षौ’ वारिप्रवाहौ, वास-  
 नसाकौ । मनसस्तावत्, सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानरसाधारत्वात्,  
 वाचश्च तत्प्रतिपादनरसाधारत्वात्, उक्तत्वं मनयोः । ‘ती’  
 ‘त्वा’ ‘प्रावता’ पासयतां अभिज्ञानवदनव्यापाराभ्या मित्त्वर्थः ॥

३ उक्ते ! त्वं भुवा स्मिरा ‘सि’, ‘वक्ष्या’ वाक्यौ

१ का० मी० ख० १०. ५. ३ ।

† वा० सं० १३. ३३ ।

‡ पुरस्तादिभ्येव १०६ ए० ७ ई० प्रत्ययम् ।

§ ते० सं० ५. १. १. ३ (५भा० १८ः) ।

‡ वा० सं० १३. ३५ ।

च 'असि' । 'जातवेदाः' 'इतः' त्वत्तः सकामान् 'प्रथमम्'  
 'अधिजन्ते', पश्चात् 'एभ्यः' लोकेभ्यः अधिजातः । 'सः' तत्रा-  
 धिष्ठी जातवेदाः नायत्रादिभिन्द्भ्योभिः सह स्वाधिकारं  
 'प्रजानम्' 'देवेभ्यः' इविः 'वहतु' धारयतु ॥ (१) किञ्च स्वम्  
 'इवे' अवाय , 'राये' धनाय , 'सहवे' बलाय , 'सुक्ते' सुखं  
 ययः तस्मै , 'अर्जे' पयोदध्वाद्युपवेचनाय , 'अपत्याय' पुत्रार्थञ्च  
 'रमस्व' , तत् सर्वं सम्पादयितु मभिरतिं कुर्व । त्वं सम्भन्  
 राजमानाऽसि , स्वेनैव राजमानासि त्वाञ्च वाङ्मनसरूपी 'उक्ती'  
 प्रकर्षेण पालयताम् ॥ (२) इति मन्त्रद्वयस्यार्थः \* ।

अत्र कात्यायनः— "उलूखले उखां कृत्वोपग्रयां पिष्टा-  
 न्मुप्य पुरस्तात् ध्रुवासीत्सुखा मिति † । अथ "अधोपग्रयां  
 पिष्टेत्वादिभुतिक्रमेवानुष्ठानम् ‡ । उपग्रयोपनिवापोत्तरकाञ्च  
 मन्त्रवचनम् । उपधानमन्त्रयोर्हितसङ्ख्याया व्याख्यानं प्रागुक्तं  
 मित्वा— "इत्या मिति । किञ्च अग्निरेव मित्तया वदा  
 कृतत्वादुखायां वृथापद्येति द्विविधं रूपं मस्ति , अतएव  
 तदुपधानमन्त्रयोर्हितं सुपपद्यत इत्याह— "अधो इति । उत्तर-  
 वाक्यं तु व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

उपधानानन्तरं सुखाया उपरि होमं विधत्ते— "अधेति § ।  
 अभिहोमस्योपयोगं माह— "एतद्वा इति । भिन्नं वाक्यं

\* वा० च० १३. ३३, ३५ । .

† का० शौ० अ० १०. ५. ४ ।

‡ पुरकारिहोवाकाविंशौ कर्त्तौ ( ३३३ ए० ) इत्यष्टौ ।

§ का० शौ० अ० १०. ५. ५ ।



मेतत् । 'एतत्' कसु समभूत् । तदेवाह— "अथा मेतत् पूर्वं  
रेतस्सिक्तं भवति सिक्ता इति । पूर्वं मया सुखाया मेतश्चेतः  
सिक्तं भवति । सिक्ता इत्येतदिति निर्दिष्टप्रदर्शनम् । अन्वुदाय-  
समनन्तरं मेव सुखायाः सिक्ताभिः पूरितत्वात् तश्चेत इति-  
वाभिहितेन 'अभिकरोति' अभिवर्धयति । अत एव 'तस्मात्'  
इदानीं 'योनीं सिक्तं' रेतः 'अभिमिश्रयते' अवयविरूपेण मिश्रयते  
इत्यर्थः । विहितोऽभिहितः 'आज्येन', 'सुवेच', 'स्नाहा कारिच'  
'हाभ्या माज्येयीभ्यां गायत्रीभ्यां' कर्त्तव्य इत्याह— "आज्ये-  
मेत्यादिना । आज्यसुवादार्थवादसु प्रागुक्त इत्याह— "तस्मिन्नेति  
कथुरिति । "हाभ्या मित्रादिना ॥ ३२ ॥

उक्ते ऋषी. प्रदर्शयन् तयोर्युजिधातुसम्बन्धं प्रयच्छति—  
"अज्ये सुखाहीति \* । 'युक्तयतीभ्यां' युजिधातुसमीभ्या मित्रार्थः ।  
'एतत्' इतिनोपधानमन्वयोर्दुजिधातुसम्बन्धेन 'योनीं' सिक्तं  
'रेतः' 'युजति' नियच्छति । 'तस्मात्' इदानीं 'योनीं'  
सिक्तं 'रेतः' अवलोक्योत्पादनायै 'युक्तं' सत् 'न नियच्छते' न निय-  
तति, तन्निवावतिष्ठत इत्यर्थः ॥

मन्त्रयोरर्थसु— हे 'अज्ये' 'इव' दानादिगुणविशिष्ट !  
'तव' 'वै' 'अज्यासः' अज्याः 'साधकः' जातिगुणसम्बन्धिताः  
सन्ति । 'अज्यासः'—इति "अज्यवेरसुम्" † । तन् 'सुखा-  
हि' युक्तम् । "अहूतं अन्वसि"—इति ‡ विकारवत्तुम्,

\* वा० अ० १३ ३६, ३७ ।

† पा० अ० १. ५० ।

‡ पा० अ० २. ३. ७३ ।

“इयमोऽतस्तिष्ठः”—इति \* दीर्घः । एवं च सति ‘ह्रि’ चान्ताः  
‘अन्वये’ यच्चाद्यन् ‘अरन्’ अस्त ‘वहन्ति’ वक्षन्ति । वर्तमान-  
सामीप्ये भविष्यदर्थे षट् ॥ (१)

इ ‘अन्वे !’ ‘देवदत्तमान्’ देवानाङ्गयन्तीति देवदुवः । निव-  
न्तस्य सम्प्रसारणे कृते कृपन् । अतिशयेन देवदुवः देवदत्त-  
मास्त्रान्मास्त्रान् ‘निवृद्ध’ । क इव ! ‘रघोरिव’ रश्मि-  
इव । ईकारो मत्वर्थीयः । ‘हि’ यस्मादेवन्, अतः ‘सदः’  
सदसि । विभक्तिव्यत्ययः । ‘पूर्वः’ अग्निः, यो ज्येता सन्निवी-  
देदिति शेषः (२) ॥ २३ ॥

उच्चाया मग्नेः संवत्सरभरवन्, असंवत्सरभरवन् वेति पञ्च-  
द्वयमस्ति, तत्र प्रथमेऽभिहीम इत्याह— “स व्रदीति । ‘सः’  
अग्निः ‘यदि’ उच्चायां च ‘संवत्सरव्रतः स्यात्’, ‘अथ’ एतस्यान्  
‘अभिस्तुष्ट्यात्’ । संवत्सरस्य सर्वावच्छेदकत्वात् संवत्सरव्रतोऽपि  
सर्वावकाः, अभिहीमश्च सर्वः ; तेन छत्स्नतायाः सम्पादनात् ।  
अतः संवत्सरभरवच्छेदभिहीमो युज्यत इति दर्शयति । अ-  
संवत्सरभरवच्छेदं किं कर्तव्यमिति तन्नाह— “अथ व्रदीति \* ।  
असंवत्सरव्रतस्य पूर्वीकविपर्ययेवासर्वावकात्वादुपस्थानस्य चाही-  
मावकात्वेनानुकल्पस्य मिति । असर्वावकात्वात् तस्मिन् पक्षे  
तदेतदेव युक्तमितिवाह— “असर्वं वा इति । अस्मिन् पक्षे-  
ऽभिहीमं विकल्पेनाह— “अभि” त्वेन शुद्धवादिति । इयमादी-

\* पा० अ० ५. ३. १३५ ।

† पा० अ० ६. ३. १३१ ।

‡ सा० श्रौ० १७. ५. ६ ।

ऽन् विक्षल्यद्योतकः । “उपस्थानं वाऽसंवत्सरधृतिनः”—इति \*  
 हि सूत्रम् । संवत्सरधृतिनो होमवर्धियमेन तूपस्थानम् ; इतरस्य  
 तु विकल्पः । उपस्थानं होमो वेति सिद्धोऽर्थः ॥ १४ ॥

अथ वित्त्वान्मेः स्त्रयमाह्लाद्यादिषु त्रयोदशलिङ्गकासु कृत्स्न-  
 पञ्चाकारत्वं सम्पादयितुम् ( आह— “पञ्चरेव यदन्विरिति ।  
 “स )† एतान् पञ्च पशून् प्राविशत्, स एते पञ्च पशवो-  
 ऽभवत्”—इत्युक्तं मन्त्रेः पञ्चाकारकत्वं । ‘सः’ पञ्चाकारोऽग्निः  
 ‘अत्रैव’ उल्लासो स्त्रयमाह्लाद्यादाविष्टकाकलापे ‘सर्वः’ कृत्स्नः संस्त-  
 तः । कथं मित्वपेक्षायां तं मिष्टकाकलापं मङ्गत्वेन सम्पादयति,  
 —‘तस्मावाङ् प्राचः’—इत्यादिना । ‘स्त्रयमाह्लाद्या’ इष्टका, तस्य  
 पञ्चाकारस्त्रयान्मेः ‘अवाङ् प्राचः’ अपानास्त्रयः ; पञ्चादुद्भागस्त्रिति-  
 सामान्यात् । ‘द्वियसुः’ इष्टका, ‘ओषो’ कटी ; तदानन्तर्यात् ।  
 ‘रितस्त्रिवो’ इष्टके, ‘दृष्टयः’ महान्ति पार्श्वार्क्षीनि । ‘विश्वज्योतिः’  
 इष्टकर, ‘कोकसाः’ ऋक्षपार्श्वार्क्षीनि । ‘ऋतव्ये’, ‘जमुद’, गस-  
 प्रदेयतः पञ्चात् छठदेये अवस्थित उन्नतावयवः । ‘अषाढा’,  
 ‘घोषाः’ कम्भराः । ‘कूर्मः’, ‘शिरः’ । ‘कूर्मे’ द्वे प्राचाः, ‘ते’  
 ‘घोर्विन्’ घोर्विन्ध्याः ‘प्राचाः’ ; ‘ते’ चक्षुरादय इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एव मन्त्रेः कृत्स्नरूपत्वं प्रतिपाद्य, आदित्वरूपत्वं सूचयन्नेन  
 प्रतिपादयति— “तं वा एतं मिति । ‘तं मेतं’ चित्त्वं मन्त्रिन्  
 ‘इतः’ अवाचः प्राचादारभ्य आ-शिरर्धः ‘जहुं’ प्रागपर्वर्धं चिन्तो-

\* का० श्री० छ० १७. ५. ६ ।

† एतावान् पाठः सर्वेभ्यो भद्रहरेषु पुस्तकेषु ज्ञा०-वैवरहट-  
 पुस्तकेषु च विनष्ट इव प्रतीयते ।

ति' । किं मत इत्येकेनाग्निनादित्यता माह— “असौ वा आदित्य एवोऽग्निरिति । “अमुं तदिति । इतो लोकाः भूराद्याः ‘अमु मादित्यम्’ ‘अहुं’ ‘प्राचं’ प्रागचनं ‘दधाति’ स्थापयति । ‘तस्माद्’ एव यन्नानुकरणाद् ‘असावादित्यः’ ‘इतः’ पृथिवीलोकान् ‘अहुं’ ‘प्राङ्’ ‘धीयते’ धायंते, लोकैरिति शेषः ॥ ३६ ॥

अथ प्रदक्षिणावर्त्तनं विधत्ते— “अथैन मिति । ‘अथ’ अन्तरम् ‘एनम्’ आदित्यभूतं स्वयमादित्याद्यात्मकं मन्त्रं ‘प्रसलवि’ प्रदक्षिणं ‘आवर्त्तयति’ आवर्त्तते । अवाढां पूर्वार्धे उपधाय तस्याः दक्षिणतः कूर्मं सुपदधाति, ततः स्वयमादित्याद्या उत्तरतः उलूखलमुसले, तत्रैवोष्ठा सुपदधातीत्येव मावर्त्तयति । ‘तत्’ तेन प्रदक्षिणावर्त्तनेन ‘अमुम्’ आदित्यं प्रदक्षिणमावर्त्तयति । ‘तस्मात्’ यन्नानुकरणात् ‘असावादित्यः’ ‘इमान् लोकान्’ तथैव सञ्चरति ॥ ३७ ॥

प्रकारान्तरेण उलूखलमुसलयोरीत्तराध्वर्यं प्रशंसति— “उदर मुखेति । उखायाः सकाशात् \* अन्नेरुत्पत्तेः ‘उखा’ ‘उदरम्’, ‘उलूखल’ तु इविर्निष्पादनात् ‘योनिः’ । तथा च लोके, —उदरयोन्मोरीत्तराध्वर्यादनयोरपि तदात्मकयोरीत्तराध्वर्यं सुपपन्नं मित्यर्थः । मुसलस्य उदुलूखलदक्षिणभागे उपधानं सीपपत्तिकं माह— “यिन्न मिति । यिन्नस्य वृत्ताकारितया तदाकारत्वेन † मुसलं मैपि ‘यिन्नम्’ । तथाविधम् उलूखलस्य

\* ‘अस्मात्’—इति ज-पाठः ।

† ‘तदाकारत्वेन’—इति ज-पाठः ।

दक्षिणभागे उपदध्यात् । लोके दक्षिणभागे 'हवा' सर्वव-  
समर्थः पुत्रयः 'लोका सुपथेते', अतवाद्यापि \* सर्ववसमर्थत्वेन  
उच्यतात्, उच्यतेत्यस्य योनिस्त्वेन लीलात्, दक्षिणभागेऽस्य  
उपधाम सुपथम् † ॥

उक्त निबान्तेः पञ्चरूपत्वं प्रकारान्तरेण द्रष्टव्यम् । "यदु  
पथीरिति । "अग्निरिति । 'यत्' यतः, एष पञ्चः अतु, तथैव  
प्रागुक्तत्वात्; अतश्च पथोः अग्निरूपस्य संस्कृतस्य पञ्चवयव-  
सम्पादनाय ‡ निष्पादितस्य 'यद्वचम्', 'तद् दूर्वेष्टका' । तस्मात्  
'तस्य' दूर्वेष्टकारूपेणाग्नेन सुहितस्त्रैतस्याग्निरूपस्य पथोत्तरभागे  
'उदाहिततरः' उन्नततरो भवति; उत्तरभागे एव उच्यते-  
मुससायुपधानात् । उक्तं मर्थं प्रमादयति — "तस्मादिति ।  
यतोऽग्निरूपस्य पथोः दूर्वेष्टकात्वेन सुहिततरस्त्रैतस्त्रैतभागे  
उन्नततरोऽभूत्, तस्मादिदानीं मपि लोके अथाव्यवहारिणं अतश्च  
'पथोत्तरः सुहिततरतरो भवति' ॥ १८ ॥ १ [५. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्वन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमोऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* 'अस्य'—इत्येव मेव पदं मित्रं च-पुस्तके ।

† 'लीलात्तदुपपन्नम्'—इत्येवैह च-पाठः ।

‡ 'सम्पादनाय'—इत्येव पाठो च-पुस्तके ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

पशुशीर्षाण्युपदधाति । पशवो वै पशुशीर्षाणि  
पशुनेवैतदुपदधाति तान्युखाया मुपदधातीमे वै  
लोका उखा पशवः पशुशीर्षाण्येषु तल्लोकेषु पशून्  
दधाति तस्मादिमं ऽएषु लोकेषु पशवः ॥ १ ॥

यदेवोखायाम् \* । योनिर्वा ऽउखा पशवः पशु-  
शीर्षाणि योनौ तत् पशून् प्रतिष्ठापयति तस्मा-  
दद्यमानाः पच्यमानाः पशवो न क्षीयन्ते योनौ  
द्योनान् प्रतिष्ठापयति ॥ २ ॥

यदेव पशुशीर्षाण्युपदधाति । या वै ताः श्रिय  
एतानि तानि पशुशीर्षाण्यथ † यानि तानि कुसि-  
भान्येतास्ताः पञ्च चितयस्तद्यास्ताः पञ्च चितय इमे  
ते लोकास्तद्ये त ऽइमे लोका एषा सोखा तद्य-  
दुखायां पशुशीर्षाण्युपदधात्येतैरेव तच्छीर्षाभिरेवानि  
कुसिभानि सन्दधाति ॥ ३ ॥

\* 'यदेवोखायाम्'—इति क ।

† 'पशुशीर्षाण्यथ'—इति क ।

तान् पुरस्तात् प्रतीच उपदधाति । एतद्दे-  
व्युचैतान् प्रजापतिः पशूनालिप्सत त्वालिप्स्य-  
माना उदचिक्रमिषंस्तान् प्राचेषु समगृह्णात्तान्  
प्राचेषु सङ्गृह्य पुरस्तात् प्रतीच आत्मन् धत्ते ॥ ४ ॥

तदा एतत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं  
व्यवस्थान्ते पशवो नोदचिक्रमिषन्ति युचैतत् करोति  
यद्देवा अकुर्वन्स्तत् करवाचीत्यथो \* प्राचेष्वेवैनानेतत्  
सङ्गृह्य पुरस्तात् प्रतीच आत्मन् धत्ते ॥ ५ ॥

यद्देव पशुशीर्षाण्युपदधाति । प्रजापतिर्व्या-  
ऽह द मय ऽचासीदेक एव सोऽकामयतान् सृजेय  
प्रजाधियेति स प्राचेभ्य एवाधि पशुन्निरमिमीत  
मनसः पुरुषं चक्षुषोऽश्वं प्राचाङ्गां ओवाद्दुविं  
व्याचीऽश्वं तदादेनान् प्राचेभ्योऽधि निरमिमीत  
तस्मादाहुः प्राचाः पशव इति मनो वै प्राचानां  
प्रथमं तद्वान् मनसः पुरुषं निरमिमीत तस्मादाहुः  
पुरुषः प्रथमः पशूनां स्वीर्यवत्तम इति मनो वै

सुर्वे प्राणा मनसि हि सुर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिता-  
स्तद्यन् मनसः पुरुषं निरुमिमीत तस्मादाहुः पुरुषः  
सुर्वे पशुव इति पुरुषस्य ह्येवैते सुर्वे भवन्ति ॥  
॥ ६ ॥

तदेतदुन्नं सृष्टा । पुरस्तात् प्रत्यगात्मन्नधत्त  
तस्माद्यः कश्चान्नं सृजते पुरस्तादेवैनत् प्रत्यगात्मान्  
धत्ते तद्वा उत्खाया मुदं वा उत्खीदरे तदन्नं  
दधाति \* ॥ ७ ॥

अथैष हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति । प्राची वै  
हिरण्य मय वा एतेभ्यः पशुभ्यः सञ्चप्यमानेभ्य एव  
प्राणा उत्क्रामन्ति तद्यहिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति  
प्राणानेवैध्वेतदधाति ॥ ८ ॥

सप्त प्रत्यस्यति । सप्त वै शीर्षन् प्राणास्तान्-  
स्मिन्नेतदधात्यथ यदि पञ्च पशवः स्युः पञ्चैव कृत्स्नः  
सप्त-सप्त प्रत्यस्येत्युच्च वा एतान् पशुनुपदधाति सप्त-  
सप्त वा एकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सुर्वेषु  
प्राणान् दधाति ॥ ९ ॥



तद्यैकेऽपि । यद्येकः पशुर्भवति पक्षैव कृत्वः  
सप्त-सप्त प्रत्यस्यन्ति पक्षे वा ऽएतान् पशुनुपदधाति  
सप्त-सप्त वा ऽएकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सूर्जेषु  
प्राणान् दध्न इति न तथा कुर्यादेतस्मिन् वै पशौ  
सूर्जेषां पशूनां रूपं तद्यदेतस्मिन् प्रत्यस्यति  
तदेवेषु सूर्जेषु प्राणान् दधाति \* ॥ १० ॥

मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति । सम्यक् स्रवन्ति सरितो  
न धेना इत्यन्नं वै धेनास्तदिदं सम्यक्मुख मभि-  
सृष्ट्वन्त्यन्तर्दृष्ट्वा मनसा पूयमाना इत्यन्तर्ब-  
हृदयेन मनसा सताकं पूतं यं ऋक्षस्तस्य घृतस्य  
धारं अभिचाकशीमीति वा एवैतस्मिन्नग्नावाहुतौ-  
र्होष्यन् भवति ता एतदाह हिरण्ययो ज्योतसो  
मध्ये ऽचन्नेरिति य एवैष हिरण्यमयः पुरुषस्त मेत-  
दाह ॥ ११ ॥

ऋचे त्वेतीह । प्राची वा ऽऋक् प्राचेन सृष्ट्विति  
ऋचे त्वेतीह प्राची वै ऋक् प्राचेन हि रोचतेऽयो

प्राणायुः शीदं सर्वं रोचते भासे त्वेतीह ज्यो-  
तिषे त्वेतीह भास्वती हीमे ज्योतिष्मती चक्षुषी  
ऽपभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य व्याजिन मन्वेज्ज्वा-  
नरस्य चेतोऽहमिज्योतिषा ज्योतिष्मान् कस्मो  
व्यर्चसा व्यर्चस्वानितीह विश्वावतीभ्यां विश्वं हि  
श्रोत्रम् ॥ १२ ॥

अथ पुरुषशीर्षं मुदृष्ट्वाति । मह्यत्वेन देतत्  
सहस्रदा असि सहस्राय त्वेति सर्वं वै सहस्रं  
सर्वस्य दातासि सर्वस्मै त्वेतत् \* ॥ १३ ॥

अथैनानुपदधाति । पुरुषं प्रथमं पुरुषं तद्  
वीर्येणाप्ता दधाति + मध्ये पुरुषं मभित इतरान् पशून्  
पुरुषं तत् पशूनां मध्यतो ऽस्तरं दधाति तस्मात्  
पुरुष एव पशूनां मध्यतोऽस्ता ‡ ॥ १४ ॥

अश्वं चाविं चोत्तरतः § । एतस्यां तद्विध्यती

\* 'त्वेतत्'—इति म, च ।

'वीर्येणाप्ता दधाति'—इति अ-पुस्तके, इतरान् वा०-पेशरमहोदयेनापि ।

‡ 'मध्यतोऽस्ता'—इति ग, च ।

§ 'चोत्तरतः'—इति क, ख ।

पशु दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशु भूविष्टौ  
॥ १५ ॥

गां चार्जं च दक्षिणतः \* । एतस्यां तदिश्येतौ  
पशु दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशु भूविष्टौ  
॥ १६ ॥

पयसि पुरुष मुपदधाति । पशवो वै पयो  
यजमानं तत् पशुषु प्रतिष्ठापयत्यादित्वां गर्भं पयसा  
समङ्गधीत्यादित्यो वा ऽएष गर्भो यत् पुरुषस्तं  
पयसां समङ्गधीत्येतत् सहस्रस्य प्रतिमां विश्व-  
रूप मिति पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा पुरुषस्य चैव  
सहस्रं भवति परिहृङ्गिध हरसा माभिमन्त्या इति  
पर्येनं व्यङ्ग्यध्विषा मेनः ॥ द्विसीरित्वेतत्तत्तायुषं  
ह्यबुद्धिं चीयमान इति पुरुषं तत् पशुनाऽं शतायुं  
करोति \* तस्मात् पुरुष एव पशुनाऽं शतायुः ॥  
॥ १७ ॥

अथोत्तरतोऽश्वम् । . अतएव जूत मिति आ-

तस्य वा ऽएष जूतिर्यदुश्वो व्युत्पन्नस्य नाभि मिति  
 व्याकृतो ज्ञाश्वोऽश्वं जज्ञान् स रिरस्य मध्य  
 ऽश्वत्थापो वै सरिर मसुजा उ वा ऽश्वश्वः शिशुं  
 नदीनां हरि मद्रिवुध मिति गिरिव्वा ऽश्वद्रिर्गिरि-  
 बुधा उ वा ऽश्वपोऽग्ने मा हिंसीः परसे व्योम-  
 म्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकेष्वेन मा  
 हिंसीरित्येतत् \* ॥ १८ ॥

अथ दक्षिणतो गाम् + । अजंस् मिन्दु मरुष  
 मिति सोमो वा ऽहन्दुः स वैष सीमो ऽजस्रो  
 यज्ञैर्भुरख्य मिति भर्तार मित्येतदग्निमीडे पूर्व-  
 चित्तिं नमोभिरित्याग्नेयो वै गौः पूर्वचित्ति मिति  
 प्राञ्चः अग्नि मुचरन्ति प्राञ्च मुपचरन्ति स पर्वभि-  
 र्कृतुशः कल्पमान इति यद्वा ऽएष चीयते तदेष  
 पर्वभिर्कृतुशः कल्पते गां मा हिंसीरदिति वि-  
 राज मिति विराड् वै गौरन्नं वै विराडन्नं सु  
 गौः ‡ ॥ १९ ॥

\* 'रित्येतत्'—इति ग, च ।

† 'गाम्'—इति ग, च ।

‡ 'गौः'—इति ग, च ।

अथोत्तरतोऽविम् । अरुचीं त्वष्टुर्व्यस्य  
 नाभि मिति व्यास्यौ च हि त्वाष्ट्री चाविरुविं  
 अज्ञानां रजसः परस्मादिति श्रोत्रं वै परं रजो  
 दिशो वै श्रोत्रं दिशः परं रजो महीं साहस्री  
 मसुरस्य माया मिति महीं साहस्री मसुरस्य  
 माया मिथेतदन्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्निती-  
 ने वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकोप्तेन मा हिंसी-  
 रिथेतत् \* ॥ २० ॥

अथ दक्षिणतोऽजम् † । यो ऽध्निरध्नरध्न-  
 जायतेत्यध्निरध्ना ऽएषो ऽध्नरध्नजायत शोकात्  
 पृथिव्या उत वा दिवस्परीति यदै प्रजापतेः शोका-  
 दजायत तद्विष्य पृथिव्यै च शोकादजायत तेन  
 प्रजा विश्वकर्मा अजानेति व्याम्ना ऽध्नो व्याधो  
 वै प्रजा विश्वकर्मा अजान त मन्ने ईडः परि ते  
 व्युत्पत्तिरिति यथैव बहुस्तथा बन्धुः ॥ २१ ॥

\* 'रिथेतत्'—इति न, च ।

† 'अजम्'—इति न, च ।

तु ऽएते पशवः । तान्नानोपदधाति नाना  
सादयति नाना सूददीहसाधिवदति नाना ह्येते  
पशवः \* ॥ २२ ॥

अथ पुरुषशीर्षं मभिजुहोति । आहुतिर्वै यज्ञः  
पुरुषं तत् पशूनां यज्ञियं करोति तस्मात् पुरुष  
एव पशूनां यजते ॥ २३ ॥

यद्वै नदभिजुहोति । शीर्षंस्तुहीर्यं दधात्या-  
ज्येन जुहोति व्यञ्जो वा ऽप्राज्यं व्यीर्यं वै  
व्यञ्जो व्यीर्यं मेवास्मिन्नेतदधाति स्वाहाकारेण व्यृषा  
वै स्वाहाकारो व्यीर्यं वै व्यृषा व्यीर्यं मेवास्मिन्नेतद्  
दधाति त्रिष्टुभा व्यञ्जो वै त्रिष्टुब् वीर्यं वै व्यञ्जो  
व्यीर्यं त्रिष्टुब् वीर्यं मेवास्मिन्नेतद् व्यीर्यं दधाति ॥  
॥ २४ ॥

स वा ऽपहर्षं मनुद्रुत्य स्वाहाकरोति । अस्त्रि  
वा ऽकृगिदं तच्छीर्षकपालं विश्राप्य यदिदं मन्तरतः  
शीर्षो व्यीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥ २५ ॥

अथोत्तर मर्चञ्च मनुद्रुत्य स्वाहाकरोति । इदं  
तच्छीर्षकपालं सन्धाय यदिद् मुपरिष्ठाच्छीर्षी  
व्यीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥ २६ ॥

चिचं देवाना मुदगादनीक मिति । असौ वा  
ऽचादित्य एष पुरुषस्तदेतच्चित्रं देवाना मुदेत्यनीकं  
चक्षुर्मित्रस्य व्यरुचस्याग्नेरित्यभयेषां हैतदेवमनु-  
ष्ट्याणां चक्षुराग्रा द्यावापृथिवी ऽचन्तरिक्ष मित्युदान्  
वा ऽएष इमां लोकानांपूरयति सूर्य चात्मा जग-  
तस्तत्पुरुषेभ्यश्च सत्सर्वस्यात्मा यच्च जगद्यच्च  
तिष्ठति ॥ २७ ॥

अथोत्सर्गेरुपतिष्ठते \* । ऽएतदे यद्वेतान् प्रजापतिः  
पशूनालिप्तत त् ऽचालिप्समाना अथोचक्षेष्वा  
मेतैरुत्सर्गेः शुचं पाप्मानं मपाहस्तयेवैषा मय मेतदेते  
रुत्सर्गेः शुचं पाप्मानं मपहन्ति ॥ २८ ॥

तदेवैष । यं य मेव पशु मुपदधति तस्य  
तस्य शुच मुत्पद्यन्ति नैऋतं पाप्मानं मभ्युपदधा-

महा ऽवृत्ति ते ह ते शुचं पाप्मानं मय्युपदधति  
याऽ हि पूर्वस्य शुचं मुत्सृजन्ति ता मुत्तरेण सहो-  
पदधति ॥ २६ ॥

व्यपिरिक्तामसु चैक ऽउपतिष्ठन्ते । जह्वां  
शुचं मुत्सृजाम इति ते ह ते शुचं पाप्मानं मनूद्य-  
न्यूह्यो ह्येतेन कर्मणोत्पूह्यां मु शुचं मुत्सृजन्ति ॥  
॥ ३० ॥

वाञ्छेनैवान्नि मुत्सृजत् । इमे वै लोका एषो  
ऽग्निरेभ्यस्तुल्लोकीभ्यो बहिर्वा शुचं दधाति बहि-  
र्व्येदीयं वै व्येदिरस्यै तद् बहिर्वा शुचं दधात्युदङ्  
तिष्ठन्नेतस्याऽ ह दिश्येते पशवस्तद्यवैते पशव-  
स्तदेवैष्येतच्छुचं दधाति \* ॥ ३१ ॥

पुरुषस्य प्रथमं मुत्सृजति । तऽ हि प्रथमं  
मुपदधातीमं मा हिंसीर्दिपादं पशु मिति द्विपादा  
ऽएष पशुर्यत् पुरुषस्तं मा हिंसीरित्वेतत् सह-  
साक्षो मेधाय चीयमान इति हिरण्यशकलैर्व्या

\* 'दधाति'—इति क ।



एष सप्तसाधो मेधायेत्यन्नायेत्येतन् मयुं पशुं मेध-  
 मन्ने जुषस्वेति किम्पुरुषो वै मयुः किम्पुरुष  
 मन्ने जुषस्वेत्येतत्तेन चिन्वानस्तन्वोः निषीदेत्यात्मा  
 वै तनूस्तेन चिन्वान् आत्मान् संस्क्रुष्वेत्येतन्  
 मयुं ते शुयच्छतु यं द्विषस्तं ते शुयच्छत्विति तन्  
 मयौ च शुचं दधाति यं च देष्टि तस्मिंश्च ॥ ३२ ॥

अथाश्वस्य । इमं मा हिंसोरेकशफं पशु  
 मित्येकशफो वा एष पशुर्दशवस्तं मा हिंसी-  
 रित्येतत् कनिक्रादं व्याजिनं व्याजिनेष्विति कनि-  
 क्रादो वा एष व्याज्यु व्याजिनेषु गौर मारय्य  
 मनु ते दिशामीति तदस्मै गौर मारय्य मनुदिशति  
 तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान् आ-  
 त्मान् संस्क्रुष्वेत्येतद्गौरं ते शुयच्छतु यं द्विषस्तं  
 ते शुयच्छत्विति तद्गौरे च शुचं दधाति यं च  
 देष्टि तस्मिंश्च ॥ ३३ ॥

अथ गोः । इमं साहस्रं शतधार सुख  
 मिति साहस्रो वा एष शतधार उत्सो यद् गो-  
 र्व्यध्यमानं सरिरस्य मध्य इतीमे वै लोकाः

सरिरु सुपञ्जीव्यमान मेषु लोकेष्वित्येतद् घृतं दुष्हा-  
ना मदिति जनायेति घृतं वा ऽएषादितिर्ज्जनाय  
दुहेऽग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्निती मे वै लोकाः  
परमं व्योमेषु लोकेष्वेन मा हिंसीरित्येतद्भव  
मारण्य मनु ते दिशामीति तदस्मै गवय मारण्य  
मनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन  
चिन्वान् आत्मान् संस्करुष्वेत्येतद्भव ते शुग-  
च्छतु यं द्विषस्तं ते शुगच्छत्विति तद् गवये च शुचं  
दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३४ ॥

अथावेः । इमं मूर्धायु \* मित्यूर्णावल मित्येतद्  
व्यक्तव्यस्य नाभि मिति व्याक्तव्यो ह्यविस्त्वचं पशूनां  
द्विपदां चतुष्पदा मित्युभयेषां चैष पशूनां त्वग्  
द्विपदां च चतुष्पदां च त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनिच  
मित्येतद् त्वष्टा प्रथमं रूपं त्विचकाराम्ने मा  
हिंसीः परमे व्योमन्निती मे वै लोकाः परमं  
व्योमेषु लोकेष्वेन मा हिंसीरित्येतद्भव मारण्य

मनु ते दिशामीति तदस्मा ऽउष्ट्र मारय्य मनुदिशति  
 तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान चा-  
 त्मानं संस्करुष्वेतदुष्टं ते शुगच्छतु यं द्विषस्तं  
 ते शुगच्छत्विति तदुष्टे च शुचं दधाति यं च हेष्टि  
 तस्मिंश्च ॥ ३५ ॥

अथाजस्र । अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकादिति  
 यदै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकाद-  
 जायत सो ऽपश्यज्जनितार मय ऽइति प्रजा-  
 पतिर्जनिता सो ऽपश्यत् प्रजापति मय ऽइत्ये-  
 तत् तेन देवा देवता मय ऽभायन्निति \* व्याम्वा ऽच-  
 जो व्याजो वै देवा देवता मय मायस्तेन रोह  
 मायन्नप मेध्यास इति स्वर्गो वै लोको रोहस्तेन  
 स्वर्गं लोकं मायन्नप मेध्यास इत्येतच्छरभ मारय्य  
 मनु ते दिशामीति तदस्मै शरभ मारय्य मनु-  
 दिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान  
 आत्मानं संस्करुष्वेतच्छरभं ते शुगच्छतु यं

दिशस्तुं ते शुगृच्छत्विति तच्छरभे च शुचं दधाति  
यं च हेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३६ ॥

तदाहुः । यां वै तत् प्रजापतिरेतेषां पशूनां  
शुचं पाप्मानं संपाहंस्तु एते पञ्च पशवो ऽभवन्तु  
एत एतत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयज्ञियास्तेषां ब्राह्म-  
णो नाश्रीयास्तानेतस्यां दिशि दधाति तस्मादे-  
तस्यां दिशि पर्जन्यो न वर्षको यवैते भवन्ति \*  
॥ ३७ ॥

प्रत्येत्याग्निं मुपतिष्ठते । एतद्वां एतदंयथा-  
यथं करोति यद्गन्तौ सामिचिते बहिर्व्येद्येति तस्मा  
एवैतन्निष्ठुते ऽहिंसाया ऽप्राग्नेय्यान्मय एवै-  
तन्निष्ठुते गायत्र्या गायत्र्योऽग्निर्यावानग्निर्याव-  
त्यस्य मावा तावतैवास्मा एतन्निष्ठुतेऽनिरु-  
क्तया सूर्वा वा ऽनिरुक्तः सूर्वाणैवास्मां एत-  
न्निष्ठुते यविष्ठवत्यैतद्वास्य † प्रियं धाम यद्यविष्ठ

\* 'भवन्ति'—इति क ।

† 'यविष्ठवत्यैतद्वास्य'—इति क, ख ।

इति यदे जात इदं सर्वं मयुवत तस्माद्यविष्ठः ॥

॥ ३८ ॥

त्वं यविष्ठ दाशुष इति । यजमानो वै दा-  
श्वान् नृः पाहीति \* मनुष्या वै नरः शृगुधी गिर  
इति शृगु न इमां स्तुति मित्येतद्रक्षा तोक  
मुतत्मनेति प्रजा वै तोकं रक्ष प्रजां चात्मानं  
चेत्सेतत् † ॥ ३९ ॥

आरुह्याग्निं जघनेन स्वयमादृक्षां परीत्यापस्या  
उपदधाति । आप एता यदपस्या अथ वा ऽए-  
तेभ्यः पशुभ्यः आप उत्क्रान्ता भवन्ति तद्यदपस्या  
उपदधात्येवैतत्पशुष्वपो दधात्यननर्हिताः पशुभ्य  
उपदधात्यननर्हितास्तत्पशुभ्योऽपो दधाति पञ्च-पञ्चो-  
पदधाति पञ्च क्षेते पशवः सर्वत उपदधाति  
सर्वत एवैष्वेतदपो दधाति ॥ ४० ॥

तद्याः पञ्चदश पूर्वाः । \* ता अपस्या व्यञ्जो

\* 'दाश्वान् पाहीति'—इति क, ख; इदं च केचनमहोरक्षेणापि ।

† 'चेत्सेतत्'—इति ग, घ ।

वा ऽद्यापो व्यञ्चः पञ्चदशस्तुम्भाद्येनापो .यन्त्यपैव  
तत्र पाप्मानं घ्नन्ति व्यञ्चो ह्येव तस्यार्द्धस्य .पाप्मानं  
मपहन्ति तस्माद्वर्षत्यप्रावृतो अजिदयं मे व्यञ्चः  
पाप्मानं मपहनदिति \* ॥ ४१ ॥

अथ याः पञ्चोत्तराः । ताश्चन्द्रस्याः . पशवो  
वै चन्द्राण्युत्तमं पशवोऽन्नं मु पशोर्मांसं मथ वा  
ऽएतेभ्यः पशुभ्यो मांसान्युत्क्रान्तानि भवन्ति तद्य-  
च्छन्द्रस्या उपदधात्येष्वेवैतत् पशुषु मांसानि दधा-  
त्यनन्तर्हिताः पशुभ्यः उपदधात्यनन्तर्हितानि तत्  
पशुभ्यो मांसानि दधात्यन्तरा अपस्या भवन्ति  
वाङ्माश्चन्द्रस्या अन्तरा द्यापो वाङ्मानि . मांसानि  
॥ ४२ ॥

तदाहुः । यदिमा आप एतानि मांसान्यु-  
क्तं त्वक् क लोमेत्यन्नं व्याव पशोस्त्वगन्नं लोमं तद्य-  
च्छन्द्रस्या उपदधाति सैव पशोस्त्वक्तलोमाथो यान्य-  
मून्युखाणा मजलोमानि तानि लोमानि वाङ्मोखा

भवत्यन्तःशब्दि पशुशौर्षादि वाच्यानि हि लोमान्य-  
न्तर आत्मा यदीतरेण यदीतरेणेति च स्माह  
शाण्डिल्यः सर्वानिव व्ययं क्वात्मानं पशुनसंस्कुर्म  
इति ॥ ४३ ॥

यदेवापस्या उपदधाति । प्रजापतेर्व्यसस्ता-  
दाप आयंस्तास्वितास्वविशद्यद्विशत्तस्माद्विशतिस्ता  
अस्याहुलिभ्यो ऽध्यस्त्रवन्नन्तो वा ऽअहुलयो ऽन्तत्  
एवास्मात्ता आप आयन् ॥ ४४ ॥

स यः सः प्रजापतिर्व्यसत्सत । अय मेव स  
योऽय मन्निक्षीयतेऽय या अस्मात्ता आप आयमे-  
तास्ता अपस्यास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्मात्ता  
आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्पतिदधाति तस्मादेता  
अतोपदधाति \* ॥ ४५ ॥

अप + त्वेमन्सादयामीति । व्यायुर्वा ऽअपा  
मेम यदा ह्येवेष इतश्चेतश्च व्यात्यथापो यन्ति व्यायी  
तात् सादयति ॥ ४६ ॥

\* 'अतोपदधाति' -- इति 'अ' ॥

† 'आपा' -- इति 'अ' ।

अपां त्वोद्गन्त्सादयामीति \* । ओषधयो वा  
ऽअपा मोक्षं यत्र ह्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो  
जायन्त ऽओषधिषु तां सादयति ॥ ४७ ॥

अपां त्वा भस्मन्सादयामीति † । अभं ‡ वा  
ऽअपां भस्माधे तां सादयति ॥ ४८ ॥

अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति । विद्युद्वा  
ऽअपां ज्योतिर्विद्युति तां सादयति ॥ ४९ ॥

अपां त्वायने सादयामीति । इयं वा ऽअपा-  
मयन मस्यां ह्यापो यन्त्यस्यां तां सादयति  
तद्या अस्मैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्ने-  
तत् प्रतिदधात्यथो ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति  
॥ ५० ॥

अर्णवे त्वा सदने सादयामीति । प्राणो वा  
ऽअर्णवः प्राणे तां सादयति ॥ ५१ ॥

समुद्रे त्वा सदने सादयामीति । मनो वै

\*, † 'यामीति'—इति न, ष ।

‡ 'अभं'—इति, 'यामीत्यभं'—इति च इटं वेबरमहोदयेन ।



समुद्रो म॒नसो वै समुद्राद्वाचा॒भ्या दे॒वास्त्रयीं  
 वि॒द्यां नि॒रख॑नस्त॒देष श्लो॒को ऽभ्यु॒क्तो ये समुद्रा॒ग्नि-  
 र॒ख॑न॒न्दे॒वास्तौत्था॑भि॒रभि॒भिः सु॒दे॒वो ऽप॒द्य तद्वि॒द्या-  
 द्य॒त्र निर्व्व॑प॒णं दधु॑रि॒ति म॒नः समुद्रो व्याक् तौत्था-  
 भि॒स्त्रयीं वि॒द्या निर्व्व॑प॒ण मे॒त॒देष श्लो॒को ऽभ्यु॒क्तो  
 म॒नसि ता॒ण् सा॒दय॑ति ॥ ५२ ॥

सरि॒रे त्वा सु॒दने सा॒दयामी॑ति । व्या॒म्वै सरि॒रं  
 व्या॒चि ता॒ण् सा॒दय॑ति ॥ ५३ ॥

अ॒पां त्वा क्ष॒ये सा॒दयामी॑ति । अ॒क्षु॒र्व्वा ऽअ॒पां  
 क्ष॒यस्त॒त्र हि स॒र्व्वदे॒वापः क्षि॒यन्ति अ॒क्षुषि ता॒ण्  
 सा॒दय॑ति ॥ ५४ ॥

अ॒पां त्वा स॒धिषि सा॒दयामी॑ति । श्रो॒त्रं वा  
 ऽअ॒पाण् स॒धिः श्रो॒त्रे ता॒ण् सा॒दय॑ति तद्या अ॒स्यै-  
 तेभ्यो रु॒पेभ्य॑ अ॒पाप॑ अ॒यंस्तु अ॒स्मिन्ने॒तत् प्र॒ति-  
 द॒धात्य॒द्यो ऽए॒तान्मे॒वास्मि॑न्ने॒तद्रूपा॑णि द॒धाति ॥ ५५ ॥

अ॒पां त्वा सु॒दने सा॒दयामी॑ति । द्यौ॒र्व्वा ऽअ॒-  
 पा॒ण् सु॒द॒नं दि॒वि द्या॒पः स॒न्ना दि॒वि ता॒ण् सा॒द-  
 य॑ति ॥ ५६ ॥

अपां त्वा सधस्ये सादयामीति । अष्टरिचं  
वा अपां सधस्य मन्तरिचे तां सादयति ॥ ५७ ॥

अपां त्वा योनो सादयामीति । समुद्रो वा  
ऽअपां योनिः समुद्रे तां सादयति ॥ ५८ ॥

अपां त्वा पुरीषे सादयामीति । सिकता  
वा ऽअपां पुरीषं सिकतासु तां सादयति ॥  
॥ ५९ ॥

अपां त्वा पाथसि सादयामीति \* । अन्नं वा.  
ऽअपां पाथोऽन्ने तां सादयति तद्यां अस्यैतेभ्यो  
रूपेभ्य आप आयंस्तु अस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्यथो  
ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति ॥ ६० ॥

गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि । चैष्टुभेन  
त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा  
सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तुने  
त्वा छन्दसा सादयामीति तद्यां अस्यैतेभ्यश्छन्दोभ्य  
आपं आयंस्तु अस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्यथो ऽएतान्ये-  
वास्मिन्नेतच्छन्दांसि दधाति ॥ ६१ ॥

ता एता अङ्गुलयः । ताः सर्व्वत उपदधाति  
 सर्व्वतो हीमा अङ्गुलयो ऽन्तेषूपदधात्यन्तेषु हीमा  
 अङ्गुलयश्चतुर्होपदधाति चतुर्हा हीमा अङ्गुलयः पञ्च-  
 पञ्चोपदधाति पञ्च-पञ्च हीमा अङ्गुलयो नानोपद-  
 धाति नाना हीमा अङ्गुलयः सहात्सहात्सादयति  
 समानं तत् करोति तस्मात् समानसम्बन्धनाः ॥

॥ ६२ ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [ ५, २, ] ॥

अथ पशुशीर्षाणां सुपधानं विधाय प्रशंसति— “पशु-  
 शीर्षाणीति \* । पशुशीर्षाणां पञ्चवयवत्वेन पशुत्वम् ; अतश्च  
 तदुपधाने ध्यूना मेवोपधानं भवतीत्यर्थः । तेषां सुपधानस्य  
 स्थानविशेषं विधत्ते— “तानीति । “यो वै स प्रजापतिर्व्यंक्ष-  
 सतेषां लोकेमे वै लोका उल्लेमे लोकाः प्रजापतिः”—इत्युच्चाया  
 लोकत्रयरूपत्वस्योक्तत्वात् † तस्मा सुपधाने ‘लोकेषु’ ‘पशून्’  
 निहितवान् भवति । ‘तस्मात्’ इमे ‘पशवः’, ‘एषु लोकेषु’  
 भवतिष्ठन्ते ॥ १ ॥

प्रकारान्तरेणाप्युच्चाया सुपधानं प्रशंसति— “यदेकोच्चाया  
 मिति । उच्चायाः सकाशादभ्युत्पत्तिः ‘यीनिः उच्चा’, अतस्ततो-

\* का० श्रौ० सू० १०. ५. १३ ।

† पूर्व्वस्मिन् ब्राह्मणे १० क० ( २१४ पृ० ) दृश्यम् ।

पधाने योनावेव 'पशून्' निदधाति । 'तस्मात्' 'पश्यमानाः'  
उपभुज्यमानाः, 'पथ्यमानाः' जीर्यमाणा अपि 'पश्यवः' 'न  
जीयन्ते' । उपभोगात्परिपाकाच्च विनाशे सत्यपि 'योनि' प्रति-  
ष्ठितत्वात् नोच्छिद्यन्ते, किन्तु पुनरुत्पद्यन्त इत्यर्थः । 'पथ्य-  
मानाः'-इति कर्मकर्त्तरि यक् प्रत्ययः ॥ २ ॥

अथ तानि पशुशीर्षाणि श्रीरूपत्वेन प्रशंसति— "यद्दे-  
वेति । 'याः' खलु प्राशुकाः † 'त्रियः', 'ताः' एव 'एतानि' 'पशु-  
शीर्षाणि'; अत एतेषां मुपधाने त्रिया मेवोपधानं भवति ।  
उच्चायाः परम्परया कबन्ध्यात्मकत्वम् । तत्रोपधाने कबन्धशिरसां  
सन्धानं भवतीति दर्शयति— "अथ यानीति । 'तानीति  
अश्वः सश्वरणावसरपरामर्शः । 'यानि ताति' 'कुप्तिस्थानि'  
कबन्धानि, तानि 'एताः' अथ सम्पाद्यमानाः 'पञ्च चितयः' ।  
चित्वात्मकत्वन्तु कबन्धानां पञ्चत्वसङ्ख्यासामान्यात् । ततस्तथा-  
विधाः 'याः पञ्च चितयः', 'ताः' 'इमे' दृष्टिव्यादयो 'लीकाः' ।  
चित्तीनां प्रजापत्यवयवात्मकत्वात्, लोकानां अपि तथाभावा-  
दिति । तथा च 'ये' 'ते' एते 'इमे लोकाः', ते 'एषा उच्चा';  
तस्माः लोकत्रयात्मकत्वस्य प्राशुक्तत्वात् । अतश्च 'उच्चायां' पशु-  
शीर्षाणां मुपधानेन ‡ 'एतैः' कबन्धानि संयोजयति § । 'शीर्षभिः'  
-इति "शीर्षं ऋन्सि"-इति ॥ शीर्षवादेशः ॥ ३ ॥

\* पा० सू० ३. १. ८७ । \*

† इका० ५५० २ ब्रा० ७७० ( ३ भा० ५४ ८० ) द्रष्टव्याः ।

‡ 'मुपधाने'-इति ज-पाठः ।

§ 'संयोजयति'-इति ज-पाठः ।      | पा० सू० ३. १. ६० ।

उखायां सुपधानं पुरस्तादारभ्य प्रत्यगपवर्गं कर्त्तव्यं मित्वाह—  
 “तानिति । पशुशीर्षाणां अपि पशुत्वात् ‘तान्’—इति पुञ्जिङ्गवच-  
 नम् । विहितप्रकारे उपधाने कारणं वक्तुं प्रतिजानीते— “एतद्वा  
 इति । तत्रैतत् कारणं स्वत्वित्थः । तदेव दर्शयति— “यत्रै-  
 तानिति । ‘यत्र’ यस्मिन् प्रस्तावे ‘प्रजापतिः’ ‘एतान्’ पशून्  
 ‘आलिखत’ आलिख्यु मेच्छत् । ततः ‘आलिख्यमानाः’ ते पशव  
 उत्क्रमितु मेच्छन् । उत्क्रमिष्वंशं ‘तान्’ ‘प्रायेषु’ शीर्षगतेषु \*  
 ‘सर्वप्राणाधारत्वाच्छिरसां प्राणत्वम् । प्राणा इति इन्द्रियाण्यु-  
 च्यन्ते, ‘तान्’ प्रायेषु सङ्गृह्य, ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्माद्देशात् ‘प्रतीचः’  
 प्रत्यङ्मुखानाञ्च, ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘अधत्त’ स्वाधीनीकृतवान् ।  
 पलायनेच्छूनां † पशूनां शिरांसि गृहीत्वा स्वाभिमुखं माञ्च्य  
 वशीकृतवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

“तदेति । तथा सति ‘देवा यदकुर्वन्’, ‘तत्’ एवेतस्मिन्नपि  
 काले क्रियते<sup>१</sup> खलु । अतश्च यजमानो ‘देवा यदकुर्वन्’, ‘तत्’  
 ‘करवाचि’—‘इति’ अभिप्रायेण ‘एतत्’ उत्तमप्रकारं सुपधानं ‘करोति’  
 —इति ‘यत्’, ‘इदञ्’ ‘अस्मात्’ एव निमित्तात् ‘ते पशवः’ ‘अस्माद्’  
 यजमानात् ‘नोचिक्रमिवन्ति’ । न केवलं तेन सुप्रायश्चेष्टा-  
 भावः, अपि तु ‘एतान्’ पशून् ‘प्रायेषु’ सङ्गृह्य, ‘पुरस्तात्’  
 ‘प्रतीचः’ आञ्च्य, स्वस्मिन्निहितवान् भवति ॥ ५ ॥

उखायां पशुशीर्षाणां सुपधानं प्रजापत्युदरे अन्नं दधातीति  
 दर्शयितुं मास्त्रायिका मन्वतारयति— “यदेवेति । ‘पशुशीर्षा-

\* ‘शीर्षं गतैषु’—इति ज-पाठः ।

† ‘पलायने’—इति ज-पाठः ।

पशुपदधाति'-इति 'यत्', तत्कारणं मुच्यते इत्यर्थः । 'अग्ने' सृष्टेः पूर्वं 'प्रजापतिः एक एवासीत्' खलु, 'सः' प्रजापतिः 'अन्नं सृजय', प्रजारूपेण जायेयेति 'अकामयत्' । 'प्रजायेय' इति अन्न-सृष्ट्युपायप्रदर्शनम् । 'सः' एवं जातेच्छुः प्रजापतिः 'प्राचेभ्य एव पशून्विरमिमोत' । तदेव विवृणोति— "मनसः पुरुष मिति । "प्राणादिति । प्राणसञ्चारसंस्मानत्वाद् प्राचेन्द्रिय मुच्यते । यतः 'एनान्' पशून् 'प्राचेभ्यो निर्मितवान्', 'तस्मात्' लोके 'प्राणाः पशव इत्याहुः' जनाः । किञ्च । 'सर्वेषां मिन्द्रियाणां 'मनः' खलु 'प्रथमं श्रेष्ठम्'; तदुपधानादेव सर्वेषां स्वस्वव्यापारक्षमत्वात् । अतश्च मनसः पुरुषस्य निर्माणात् लोके 'पुरुषः पशूनां' मध्ये श्रेष्ठः 'दीर्यवत्तमः'-इति 'आहुः' । अपि च 'मनस्येव सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः'-इति, तदेव खलु 'सर्वे प्राणाः'; अतश्च सर्वप्राणात्मकात् 'मनसः पुरुषं निरमिमोत'-इति 'यत्', 'तस्मादाहुः पुरुषः सर्वे पशवः'-इति । यतः 'पुरुषस्य' ह्येवेति 'सर्वे पशवः' भवन्ति; सर्वपशुसम्पादनक्षमत्वात् पुरुषस्य; अतः 'पुरुषः सर्वे पशवः'-इति 'आहुः' । सर्वेन्द्रियप्रतिष्ठाकृपात् मनसः सकाशात् पुरुषस्य निर्माणेन तस्य पशुसम्पादनक्षमत्वात् पुरुषः सर्वे पशवः इत्याहु-रित्यर्थः ॥ ६ ॥

• "तदेतदिति । 'एतत्' पुरुषादिपशुलक्षणम् 'अन्नं सृष्ट्वा', स प्रजापतिः 'पुरस्तात्' प्रतीचीनं मात्मानि 'अधत्त' । 'तस्मात्' लोकेऽपि कश्चनापि 'अन्नं' सम्पादयति, एतत् सम्पादनं 'पुरस्तादेव' प्रतीचीनं मात्मानि धारयति; मुखप्रदेशादेवाकलय प्रती-

चीन मभ्यवहारात् । अतश्च 'तत्' पुरस्तात् प्रतीचीनं तेषां पञ्चशीर्षाणां सुपधानं सुखायां क्रियत इति यत्, तेन प्रजापतिवदरूपायाम् 'उखायां' पुरस्तात् प्रतीचीनं मन्त्रं निहितवान् भवति ॥ ७ ॥

अथ तेषु पञ्चशीर्षेषु सुवर्णशकलानां प्रक्षेपं विधाय प्रशंसति—  
“अथैषिति \* । प्राचसाधनत्वाद्दिरप्स्यस्य प्राणात्मकत्वम् । “अथ वा इति । ‘अथ’ खलु ‘सकृत्पुण्याग्नेभ्यः’ एभ्यः ‘प्राणा उत्क्रामन्त्येव’ । अतश्च ‘दिरप्स्यशकलान् प्रत्यस्य’-इति यत्, एतेन ‘प्राणानेव’ ‘एषु’ पशुषु नि-‘दधाति’ ॥ ८ ॥

‘सुवर्णशकलानां सङ्ख्याविशेषं विधत्ते—“सप्त प्रत्यस्यतीति ॥’ । शिरसि,— धार्गेका, नेत्रे द्वे, श्रोत्रे द्वे, नासाविवरे च द्वे, इति सप्त प्राणाः । तथा सप्तदिरप्स्यशकलनिधानेन सप्तप्राणवान् भवतीत्याह— “सप्त वा इति । पञ्चपशुपञ्चः, एकपशुपञ्चः, इति पञ्चद्वयमस्ति । तत्र पञ्चपशुपञ्चे ‘पञ्चकत्वः’ ‘सप्त-सप्त’ दिरप्स्यशकलान् प्रतिशीर्षं प्रत्यस्यति ॥ ९ ॥

“तद्वैक इति । ‘यदि एकोऽपि पशुर्भवति’, तदापि ‘पञ्चकत्व एव’ ‘सप्त-सप्त’ सुवर्णशकलान् प्रत्यस्येदिति ‘एके’ ग्राहिन आहुः । तस्या वदताश्च तेषां मय माधयः ।— पञ्चानां मपि धशूनां स्थाने एकस्योपधानादसावह्वर्युः ‘पञ्च’ सस्येतान् ‘पशून्’ ‘उपदधाति’ । तथा ‘च’ ‘एकैकस्मिन् पशौ’ ‘सप्त-सप्त प्राणाः’ विद्यन्ते । तस्मात् ‘तावता’ दिरप्स्यशकलानां प्रत्य-

\* का० श्री० ख० १७. ५. ७ ख ।

† का० श्री० ख० १७. ५. ७ क ।

सनेन 'एतेषु सर्वेष्वपि प्राणान् देहः'—इति दूषयति— “न  
तथा कुर्यादिति ।

कथं तर्हि सर्वेषां पशूनां प्राणसङ्घटनेति तत्राह— “एतस्मिन्  
वा इति । ‘एतस्मिन्’ उपधीयमाने ‘पशौ एकस्मिन्’ एव ‘सर्वेषां  
पशूनां रूपम्’ अस्ति ; तेषां सर्वेषां मपि कार्ये एतस्यैव सामर्थ्याव-  
धारणात् । तस्मात् ‘एतस्मिन्’ सप्तसङ्ख्याविशिष्टहिरण्यकल-  
प्रत्यसनेन ‘सर्वेष्वपि’ पशुषु प्राणप्रतिसम्भानं सम्पादितवान्  
भवति ॥ १० ॥

तत्र प्रथमं सुखे शकलस्य प्रत्यसनं विधत्ते— “सुखे प्रथमं  
मिति \* । तत्र मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे— “सम्यक् स्मवन्तीति”† ।  
‘धेना इति अक्षम्’ उच्यते । ‘तदिदम्’ अक्षं ‘सुखम्’ ‘अभि’-लक्ष्य  
‘सम्यक् संस्मवति’ । कथं मिव ? ‘सरितो न’ सरित इवेति । अथ  
मर्धो मन्त्रभागेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । द्वितीयं पादं व्याचष्टे—  
“अन्तर्दृष्टेति । ‘घः’ ‘अट्टुः’ अङ्गुटिलाङ्गः , ‘तस्य’ ‘अन्तः’  
अरीरमन्त्रे ‘हृदा’ हृदयदेशेन ‘मनसा’ च ‘सता’ विद्यमानेन  
‘अक्षं पूतं भवति’ , सारासारमेदेन विवेचितं भवति । हृदय-  
देशस्य त्वन्नावतरणप्रदेशत्वात् शोधकत्वम् । ‘घः’ ‘अट्टुः’ अङ्गु-  
टिलः शोभनकर्मा यजमानः , ‘तस्य’ मनसेति । तृतीयं पादं  
व्याचष्टे— “हृतस्य धाराः”—इत्यनेन । होचमाणाङ्गुल्यभिधानं  
सङ्गृहेत मित्वाह— “हृतस्य” धारा इति । चतुर्थपादे

\* का० जी० अ० १७. ५. ७ अ ।

† का० जी० अ० १७. ५. ७ अ ।



अग्निमध्यावृत्तित्तिरस्त्रयपुरुषाभिधानं क्रियत इति व्याचष्टे—  
“त्तिरस्त्रय इति ॥

तदयं भस्मस्वाहः \* ।— अकुटिलावयवस्य अन्तर्मध्ये शरीरे,  
हृदयेन विद्यमानेन, मनसा च शोध्यमाना, धेना अवाग्निः,  
इदं सुखं मभिलक्ष्य स्वप्नन्ति; यथा नद्याः समुद्रम्, तद्वत् ।  
तथाविधे अग्निम् सुखे शक्यं निदधामि । निश्चितं शक्य-  
त्वेदं ‘अन्तर्मध्ये यो त्तिरस्त्रयो वेतसः इति’ संस्मरन्ती ‘हृतस्त्र-  
धाराः’ ‘अभिवाक्योमि’ अभिपश्यति । चाक्योमोति पुरुष-  
व्यत्ययः, यङ्गुगन्तस्य रूपम् † । ‘त्तिरस्त्रय’-शब्दः “ऋ-  
वाह्यात्वादिना निपातितः ‡ ॥ ११ ॥

अथ दक्षिणनासाविवरे समन्तत्वं शक्यनिधानं विधत्ते—  
“ऋचे त्वेतीति § । ‘इय’-इति दक्षिणनासाविवरस्याभिनयेन  
निर्दिश्यः । व्याचष्टे— “प्राचो वा इति । यतः ‘प्राचो वा’  
‘अर्चति’ प्राप्नोति; प्राचवतैव सर्वस्य प्राप्तेः । अनेकार्थत्वात्  
धातूनां मर्षतिरत्र प्रात्वर्यः । अतश्च ऋमिति प्राचः । तथा  
सति ‘ऋचे’ प्राचाय सचरभाचाय प्रत्यक्षामीति मन्त्रार्थः ॥ ।  
समन्तनासाविवर मध्यभिनयेन निर्दिश्य समन्तत्वं शक्यनिधानं  
विधत्ते—“ऋचे त्वेतीति ¶ । ‘इह’-इति समन्तनासाविवरस्याभिनयेन

\* वा० मं० १३. ३८ ।

† पा० छ० २. ४. ७४ ।

‡ पा० छ० ४. ४. १० ।

§ का० श्री० १०. ५. ८, ९ ।

॥ वा० मं० १३. ३९. १ ।

¶ वा० मं० १३. ३९. २ ।

निर्देशः । 'प्राची वै' 'इक्' दीव्यसानः ; 'प्राचेन हि' ग्ररीरा-  
दिकं दीव्यते । प्राचार्यं मेव 'सर्वम्' 'इदं' जगत् प्रियं भवति ॥

दक्षिणनेत्रं मभिगद्येन निर्दिष्टं समन्त्रकं शकलनिधानं  
विधत्ते \* — "भावेत्वेतीति † । 'इह' दक्षिणनेत्रे । "ज्योतिषे  
त्विति ‡ । 'इह' सव्ये नेत्रे प्रत्यस्वति । यतः 'इमे' चक्षुषी  
'भास्यती' चर्यप्रकाशमलक्षयतेजोविशिष्टे, 'ज्योतिष्यती' स्वयं  
ज्योतिर्विशिष्टे, अतस्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रयोः 'भावे' ज्योतिषे  
इति प्रयुक्तम् ।

श्रोत्रयोः समन्त्रकं शकलप्रत्यसनं विधत्ते § — "अभूदिति ॥ ।  
'इदं' दक्षिणश्रोत्रं 'विष्णुस्य भुवनस्य' समस्तस्य लोकस्य 'वाजिनं'  
शशोपलम्बिसाधनम् 'अभूत्' । न केवलं मत्स्यैकभूत्, अपि  
तु 'वैष्णानरस्य' अभूत् । अपि तु 'वैष्णानरस्य' सर्वजनानां  
जनकत्वेन सम्बन्धिनः । "तस्वेदम्"—इत्यप् प्रत्ययः ¶, "नरे सञ्ज्ञा-  
याम्"—इति \*\* पूर्वपदस्य दीर्घः । तस्य 'अन्ने' प्रजापतेरपि  
शशोपलम्बिसाधनं अभूत् । तादृशे तत्र त्वां प्रत्यस्वामीत्यर्थः ।  
"अग्निज्योतिषेति †† । 'ज्योतिषां ज्योतिषान्' प्रशस्तज्योति-

\* का० जी० ख० १७. ५. १० ।

† वा० सं० १३. ३६. ३ ।

‡ वा० सं० १३. ३६. ४ ।

§ का० जी० ख० १७. ५. १६ ।

¶ वा० सं० १३. ३६. ५ ।

¶ पा० ख० ४. ३. १२० ।

\*\* पा० ख० ४. ३. १२६ ।

†† वा० सं० १३. ३६. ६ ।

ज्ञानं, प्रशस्त्यौतिर्विशिष्टोऽग्निरिव । 'वर्षसा वर्षंस्नानं' प्रशस्त-  
वर्षोविशिष्टोऽग्निरिव । 'इव'-शब्दोऽध्याहार्यः । 'इदं' यद्विद्येतत्  
श्रोत्रं प्रकीर्तते, तदाविधे तत्र त्वां प्रक्षिपामीत्यर्थः ॥

मन्त्रे विश्वपदप्रयोगस्वाभिप्राय माह— “विश्ववतीभ्या  
मिति \* । यद्यप्येकस्या मेव विश्वपदप्रयोगः, तथापि प्राचक्ष-  
त्यायेन लिङ्गसमवायादुभयोरपि विश्ववतीभ्या मित्वभिधानं सुप-  
पद्यते । यतः श्रोत्रं 'विश्वं' विश्वव्यापकाकाशात्मकत्वात् ; अत-  
स्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रे विश्वपदप्रयोगः ॥ १२ ॥

पशुशीर्षाणां सुपधानम्, तस्य स्थानविशेषम्, उपधाने  
प्रकारभेदम्, तदुत्पत्त्यादिकञ्च प्रदर्शयन्तरम्, उपधानार्थं  
पुरुषशिरस 'उद्ग्रहणं' विधत्ते— “अथेति † । उद्ग्रहणस्योप-  
योग माह— “महयत्येवैनदेतदिति । एतेनोद्ग्रहणेन 'एतत्'  
पुरुषशिरो 'महयति', पूजयति सत्कृतवान् भवति ; अत  
एव धजमानदेवत्वत्वाज्जुहुयन्त्यते, अतश्चदेवत्वत्वादुपधुक्षि-  
यन्त्यते ।

विहिते उद्ग्रहणे मन्त्रं विधाय, व्याचष्टे— “सहस्रदा  
इति ‡ । “सर्वं वा इति । यतः 'सहस्रं सर्वं' ; तस्मिन्नेव ग्रन्था-

\* तत्पठस्त्विवम्—

“अभुदिदं विश्वस्य सुवन्स्य वाजिन मन्त्रेर्वैश्वानरस्य च”—

इत्येका ; अथापरा, —“अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिस्नान् सक्ती

वर्षसा वर्षंस्नानं”—इति । वा० सं० १३. ३६. ५, ४०. १ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. १४ ।

‡ वा० सं० १३ ४०. २ ।

दीना मत्तर्भावात्, अतः 'सर्वस्य दातासि' । 'तस्मात्' 'सर्वस्ये  
त्वा' उदृष्टव्यामि 'इत्येतत्' उक्तं भवतीत्यर्थः । "सहस्रदा इति,  
विच्-प्रत्ययान्तं पदम् । "सर्वस्य दातासीति, पुरुषविवक्षया  
पुनरुक्तम् ॥ १३ ॥

अथैतेषां पशूनां सुपधानं मनूय, तत्र पुरुषस्य प्राथम्यं  
विधत्ते — "अथेति \* । उपधाने पुरुषस्य प्राथम्यात् वीर्येण  
पुरुष मतिशयितं करोतीत्याह — "पुरुषं तदिति ।" उक्ताया  
सुपधानस्य विहितत्वात् तस्यां मध्ये पुरुषोपधानं तत्पा-  
र्ययोरितरपशूनां सुपधानं कुर्यादित्यर्थः । "मध्ये पुरुषम्"—  
इति विहितस्य सन्निवेशस्य प्रयोजनं माह — "पुरुषं तदिति ।  
'तत्' तेन सन्निवेशेनोपधाने पशूनां 'मध्ये' 'पुरुषम्' 'अत्तारं'  
भोक्तारं करोति ; भोक्तुः पार्श्वं भोग्यस्वावस्थानात् । 'तस्मात्'  
सम्प्रत्यपि 'पशूनां' मध्ये 'पुरुष एव' 'अत्ता' भोक्ता भवति ॥ १४ ॥

सामान्येनाभित इतरान् पशूनि ११ विधानात् कस्य कुत्र  
पार्श्वं उपधानं मिति विशेषजिज्ञासाया माह — "अश्वश्चा-  
विच्छेति ‡ ॥ १५ ॥

"गाश्चाजच्छेति § ॥ १६ ॥

"मध्ये पुरुष मिति, पुरुषोपधानस्य मध्यस्थानं विहितम् ॥ ,

\* का० श्रौ० सू० १७०५. ११—१७ ।

११ इतः पूर्वस्या मेव कङ्किकायां ( ३७१ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७०५. १५ ।

§ का० श्रौ० सू० १७०५. १६ ।

॥ इहेव चतुर्दशकङ्किकायां ( ३७१ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

तत्रैव विभक्तं विधत्ते— “पयसीति \* । उक्तमध्वे पयःपूरिते  
पुख्यं सुपदध्यात् । एवञ्च सति यजमानस्य पुख्यत्वात् पयसः  
पशुकार्यत्वेन पशुत्वात् तत्र ‘यजमान’ प्रतिष्ठापयति ।

विहिते उपधाने मन्त्रं विदधानः पदयो विभज्य व्याचष्टे—  
“आदित्यं गर्भं मिति † । पुख्य इति यत्, ‘एष आदित्यो गर्भः’  
श्रुत्वा, अदितेः सकामादिवस्त्रदास्य आदित्योऽजायत । तथा च  
श्रूयते— “ततो विवस्त्रानादित्योऽजायतेति ‡ । विवस्त्रकम्बन्धिनश्च  
सर्वे पुख्या इति पुख्यत्वात् आदित्यगर्भत्वम् । तथा सति  
‘पुख्यम्’ एव ‘पपसा समङ्स्थीत्वेतत्’ उक्तं भवति । द्वितीय-  
पादेऽपि ‘सहस्रस्य प्रतिमा’-इत्यनेन पुख्य एव विवक्षित  
इति दर्शयति— “सहस्रस्येति । यतः पुख्यस्यैव पशूनां  
‘सहस्रं’ भवति, अतोऽयं सहस्रस्य सदृशः । अत एव  
तैत्तिरीयके श्रूयते— “सहस्रं वै प्रति पुख्यः पशूनां यज्य-  
तीति § । ऋतोयपादे ‘हरः’-शब्देनार्चिरुच्यते । ‘माभिसंस्त्रा  
इति’ अनेन हिंसन मिति दर्शयति— “परिवृङ्ख्वीति ।  
अतुर्वपादे ‘ग्रतायुव’ छन्दश्च-इत्येतदुच्चारणेन पुख्यस्य ग्रता-  
युव सन्वाद्यतोत्पाद— “ग्रतायुव मिति ॥

हे अन्ते ! ‘वीयमानः’ त्वं पूर्वोक्तप्रकारेणादित्यगर्भरूपं ‘सह-  
स्रस्य’ प्रतिमां सदृशम् ; अत एव ‘विश्वरूपम्’ पुख्यं ‘पपसा’

\* का० श्रौ० सू० १०. ५. १० ।

† वा० सं० १३ ४१—४५ ।

‡ ते० सं० ५. ५. १ । दृष्टापि ३. १. ३. ४-प्रत्ययम् ।

§ ते० सं० ५. १. ६. ५ ( ५ भा० ५१८० ) ।

‘आर्त्तं कुर्व’ । किञ्च ‘एनं’ परितो वर्ज्यम्, ‘अर्चिषा मां हिंसी’,  
‘यतायुवश्च कष्टहि’ इति मन्त्रार्थः ॥ १७ ॥

उत्तरतोऽश्वस्योपधानं मनूय, तत्र मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे  
“अथेति ॥” । ‘अश्व इति यत्, एव वा तस्य जूतिः’ खलु ।  
‘जूति’-शब्देन वेग उच्यते, तद्रूपत्वात् अश्वोऽपि तच्छब्देन,  
वायुवेग इत्यर्थः । अपा मधिपतेः ‘वदस्व’ सम्बन्धित्वात्  
‘अश्वः’ ‘वदस्व नाभिः’ । अत एव श्रूयते— “प्रजापतिर्वद-  
स्वायाश्च मनयदिति ॥” । ‘सरिरम्’-इति § आप उच्यन्ते, ‘अश्व-  
वाप्सुजः’ खलु ; समुद्रमध्ये वडवारूपेणीत्यत्रत्वात् । अत एव  
“अप्सुयोनिर्वा अश्वः”-इत्यन्यत्र श्रुतम् ॥ । “अद्रिबुध मितेति ।  
‘अद्रिः’ इति, ‘गिरिः’ उच्यते ; ‘आपः’ ‘बुधाः’ गिरिमूलाः खलु ;  
ततोत्पद्यमानत्वात् । तथा च तथाविधजलसमुद्भूतत्वात् अश्वो-  
ऽपि गिरिबुध इत्यर्थः । “इमे वै लोकाः परमं ओम”  
-इत्यनेन मन्त्रगतं ओमपदं मितरलोकयोरप्युपलब्धम् । मिति  
तद्वर्णितम् ।

हे ‘अप्ते !’ वायुवेगविशिष्टम्, ‘वदस्व’ ‘नाभिं’ नाभिस्थानी-  
यम्, ‘सरिरम् मध्ये’ उत्पन्नम्, अत एव ‘नदीनां शिष्टम्’,

\* वा० सं १३. ४१ ।

† का० औ० ख० १७. ५. ३५ ॥ ‘पूर्वं मन्त्रस्यापरं मन्त्रः ।

उक्ताया मेवोत्तरभागे शिष्टोऽप्युच्यते’ ।

‡ ते० सं० २. ३. १२. १ (२भा ४५५८०)

§ ‘सरिरम्-इति’-इति छन्द-पुस्तकयोः ।

॥ उपरिष्ठात् १३का०-१५० ११भा० १६क० दृश्यम् ।

‘अद्रिबुध्नं’ गिरिर्मूलोत्पत्तिस्नानम्, ‘हरिम्’ आरोढुर्हर्तारम्, ‘अश्वम्’ ‘परमे व्योमन्’ उत्तमष्टेषु पृथिव्यादिषु ‘लोकेषु’ ‘मा हिंसोः’-इति मन्त्रार्थः ॥ १८ ॥

दक्षिणदेशे गोरपधान मनुष्य, स्तुतिवत् मन्त्रं विधत्ते—  
“अयेति ॥” “इन्दुरिति । ‘सोमो हि इन्दुः’-इति, यतः ‘स एषः’  
‘अजस्रः’ सोमो हि ; सर्वदा पयोऽक्षयस्त्वामृतस्य स्वन्दनात्,  
इत्योसु कंदाचिदुपपन्नयो विद्यत इति तदभिप्रायेणाजस्रं मित्व-  
क्तम् । ‘भुरष्णु मिति’ दोहनादिभिः ‘भर्तार मित्वेतत्’ उक्तं  
भवति, गोजातीयस्य वृत्त्यात् । अथ वा ‘गौः’ पुङ्गवः,  
‘अजस्रः’ सोमः ; सर्वदा आह्वादकत्वात् ; कविसाधनत्वेन  
भर्तृत्वाद् ‘भुरष्णु मिति’ ।

“अग्निं मीड इति । यतो ‘गौः’ आग्नेयः’, ततोऽसावग्निः ।  
यतः ‘अग्निं’ प्राञ्च सुहरन्ति’, ‘प्राञ्चम्’ एव होमादिना ‘उप-  
चरन्ति’, अतः अग्निः ‘पूर्वचितिः’ पूर्वस्मिन् प्रदेशे ‘चितिः’  
अनुष्ठेयस्य प्रतीतिर्यस्य, स तथोक्तः । “यद्वा इति । ‘एषः’  
अग्निः चीयत इति यत्, तेनेवः ‘पर्वभिः’ इष्ट्याचितिसचयेः  
‘अतुमः’ तेन तेन अतुना ‘कल्पते’ ; चित्सचयानां पर्वणा  
अतुरूपत्वादित्यर्थः ।

“विराड् वा इति । अक्साधनत्वाद् विराजोऽक्षत्वम् ॥

०० ब्रा० अ० १३ ४२ ।

† का० श्री० अ० १०. ५. १४ । ‘पूर्वं’ गोरपर मन्त्रस्य । उक्त्या  
दक्षिणे भागे० ।

‡ ‘तस्मै अर्तं तस्मै प्ररः’-इति ( २ भा० १४५२० ) इष्ट्योर्द्वौभिर्गणम् ।

गोरपि तथैवात्र मिति, 'विराड्'-इति 'गीः' एवेत्यर्थः ।  
 सर्वदाज्ञादकत्वेन 'अजस्रं मिन्दुम्', 'अरुधम्' आरौचमानम्,  
 कृष्णादिवाधनत्वेन भर्त्तारम्, 'पूर्वचित्तिम्' पूर्वत्रानुष्ठेयप्रतीति-  
 विशिष्टम्, 'अग्निं' तदीयत्वेन तदाम्बकं, 'गाम्' अत्रोपधानाय  
 'नमोभिः' नमस्कारैर्युक्तम्, 'अग्निम्' ईडे । हे अग्ने ! 'पर्वभिः'  
 चितिलक्षणेः 'अतुशः कल्पमानः' तथाविधस्त्व 'अदितिम्'  
 अखण्डनीयं 'विराजम्', 'अन्नम्' अन्नसाधनम्, 'गं' मां हिंसीः  
 इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथोत्तरप्रदेशे अवेरुपधानं मनूय मन्त्रं विधत्ते—  
 “अथेति । “वारुणो च ह्येति । यतोऽविः 'वरुणस्य' अग्निष्ट-  
 निवारकस्याग्नेर्नाभिस्थानीया ; रूपाणां निर्माता यः त्वष्टा,  
 तस्यानुग्रहणाय रूपयुक्ता ; अतोऽविः 'त्वष्टुर्वरुणी', 'वरुणस्य  
 नाभिः' च ॥

“ओषं वा इति । 'ओषं' खलु 'परं रजः' उत्प्लष्टो  
 लोकाः । तदेवोपपादयति— “दिशो वा इति । ओषं च  
 दिशः खलु ; तस्य तत्कार्यत्वात् । 'दिशः परं रजः' दिग्भ्य-  
 खावय उत्पद्यते ; दिशां सर्वोत्पत्तिमग्निमित्तकारणात् । 'महीं  
 साहस्रीम्'-इत्यत्र, महोपदस्य महतीत्यर्थ इति दीर्घतम्—  
 “महती मिति ।

मन्त्रार्थस्तु †, — हे 'अग्ने' ! 'त्वष्टुः' वरुणीयरूपयुक्ता,  
 'वरुणस्य' नाभिस्थानीया, 'परं रजः' दिग्भ्यो जाता,

\* वा० अं० १३ ४३ ।

† वा० अं० १३ ४४ ।



‘महती’, सहस्रमूर्त्त्याङ्गम्, ‘असुरस्य मायां’ सुवर्भानोरसुरस्य सम्बन्धित्वेन निर्मिताम् । अत एव तैत्तिरीयके — ‘सुवर्भानुर्वा असुरः सूर्यं तमसाविध्यत्, तस्मै देवाः प्रायश्चित्ति मेष्टव्यस्य यत् प्रथमं तमोऽपन्नन् सा कृष्णाविरभवदिति \* श्रूयते । तादृशीम्, ‘अविं’ पृथिव्यादिव्येतेषु लोकेषु ‘मा हिंसीः’ ॥ २० ॥

अथ दक्षिणदेशे अजस्रोपधान मनुष्य, मन्त्रं विदधानो व्यावष्टे — “अयेति । “अम्निर्ज्ञा इति । ‘एषोऽग्निः’ अजः, ‘अग्नेः’ प्रजापतेः ‘अध्यजायत’ अग्नेः सकाशादुत्पन्नत्वादजस्रस्यमित्वम् । अग्नेः सकाशादुत्पत्तिरेव प्रदर्शयते — “शोकादिति । ‘यद्वा प्रजापतेः शोकादजायत’, ‘तद् दिवः’, ‘पृथिव्यै’ पृथिव्याश्च ‘शोकादजायत’; प्रजापतेस्तदात्मकत्वात् । अम्निरिति प्रजापतिरेवोच्यते, ‘यत् येनेत्यर्थः । ‘विश्वकर्मा’ प्रजापतिः ‘वाचः’ सकाशात् ‘प्रजाः’ ‘जजान’ । जनिरन्तर्भावित्यर्थः, उत्पादितवान् । अजस्रं वागात्मकः, ततश्च ‘येन’ ‘विश्वकर्मा’ प्रजाः ‘जजान’ । ‘यथैव यस्तुः तन्वा बभूव’-इति मन्त्रो यथैव, तथैव व्याख्याने स्पष्टार्थ इत्यर्थः ।

इ ‘अग्ने !’ उपधीयमानो ‘यः’ अम्नात्मकोऽजः ‘अग्नेः’ प्रजापतेः ‘अध्यजायत’ । तत् कथम् ? यतः ‘पृथिव्याः शोकात्’, अपि च ‘दिवः’ शोकाद्, अध्यजायत । किञ्च, ‘विश्वकर्मा जजान’, ‘येन’ ‘प्रजाः’ उत्पादयामास । तम् अजं ते ‘इडः’ कोपः ‘परिहृत्तु’ अपवर्जयतु ॥ २१ ॥

\* ते० सं० १. १. २. ३ ( २५० २५० ) ।

† वा० सं० १५ ४५ ।

प्रकृतानां पशूनां नानात्वात् पृथगेवोपधानसूदनानि  
कर्त्तव्यानीत्याह— “त एते पशव इति ॥ २२ ॥

उपधानानन्तरं पुरुषशिरसि होमं विधत्ते— “अथेति ।  
अभिहोमस्योपयोग माह— “आहुतिरिति । यत् एषा खलु  
आहुतिः, तदात्मको ‘यज्ञः’ स्मात्, तथा सत्यमभिहोमेन  
‘पशूनां’ मध्ये ‘पुरुषं’ ‘यन्नियं’ यन्नाहं ‘करोति’ । ‘तस्मात्’  
‘पुरुष एव पशूनां’ मध्ये ‘यजते’ ॥ २३ ॥

न केवलमभिहोमस्य यन्नियत्वमेव प्रयोजनम्, अपि तु तस्य  
वीर्यत्वमपीत्याह— “यद्देवेति । ‘एतत्’ पुरुषशीर्षम् ‘अभि’-  
सत्त्वं ‘लुहोति’ इति ‘यत्’, तेन ‘शीर्षम्’ शीर्षि ‘वीर्यं दधाति’ ।  
“शीर्षं गृह्णतीति \* शिरःशब्दस्य शीर्षवादेशः । तत उच्चरत्याः  
सप्तम्याः “सुपां सुलुगित्यादिना † लुक् ॥

एतदेव वीर्यनिधानमभिहोमसाधनभूताण्यसुवादीनां मध्ये  
प्रत्येकसाध्यतया दर्शयति— “आज्येनेत्यादिना ‡ आज्यस्य  
वज्रत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्— “वृत्तं खलु वै देवा वज्रं कृत्वा  
सोममन्नमिति § । वज्रस्य ग्रहणरूपत्वाद्दीर्यत्वम् । “वृषा वै  
सुवः”—इति § वृषा पुरुषः । सुवस्य पुत्तिङ्गत्वाद् वृषत्वम् ।  
वृषो वीर्यत्वाद्दीर्याधानहेतुस्तु मिति स्वाहाकारस्याप्येक

\* पा० सू० ६. १. ६० ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ तै० सं० ५. २. ७ ( १ भा० ३६९० )

§ “योषा. वै संकृ, वृषा सुवः”—इतीहैव १. ३. ११. ६ ( १ भा०

१७६ पृ० ) ग्रहणम् ।

मेव वीर्यत्वम् । “बन्धो वै विष्टुविति । विष्टुभो हननसाध-  
नस्वसादृश्याद् वक्ष्यता । तथा च वक्ष्यस्य वीर्यरूपत्वात्  
त्रिष्टुभोऽपि वीर्यतया विष्टुवाक्येन ‘वीर्यैव’ हेतुना ‘अस्मिन्’  
पुरुषशिरसि ‘वीर्यं दधाति’ ॥ २४ ॥

चित्रं देवानां मुदगादित्यस्त्राभिर्होममन्त्रस्य पूर्वपादैनैका-  
हुतिः क्रियते, अपरेण चाग्न्या ; अत एव कात्यायनः,—  
“चित्रं देवानां मित्वर्ध्वेन सुवाहुतिरिति \* । तच्च पूर्वाध्व-  
साध्या माहुतिं दर्शयति—“स वा अर्ध्वं मिति । ‘सः’ सत्त्वर्ध्वः  
‘अर्ध्वं मनुद्रुत्व’, स्वाहाकारेणैका माहुतिं सम्पादयेदित्यर्थः ।  
ननु किमर्थं मर्ध्वं स्वाहाकरणं मित्यत आह—“अस्मि  
वा ऋगिति । ऋचोऽस्त्रात्मकत्वं पादवन्धेन दार्ढ्ययोगात् ।  
ऋचो दार्ढ्यं तैत्तिरीयकोऽधीयते—“यदृचा तद् दृढ मिति † ।  
तथाच सति ऋचो विभागेन तद् ‘इदं’ पुरुषसम्बन्धि ‘शीर्ष-  
कपासम्’ ‘विहाव्य’ विभिय । “ओ हाक् त्वागे” ‡, अन्तस्य  
अपि रूपम् । ‘शीर्षः’ शिरसोऽन्तरे ‘यदिहम्’ अत्र विद्यमानं  
‘वीर्यम्’ ‘तदस्मिन्निदधाति’ ; आञ्जस्वाहाकारयोर्वीर्यात्मकत्वा-  
दित्यर्थः ॥ २५ ॥

अधोत्तरार्ध्वसाध्या माहुतिं दर्शयन् तत्राप्युपयोग आह—  
“अथेति । “इदं तदिति । पूर्वम्, अन्तरे वीर्यनिधानार्थं कपाल-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १८ ।

† ते० बृ० १. ५. १०. १९० ।

‡ मु० प० ८ धा० ।

भेदनात्, पुनः 'तत्' 'कपालं' 'सम्भार्य' शिरस उपरितनं  
'वीर्यम्' अत्र निहितवान्, "स वा सर्वं मनुहुत्वेत्यादिना \*

सूचितम् ॥ २६ ॥

मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे— "चित्रं देवाना मिति † । 'एषः'  
उपधोयमानः 'पुरुषः', 'असौ' परिदृश्यमानः 'आदित्यः'  
खलु ; आदित्यस्य सर्वात्मकत्वात् । आदित्यमण्डलञ्च 'देवानां'  
रश्मीनां 'चित्रं मनोकं' समुदायः । तथा सति 'अस्य' पुरु-  
षस्योपधाने 'तदेतत् चित्रं देवानां मनोकम्' 'उदेति' ; अतः  
उच्यते— "चित्रं देवाना मुदगादनीकम्"—'इति', मन्त्रेष्वेत्वर्थः ‡ ।  
"चक्षुर्मिषस्य वरुणस्याम्नेः"—'इति', एवमित्यादि देवतासङ्घस्य  
सन्धेया मध्युपलक्षणम् । उभयान् प्रत्यस्य प्रकाशकत्वं साधा-  
रणादिति दर्शितम्— "उभयेषा मिति । "उच्यन् वा इति ।  
उद्दश्यमानः सन् 'एषः' आदित्यः 'इमान्' पृथिव्यादीन् लोकान्  
'आपूरयति' प्राणैः समर्पयति, चेष्टयतीत्यर्थः । एतच्च तैत्ति-  
रीयके श्रूयते— "असौ य आपूरयति, स सर्वेषां भूतानां प्राणे-  
रापूरयति"—इति § । अत उक्तम्— "आप्राः"—इति, "प्रा पूरये" ॥,  
लिटि रूपम् । "सूर्य आत्मा जगतस्तस्युपच"—'इति', अनेन  
आवरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य जगतोऽयं सूर्योऽष्टकीत्वेन अन्तर-  
आत्मेति विवक्षितं मित्याह— "एष हीति । 'जगत्' गच्छत्, जङ्ग-

\* एतत्पुर्वस्या मेव कण्डिकायां ( ३७५ पृ० ) दृश्यम् ।

†, ‡ वा० सं० १३. ४६ ।

§ तै० अरि० १. १४. १. ६ ।

॥ अष्टा० प० ७७ धा० ।

मात्मकं जगत् ; तिष्ठत् , स्थावरात्मकम् । “अन्येभ्योऽपि दृश्यते”—  
इत्यत्र \* “स्रुतिगमिशुद्धीतीनां द्विर्वचनम्”—इत्यनुशासनात् †  
क्षिपि द्विर्वचने जगदिति भवति ॥ २७ ॥

अभिहितोमानन्तरं सुपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशु-  
शिरसा सुक्ष्मगन्तामकैर्मन्त्रैरुपस्थानं विधत्ते — “अयेति ‡ । वि-  
हितमन्त्रसाध्यस्वोपस्थानस्य प्रयोजनाभिधानं प्रतिजानीते—  
“एतद्वा इति । ‘एतत्’ खलु प्रयोजनं मित्यर्थः । तदेव दर्शयति  
— “यत्रैतानिति । ‘यत्र’ यस्मिन् प्रस्तावे ‘प्रजापतिः’ ‘एतान्’  
पुरुषसुस्थान् ‘पशून्’ आलम्ब्य मैच्छत्, तदा ‘आलिख्यमा-  
नास्ते अशोचन्’ ; आलम्ब्य शोकहेतुत्वात् । ततः ‘तेषां’ ‘युचं’  
शोकरूपं पापम् ‘एतैः’ वक्ष्यमाणैः उक्तगमन्त्रैः अपहतवान् । ‘तथैव’  
‘अयम्’ अपि यजमानः एतेनोपस्थानेन ‘एषां’ शोकरूपं पापम्  
‘अपहन्ति’ । “मयु मारुष्य मनु ते दिशामीत्यादिना § आरुष्य-  
पशून्मन्त्रप्रतिपादनेन तेषां सुक्ष्मगत्वम् ; शोकोक्तगहेतुत्वाद्वा ॥ २८ ॥

अथ पश्चान्नामपि शीर्षाणां सुपधानानन्तरम् उक्तगमन्त्रैरुप-  
स्थानं मिति स्वकीयं मतम् ; तथैवोक्तत्वात् । अपरे पुनरुपस्थान-  
कालेनैव किञ्चिदेवमात्रं माचक्षते । तस्मात् दूषयितुं मनुवदति  
— “तदेक” इति । तथा कुर्वताश्च तेषां माशय माह—  
“नेदिति । पूर्वं सुपहितस्य पशोः शोकं सुक्ष्मारितं मभिलक्ष्यैवो-

\* प्रा० सू० ३. २. १०८ । . .

† प्रा० ८. १. १४ सू० वा० ।

‡ का० श्री० सू० १७. ५. १८ ।

§ ते० मं० ४. २. १०. १ ।

‘त्तरपशोरुपधानं’ स्यात्, अतस्तन्माभूदिति ‘तथा कुर्वन्ती-  
त्यर्थः । तन्मतम् दूषयति — “ते हेति । तथाविधाभिप्राय-  
वन्तस्ते खलु याज्ञिकाः शोकरूपं पापं मभिलष्येव ‘उप-  
दधति’ । यतः ‘पूर्वस्व’ पूर्वपशोः ‘यां शुचं सुसृजन्ति’, ‘ताम्’  
एव ‘उत्तरेण सह उपदधति’ ; निवृत्तसजातीयानुवृत्तिभावा-  
दित्यर्थः ॥ २८ ॥

अथैतेषां मेवोपस्थाने केषांश्चिच्छास्त्रिणां प्रकारविशेषं  
दूषयितुं मनुवदति — “विपरिक्राम मिति । पशूनां ‘शुचं  
मूर्धा सुसृजाम इति’, केचिद् विपरिक्रम्य विपरिक्रम्योपति-  
ष्ठन्ते ; उत्क्रमणपूर्वकत्वाद् विपरिक्रमणस्येति । तथोपस्थाने शौकः  
जर्ज एवोत्सृष्टो भवतीति तेनोपतिष्ठन्त इति भवः । तदपि  
दूषयति — “ते ह ते इति । तथाविधाभिप्रायवन्तः ‘ते’  
शोकरूपं पापम् ‘अनूयन्ति’ विपरिक्रमणार्थं मुहमने कृते  
शोकं प्रत्यनुगतवन्तो भवन्ति । अतो न तथा कुर्यात् कथं  
तर्हि शोकं जर्जं सुसृष्टो भवतीति तच्चाह — “जर्जो हीति ।  
‘एतेन’ उपधानलक्षणेन ‘कर्मणा’ ‘जर्जः’ अर्हयुरिति ; उत्तरोत्तरं  
मेतेषां शिरसा उपधानात् । अतस्तेनैवम् ‘जर्जाम्’ उत्सृजन्ति ।  
व्यत्ययेन बहुवचनम्, प्रयोगबहुत्वापेक्षं वा ॥ ३० ॥”

अन्नेर्बहिर्देशे शोकं सुसृजदित्याह — “बाह्येनेति । अन्ने-  
र्बाह्यदेशेनोपलक्षिते शुचं सुसृजदित्यर्थः । ‘अग्नि मिति,  
षष्ठ्यर्थे द्वितीया व्यत्ययो द्रष्टव्यः । “इमे वै लोकाः” इत्य-  
स्याय मर्थः — अन्नेः प्रजापत्यात्मकत्वेन ‘तत्’ पृथिव्यादिलोका-  
त्मनोक्तत्वात् तस्य बहिर्देशे शोकोऽर्जनेन ‘लोकेभ्यः’ एव

शोको 'बहिर्वेदी' भवतीति । बाह्येनैवाग्निं मित्वमेनाग्नि-  
प्रदेशश्चतिरिक्तदेशे विधानाद् वेदिमध्येऽपि स्थादित्यत आह—  
“बहिर्वेदीति । वेद्या बहिः । “अपपरिबहिरक्षवः पक्ष्म्या”-  
इति \* पक्ष्मयीभावसमासः । बहिर्वेदि शोकोक्तर्गे वेद्याः कृत्स्न-  
पृथिव्यात्मकत्वात् तस्मा बहिरैव शोक उत्पद्यते भवतीति  
दर्शितम्— ‘इयं’ वा इत्यादिना । ‘उदङ्’ उत्तरस्यां दिशि  
वक्ष्यमाणा मयुप्रभृतयः पश्यतोऽवतिष्ठन्ति इति तत्र शोकनिधा-  
नाय उदङ्मुखस्तिष्ठन्मुख्यदित्याह— “उदङ् तिष्ठन्ति ॥ ३१ ॥

उत्सर्गमन्त्रैरपस्वानम्, तत्र स्वाभिमतप्रकारं, देशविशेषम्,  
अर्हृर्क्षीरवस्त्रानविशेषञ्च प्रदर्श्य, उपधानक्रमेणैव पुरुषस्य  
शोकं पूर्वं मुक्तृजदित्याह— “पुरुषस्येति † । तत्र मन्त्रविशेषं  
प्रदर्शयन्, पदयो विभक्त्य व्याचष्टे— “इमं मा हिंसीरिति ‡ ।  
“हिपादिति । “सङ्ख्यासुपूर्वस्येति § पादशब्दान्तरस्य लोपः ।  
‘हिरण्यकलशे’ एव सहस्राक्षः’ इति, सहस्रशब्दो बहुत्व-  
स्वीपलक्ष्यार्थः ; हिरण्यकलशानां मत्र सहस्रसङ्ख्यानां मभा-  
वात् । अथवा उत्तरत्र सहस्रसङ्ख्याकंहिरण्यकलशैः प्रोक्त-  
माशत्वात्, तदभिप्रायेण सहस्रसङ्ख्या । हिरण्यकलशानां प्रका-  
शकत्वेनार्चितोपचारः— “आत्मा वै तनूरिति । तेनाधिष्ठित-  
त्वादित्यर्थः । अष्ट मन्त्रम् ॥

\* आ० अ० २. १. १२ ।

† आ० अ० अ० १०. ५. १६ ।

‡ आ० अ० १३. ४० ।

§ आ० अ० ५. ४. १४० ।

मन्त्रस्त्राय मर्त्यः— हे 'अग्ने !' 'हिरण्यगर्भकलेः' 'सह-  
स्राक्षः' 'मिधाय' 'चोयमानः' त्वं पशूनां मध्ये 'हिपादम्' 'इमं'  
पुरुषं 'मा हिंसोः' । यदि तव भक्ष्यापेक्षास्ति, तर्हि 'भारस्यम्'  
'किम्युरुषम्' उत्सृजामि, 'तेन' किम्युरुषेण 'आत्मानं' 'पोषयत्'  
'संस्तुरुषम्' । 'ते' सम्बन्धिनी 'शुक्' 'मयु' प्राप्नोतु ॥ ३२ ॥

अथाग्नस्त्र शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन्, पूर्ववद् व्याचष्टे—  
“अथेति ॥ “कनिक्रदो वा एष इति । ‘एषः’ अग्नः ‘कनिक्रदः’  
अत्यर्थं क्रान्दिता ‘वाजिनेषु’ वेगवत्सु ‘वाजी’ अत्यर्थं वेगयुक्ताः,  
अतो युक्तं कनिक्रद मितौत्तर्यः ॥

‘गौरः’ सिंहः । स्वष्टार्थं मन्यत् १ ॥ ३३ ॥

अथ गोः शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे— “अथ गौ-  
रिति ॥ “साहस्रो वा इति । गौरिति यत् ‘एषः’ ‘साहस्रः’  
सहस्राक्षः, सजातीयधेनुद्वारा यत्सहस्राक्षक्षीरधारासम्पन्नः ।  
अत एव ‘उक्तः’ । कुतः ? तस्मान्नेकजलधारावाहित्वादस्य अनेक-  
क्षीरधारावाहित्वात् उक्त इवोपचारः । “घृतं वा एषेति ।  
‘अदितिः’ अल्लुङ्गनीया, अदीना वा ‘एषा’ गौः, ‘जनाय’ ‘घृतं’  
दुहे’ क्षीरादिद्वारा तस्य सम्पादनात् । अत्रापि सजातीय-  
धेनुद्वारा घृतदोहनम् । तदपेक्षं वाच स्त्रीलिङ्गम् १ ‘दुह इति  
“लोपस्त आत्मनेपदेष्विति १ तकारलोपः । स्पष्टं मन्यत् ॥ १ ३४ ॥

\* ०, १ का० श्री० ख० १७. ५. १६ ।

† वा० सं० १३. ३८ ।

‡ पा० ख० ७. १. ३१ ।

॥ वा० सं० १३. ३८ ।



“अथावेरिति । शोकोत्कर्षमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे — “उभयेषां देव इति \* । ‘एषः’ अविरूपः पशुः ‘उभयेषां पशूनां’ ‘द्विपदां’ मनुष्याणाम्, ‘चतुष्पदाम्’ अस्त्रादीनाञ्च त्वग्रूपम् भवति ; स्वकीयत्वत्वात् तेषां माच्छादनात् । मनुष्यास्तावच्छीतनिवारणाय विजिनः कम्बलेन शरीरं माच्छादयन्ति । चतुष्पादी-  
ऽस्त्रा बलीवर्दाश्च स्वभारवहने मार्दवाय वृद्धे कम्बलिना-  
च्छादिता भवन्ति । “एतदेति । ‘त्वष्टा’ प्रजानां निर्माणा-  
देव प्रजानां, मध्ये ‘एतद्रूपम्’ अविरूपम् पशुं ‘प्रथमं’  
‘विचकार’ उत्पादितवान् । अत उक्तं “त्वष्टुरिति । विप्रदार्प  
मन्त्रत्वं ॥ २५ ॥

‘अथाजस्रं मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे — “अथेति । “यदे  
प्रजापतेः शोकादजायतेति । ‘यत्’ तेनाज्मेरेव शोकादजायत,  
तस्य तदात्मकत्वात् ; अत एव प्रागुक्तम् — “अग्निर्वी एषो-  
ऽज्मेरेव जायतेति । “प्रजापतिर्वा इति । सर्वोत्पादकत्वात्  
‘प्रजापतिर्जनिता’ अतु । अ जातो अजः प्राक् प्रजापति  
मपश्यत्, अत उक्तं “सोऽपश्यदिति † । “ब्रह्मत्वान्तःपाद  
मप्यपरे”-इति ‡ प्रकृतिभावात्, “एकः पदान्तादतीति ॥  
पूर्वरूपत्वं च भवति । “तेन देवा इति । अजस्रं वामाजस्र-

\* का० श्री० ख० १०. ५. १५ ।

† वा० ब० १५. ५० ।

‡ मन्त्रे तु ‘सोऽपश्यत्’ इत्येव मन्दृष्टवर्गपुष्करी ।

§ पा० ख० १. ११५ ।

॥ पा० ख० १. १०८ ।

त्वम् ; तज्जन्मत्वात् । तत् पुनः प्रागुक्तम्— “वाचोऽज्म मिति ।  
 ‘देवाः’ खलु ‘अये’ वाच मिमा मान्त्रित्वं देवत्वं प्राप्नुवन् ।  
 ‘वाचः’ इति ऋग्वेदोपे प्रथमो \* । स्तोत्रश्रवणादिरूपया वाचा  
 यज्ञनिष्पत्तेः, यज्ञस्य च देवत्वप्राप्तिहेतुत्वाद् वाच मान्त्रित्वं  
 देवत्वं प्राप्नुवन्नित्यर्थः † ।

“उपमेध्याश्च इतीति । मेधार्हाः यज्ञार्हाः इत्यर्थः ।  
 “अज्जवेरनुगिति ‡ ऋगुगागमः । शरभो नाम सिंहघातकः  
 कश्चिन्मृगविशेषः § । अष्ट मन्त्रत् ॥ २६ ॥

अथानुवेद्यानां मयुप्रभृतीनां पशूनां शोकादेवोत्पत्तिम्,  
 ब्राह्मणस्य तदभक्षताश्च दर्शयन्, दिग्विशेषे-तेषां निधानं ब्राह्म-  
 — “तदाहु रिति ॥ । ‘तत्’ तदा, पञ्चालम्भानन्तरम्, ‘प्रजा-  
 पतिः’ ‘एतेषां’ पुरुषादीनां ‘पशूनां’ ‘कां हवन्’ पशुपापरूपा  
 मपहतवात्, ‘ते’ एव ‘एते’ मयुप्रभृतयः ‘यच्च पश्यन्ते’ भवन्ति ।  
 ‘तत्’ तत्र पशुविषये वेदविदः ‘आहुः’, अतः ‘ते’, पश्यन्  
 ‘उन्नास्त्वमेधाः’, तस्मैवार्थप्रदर्शनम् ‘उपमेध्या इति, एतस्मैव विद-  
 रणम् ‘अयश्चिवा इत्यपि । अतश्च ‘तेषां’ मध्ये क मपि पशुं  
 ‘ब्राह्मणो नाश्नीयात्’ । तथाविधानभाष्यान् पशून् ‘एतस्मां  
 दिशि’ । इतस्मा मिति चक्षिन्वेनोत्तरदिशो निर्देशः । तच्च

\* पा० १. ४. ३१ अ० १, २ वा० ।

† वा० सं० ३. ५१. ।

‡ पा० अ० ७. १. ५० ।

§ “शरभोऽपदन्तर्विशेषः सिंहवध्नी” — इति वा० नृ० भा० मञ्जुधरः ।

॥ का० मी० १७. ५. १० ।

निदधाति । 'तस्मात्' 'एतस्याम्' उत्तरस्यां 'दिशि' 'पर्जन्यः' 'भ' वर्षुकाः' न वर्षति, 'यत्र' 'एते' पशवोऽवतिष्ठन्त इति कृत्येत्यर्थः । उत्तरस्यां दिशि कचिन् मरुभूमौ पर्जन्यो न वर्षतीति प्रकृता खगा अपि तत्रैव प्रचुरा इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

उपस्थानानन्तरम्, पुनरग्निसमीप भागव्योपतिष्ठत इत्याह — "प्रत्येत्येति \* । तत्र कारणम् प्रतिजानीते — "एतद्वा इति । "एतदयथेति । 'अग्नी' 'सामिचिते' अर्हचिते । 'बहिर्वेत्येति 'यत्', 'तत् कर्म' यथायथम्, यथास्वम् ; 'अयथायथम्' यथायथं न 'भवतीत्यर्थः', तथा कृतवान् भवति । अत उपस्थानेनऽहिंसार्थं 'तस्मै' 'अग्नये' 'एतत्' निष्कवनं करोति । निष्कवनं मपनयः †, बहिर्वेदिगमननिबन्धनं मपराधं परिमार्ष्टीत्यर्थः ॥

उपस्थानमन्त्र आग्नेयो गायत्रीऽनिरुक्तो यविष्ठशब्दयुक्तश्च भवेदित्याह — "आग्नेयेत्यादिना । अग्नेर्गायत्रत्वं षष्ठकाण्डे प्रदर्शितम् ‡ । "अनिरुक्तयेति । अविस्मष्टदेवतया । यत्र देवताविशेषवाचकं पदं नास्ति, तदनिरुक्तम् । 'यविष्ठ'-शब्दस्य गुणवचनः, न पुनरिन्द्रादिशब्दवत् कस्यचिद्देवताविशेषस्य वाचकः । अनिरुक्तत्वादेवास्याग्नेयत्वम् । अनिरुक्तो 'मन्त्र आग्नेयः प्राजापत्यो वा भवतीति अनिरुक्तस्य सर्वत्वम्, साधारण्यात् ; तत् पुनर्देवताविशेषाप्रतिपादकत्वात् ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ६. १ ।

† अत्र नागपुस्तकेषु नागविधाशुद्धपाठा दृश्यन्ते ।

‡ "तस्मादग्निर्गायत्र इति" - इति ६ का० १. १. १५ ।

“एतद्वेति । ‘अस्य’ अग्नेः ‘यविष्ठ इति यत् एतत्’ पदम् ; तत् ‘प्रियं’ ‘धाम’ नामधेयम् । अथाग्नौ यविष्ठपदप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति — “यद्वा इति । यतोऽयं मग्निर्विराड् रूपत्वात् ‘इदं सर्वं’ कृत्वा मपि जगत् ‘अयुवत’ मिश्रितवान्, व्याप्तवानित्यर्थः । ‘तस्माद्’ असौ अग्निः ‘यविष्ठः’ । ‘अयुवतेति “यु मिश्रणामिश्रणयोः”-इत्येतस्य \* सङ्घि व्यत्ययेन शक्तिकरणे रूपम् । ‘यविष्ठ इति, “यु मिश्रणे” †, तस्य पचाद्यचि ‡, युवशब्दादिङ्प्रत्यये § रूपम् । इङ्प्रत्ययस्य तद्धितत्वात्, तद्धितानाञ्च प्रातिपदिकादित्यधिकारात्, प्रातिपदिकात् स्त्रायुत्पत्तेः । इदं सर्वं मयुवत, तस्माद् यविष्ठ इत्यर्थः । प्रदर्शनमात्रे तात्पर्यम्, यु-धातोरिष्ठनि ‘यविष्ठ’-शब्द इति ॥ प्रतिपाद्यते ॥ ३८ ॥

मन्त्रं व्याचष्टे — “त्वं यविष्ठेति ¶ । इविरादेर्दीर्घत्वाद्यजमानो ‘दाक्षान्’ । “दाक्षान् साह्वानित्यादिना \*\* “दास्य दाने”-इत्यादा †† दाक्षान् शब्दो निपातितः । ‘वृ’-पादोति “वृन् ये”-इति ‡‡ नकारस्य वः, “अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा”-

\* † अदा० प० २३ धा० ।

‡ पा० ख० ३. १. ११४ ।

§ पा० ख० ४. ६. १५६ ।

॥ पा० ख० ५. ३. ६४ ।

¶ वा० सं १३. ५२ ।

\*\* पा० ख० ६. १. १२ ।

†† अदा० उं० १८२ धा० ।

‡‡ पा० ख० ८. ३. १० ।

इत्यनुनासिकादेशः \* । 'मृषुधीति', "युमृषुपूजयभ्यश्चदसि"  
-इति † हेर्धिरादेशः । "रक्षा तोक मिति । 'रक्षेति "इयषो-  
ऽतस्तिष्ठः"-इति ‡ दीर्घः । 'अनेति "मन्नेषाद्यादेरात्मनः"-  
इत्यादिलोपः § । हे 'यविष्ठ !' अन्ने ! त्वं 'दायुषे' यजमानस्य ।  
पठ्यत्रं चतुर्थी ॥ । 'मृन्' मनुष्यान् 'पाहि', 'नः' अस्माकं 'गिरः'  
स्तुतिरूपा वाचः 'मृषु' । न केवलं यजमानसम्बन्धिमनुष्यपालनं  
त्वया कार्यम्, अपि तु आत्मना सहितं 'तोक' प्रजासन्ततिं  
'रक्ष' 'इति' मन्त्रार्थः ॥ १८ ॥

उपस्थानानन्तर मन्त्रिं पश्चाद्भागीनाह्वय, स्वयमाह्वयं  
प्रदक्षिणोक्तत्वं, मत्वा, अपस्यास्या इष्टका उपदध्यादित्वाह  
— "आह्वान्मि मिति ॥ । अपस्योपधाने प्रयोजनं दर्शयितुं  
तावदेतासा मवात्मकत्वं माह — "आप एता इति ।  
तत्प्रयोजनं माह — "अथ वा इति । 'अथ' खलु आत्म-  
समये 'इतेभ्यः' पुरुषादिभ्यः 'पशुभ्यः' 'आप उत्क्रान्ता  
भवन्ति', अतएवापस्याया उपधाने तासा मवात्मकत्वात् एतेषु  
'पशुष्वेव' 'अपः' निहितवान् भवति । तासां पशुगिरःसु अव्यवधा-  
नेनोपधानं माह — "अनन्तर्हिता इति । एकोकस्मिन् प्रदेशे

\* पा० छ० ८. १. १ ।

† पा० छ० ६. ४. १०२ ।

‡ पा० छ० ६. १. ११५ ।

§ पा० छ० ६. ४. १४१ ।

॥ पा० २. ३. ६२ छ० १ वा० ।

१ का० जी० छ० १७. ६. १ ।

पञ्च-पक्षीपदव्यादित्वाह — “पञ्च-पक्षेति । पञ्च-पक्ष सर्वासु  
दिक्षूपक्षेया इत्याह — “सर्वत इति ॥ ४० ॥

प्रतिदिशं पञ्चानां सुपधाने विंशतिः सम्पद्यन्ते, तत्र  
थाः पञ्चदश पूर्वा दृष्टकाः, ता अपस्याख्या भवन्तीत्याह  
— “तथा इति । पञ्चदशसङ्ख्यानां मेवापस्याख्य सुपपाद-  
यति — “वज्रो वा इत्यादिना । अपां वज्रत्वं नैशित्याद्यर्थं  
तत्त्वचनात् \* । तदेव श्रूयते — “तस्मादिन्द्रोऽविमेक्ष प्रजापति  
सुपाधावच्छत्रुर्मेऽजनीति, तस्मै वज्रं सिक्तां प्रायच्छदेतेन  
अहीति † । पञ्चदशस्य वज्रात्मकत्वं वीर्यवत्त्वात् । तत् पुनः  
प्रजापतेर्वीर्यवत्प्रदेशादुत्पत्तेः । अत एव श्रूयते — “उरुसो  
बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमोतेत्यारभ्य, “तस्मांते वीर्यवन्तो  
(भवन्ति ‡) वीर्यावच्छन्वन्तेति § । यत एवम्, तस्माद्येन मार्गेण  
आपो यन्ति, तत्र पाप्मानं हन्त्येव ; अपां वज्रत्वात् ।  
वज्र एव खलु तस्य भागस्य पाप्मानं मपहन्ति । ‘तस्मात्’  
पापहननादेव ‘वर्धति’ पञ्चन्यः । ‘वज्रः पाप्मानम्’ ‘अपहन्त’  
मपहन्तु इति ‘अप्राहतः’ एव ‘व्रजेत्’ ॥ ४१ ॥

अपस्याभ्यः पञ्चदशभ्य उत्तराः पक्षेष्टका विद्यन्ते, ताः हन्द्स्या  
इत्याह — “अवेति । हन्द्स्यानां सुपधानेन पशुपूजान्तमांश-  
प्रतिनिधानं भवतीत्याह — “पशवो वा इत्यादिना । पशुर्ग

\* अथ हि सर्वेभ्यो मङ्गलैः पुस्तकैः अशुद्धः पाठः ।

† तै० अ० ४. ५. २. १ ।

‡ तत्र वृद्धितायां मेतत् पदं नाधीयत इति ध्वेषम् ।

§ तै० अ० ७. १. ३. ७ ।

हृन्मुखं यज्ञसाधनत्वात् ; अथवा जगत्सानीतत्वात् । एतस्यैति-  
रीयत्रे श्रूयते— “जगती सुदपतच्चतुर्हशाक्षरा सती, साप्राप्य  
न्यवर्त्तत, तस्यै हे अक्षरे अमीदेताः, सा पशुभिश्च दीक्षया चा-  
गच्छदिति \* । “अथ सु पशोर्मांस मित्यनेनाद्यं पशव इत्ये-  
तदुपपादितम् । एवञ्च सति हृन्मुखानां पञ्चात्मकत्वेन मांस-  
रूपत्वात् आलम्भावसरे उक्तान्तानि मांसानि पुनरितेषु  
प्रतिनिहितवान् भवति । तासां मध्यपस्यावदव्यधानेनोपधान  
माह— “अनन्तर्हित मिति । अपा सुदरमध्यवर्त्तित्वेन अन्तर-  
त्वात् मांसानां ततो बाह्यत्वम् । तथैवापस्या अन्तराः, हृन्मुखा  
बाह्या भवेयुरित्याह— “अन्तरा अपस्या इति । उक्तप्रकारेण  
पशुव्यापरे मांसानि च सम्पादितानि ॥ ४२ ॥

नैतावता तेषां कार्त्तुं सम्यग्यते ; किम्युनस्ततोऽपि बाह्ययो-  
स्त्वम्बोक्तेरपि कारणत्वेनावत्त्वात् । हृन्मुखानां चात्रात्मकत्व-  
स्योक्तत्वात् उपधानेनेव तयोरप्युपधानं सम्पादित मिति,  
तदाह— “तदाहुरित्यादि । तत्रोत्तरं दर्शितम्— “अद्यं वाव  
पशोरिति । प्रकारान्तरेण पशूनां लोमसम्पत्ति माह— “अथो  
इति । ज्ञानाजिनलोमानुवहया सदा सृष्ट्याया निर्माणात्,  
उद्यायाश्चाङ्गालोमानि † सन्तीति, तान्मेव पशूनां लोमानि  
भवन्ति । लोमाधारत्वेनोद्याया अभिधानात् उद्यालोमानीत्यभि-  
प्रेत्य “बाह्योद्या भवतीत्यादिनोक्तस्यैवाद्यं लोमोपपादनम् ॥

\* ते० बं००५. १. ५. ४ । '

† ‘उद्यावां यानि लोमानि’—इति अ-पाठः ।

त्वन्मोमसम्पादने उक्तं पञ्चदश मपि अभिमतं मित्याह — “य-  
दीति । ‘यदि’ ‘इतरेष’ अन्येन प्रकारेण तत्त्वम्पादनं भवति, तर्हि  
तथैवाह । अथ वा ‘इतरेष’ प्रकारान्तरेण यदि भवति, तर्हि तथै-  
वास्त्विति, अन्योन्यापेक्षया समयोरपीतरत्वम् । अपस्याद्युपधानेना-  
न्नादिसम्पादनं केन विवक्षित मिति, तत्राह — “इति ह आह  
शास्त्रिण इति । केनापि तेनाभिप्रायेणैव मुक्त मित्यत आह —  
“सर्वानेवेति । ‘सर्वानेव पशून्’ ‘क्षत्त्र्यान्’ कात्स्न्येन ‘संस्तुर्मः’  
सर्वावयवसम्पादनेन समुदाहन् ‘कुर्मः’ ‘इति’ अभिप्रायेण, तथोक्त  
मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

प्रकारान्तरेणाप्यपस्याना उपधानं प्रशंसति — “यदेवेति ।  
विस्तृतावयवात् ‘प्रजापतेः’ ‘आपः’ ‘आयन्’ निर्गताः । ततः  
‘तासु’ निर्गतासु ‘अविशत्’ अपविष्टवान् \* । अपा निर्गमनेन  
दीर्घत्वाद् गन्तु मच्चमः †, तथैवापविष्टवानित्यर्थः । ततश्चाप-  
वेशनसाधनत्वात् अपस्या ‘विंशतिः’ सम्पन्नाः ‡ । यद्यपि  
“तथाः पञ्चदश पूर्वास्ता अपस्याः”-इत्युक्तम् §, तथापि छन्द-  
स्वासाहित्येनाथ विंशतिरित्युक्तम् । सर्वासां वापस्याशब्दे-  
नाभिधानं भूयोलिङ्गात् “छष्टीरपदधातीतिवत् § । अथ वा  
“तथा अस्वेतिभ्यश्चन्दोभ्य आप आयन्ति ॥ वृक्षमाणत्वात्, सर्वा

\* ‘अपविष्टवान्’—इति छ-पाठः ।

† ‘मच्चमो भूत्वा’—इति च-पाठः ।

‡ इत्येव पुरस्तात् ४२-कङ्किकारम्भे ( ३८९ पृ० ) दृश्यम् ।

§ ‘छष्टीरपदधाति यथाहृद मेव अवसन्त्ये’—इति तै० सं० ५. २. ४. १६ ।

॥ इत्येवोपरिष्ठात् ४१-कुर्मां ( ३६७ पृ० ) प्रत्यक्षम् ।



अथपस्या भवन्तीति । आपो निर्गमनावसरे 'अस्य अङ्गुलिभ्यो ऽध्वस्त्रवन्' । निर्गच्छन्तीना मया मस्य प्रजापतेः अन्तते निर्गमनाद् , अङ्गुलीनां चान्तत्वादिति ॥ ४४ ॥

एवं सति "स यः स प्रजापतिर्व्यस्रंसतेति । 'सोऽय मेव', 'स' इदानीम् 'अग्निधीयते' । 'अथ' प्रजापतेः सकाशाद् 'याः' आपः निर्गताः , 'ता अपस्याः' । ततश्चेतासा मन्त्रोपधाने ततो निर्गत अप एव 'प्रतिदधाति' ॥ ४५ ॥

अथ क्रमेण तासा सुपधाने मन्त्रान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे—  
"अपां त्वेमन्नित्यादिना \* । यदा हि एष वायुरितश्चेतश्च वाति तदा 'आपः' 'यन्ति' चलन्ति ; अतश्च वायुरनेन यन्त्राप इ' व्युत्पत्त्या 'एम' † । "इण् गतौ"—इत्यस्मात् ‡ "अन्येभ्यः दृश्यन्ते"—इति § मनिन् प्रत्ययः । स च व्यत्ययेन करणे द्रष्टुं "एमन्नादिषु छन्दसि पररूपम् वक्तव्यम्"—इति ॥ प त्वम् ॥ ४६ ॥

"अपां त्वोन्नन्निति ¶ । "यच्च हीति । आपो यत्र प्रदेशे स त्वस्तिष्ठन्ति , तच्च ओषधयो जायन्ते इति , अधिकारणव्युत्पत्तौ 'अपा मोक्षोषधयः' । "उन्दो लोदने"—इत्यस्मात् \*\* पूर्व

\* का० श्री० ख० १७. ६. २ ।

† वा० सं १३. ५३. १ ।

‡ अदा० प० ३५ धा० ।

§ पा० ख० ३. २. ७५ ।

॥ पा० ६. १. ७० ख० वा० ।

¶ वा० सं १३. ५३. २ ।

\*\* ख० प० १० धा० ।

तन्निन् प्रत्ययः । ह्यान्दसे अगुनासिकलोपे, गुणे च शीघ्र-  
कृति भवति । पूर्ववत् पररूपत्वम् \* ॥ ४७ ॥

“अपां त्वा मिति † । “अभ्रं वा अपां भस्मेति । ‘अभ्र’  
मेव, स चासु निर्गतासु निस्सारत्वादपाभस्मेत्युच्यते । एवं  
सह मेव । “भस्मकृति “सुपां सुलुगित्यादिना ‡ सप्तम्या  
ङ्क्, “न डिसम्बुद्धोः”-इति § न-लोपाभावः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

“अपां त्वायन इति ॥ । “इयं वा अपा मयन मिति । सर्वा  
पद्यापः पृथिवी मधिष्ठायैव प्रवहन्तीति । “तथा इति ।  
तत् तदा विस्रंसनावसरे खलु ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘एतेभ्यः’  
वायादिभ्यो ‘रूपेभ्यः’ ‘आपः’ निर्गताः, तथाविधाः ‘ताः’  
एव ‘अस्मिन्’ प्रजापतो प्रतिदधाति । न केवलं मपा मेव  
तधानम्, अपि तु ‘एतेभ्यः’ येभ्यः ‘रूपेभ्यः’ ‘आपः’ निर्गताः,  
मपि तदा निर्गतत्वात् तान्यपि पुनरस्मिन् योजयति ॥

उक्तमन्त्रसाध्योपधानाः पञ्चेष्टकाः पूर्वस्थां दिशि उप-  
स्थात् । एवं वक्ष्यमाणमन्त्रसाध्योपधाना अपौष्टकाः पञ्च-  
अष्ट दक्षिणादिषु दिक्षु उपधेयाः ॥ ५० ॥

“अर्णवे त्वेति ¶ । “प्राणो वा अर्णवः इति । अर्णो जलम्,

\* इत्येव ४६-कण्ठीभाष्येणो द्रष्टव्यः ।

† वा० सं० १३. ५३. ४ ।

‡ पा० ख० ७. १. ३६ ।

§ पा० ख० ८. २. ८ ।

॥ वा० सं० १३. ५३. ५ ।

¶ वा० सं० १३. ५३. ६ ।

तद्वान् । 'अर्थः शब्दात् मत्वर्थीये व-प्रत्यये "अर्थसो लोपः" इति \* सकारलोपः । अर्थवत् च प्रायेण जलस्य चीयमान-त्वादिति ॥ ५१ ॥

“समुद्रे त्वेति † । “तदेव श्लोकोऽभ्युक्त इति । “मनसः समुद्रादावाभवा देवास्त्रयीं विद्यां निरखनम्”—इत्यस्मिन्नर्थे ‘एषः’ वक्ष्यमाणो मन्त्रः ‘अभ्युक्तः’ इति प्रतिज्ञा । तत्र “ये समुद्रादित्थारभ्य, यत्र निर्वपचं दधुः”—इत्यन्तो मन्त्रः ‡ । एतस्मिन् मन्त्रे स्वयं मेव प्रकृतोपयोगीनि पदानि व्याचष्टे—“मनः समुद्र इति । ‘समुद्रमिति पञ्चम्यन्तस्य पदस्यार्थो ‘मनः’ । तीक्ष्णाभिरन्ध्रिभिरित्यस्य वागर्थः—“वाक् तीक्ष्णाभिरिति । ‘निर्वपच मित्यस्य च ‘त्रयी’ ऋष्यशुक्लामराचवा ‘विद्या’ अर्थः । पुनः “तदेव श्लोक इत्युपसंहारः । अत उक्तप्रकारेण ‘समुद्रो मन इति, मनस्वेव ‘ताम्’ इष्ट्वा ‘सादयति’ ॥ ५२ ॥

“सरिरे त्वेति § । “वाग्वै सरिरे मिति । सरस्वत्येन वाक् सखिलां ससु ; अतो वाचि तां सादितवान् भवति ॥ ५३ ॥

“अपां त्वेति ॥ । “तत्र ऽहीति । ‘तत्र’ चक्षुषि, ‘सर्वदेव

\* पा० ५. २. १०६ अ० वा० ।

† वा० सं० १३. ५३. ७ ।

‡ “ये समुद्रान्निरखनम् देवास्तीक्ष्णाभिरन्ध्रिभिः ।

सुदेवो ऽप्ययं तद् विद्याद् यत्र निर्वपचं दधुः ॥

—इतीहैव मूले ( ३८६ पृ० ) प्रकृतम् ।

§ वा० सं० १३. ५३. ८ ।

॥ वा० सं० १३. ५३. ९ ।

‘आपः’ ‘वियन्ति’ निवसन्ति खलु, अतः ‘अक्षुरपां वयः’ ॥ ४५ ॥

“अपां त्वा सधिवीति \* । अथ ‘अपां सधिः’-इति सधिशब्देन  
स्नानं मुच्यते; ओषस्वान्तरार्द्धभावात् । एतच्च जैसिरीयके  
श्रूयते—“तस्मादाद्रीं अन्तरतः प्राणा इति † ॥ ५५ ॥ ५६ ‡ ॥

“अपां त्वा सधस्य इति § । ‘सधस्य’ इति, “सध मादस्यो-  
स्य दसि”-इति ॥ सह-शब्दस्य सधादेशः । आपोऽस्मिन् सभूय  
तिष्ठन्तीति अन्तरिक्षं मपां सधस्यम् ॥ ५७ ॥

“अपां त्वा योनाविति ¶ । “समुद्रो वा अपां योनिरिति ।  
समुद्रस्य सकाशादपां मुत्पत्तेः ‘अपां यीनिः समुद्रः’ ॥ ५८ ॥

“अपां त्वा पुरीष इति \*\* । “सिकता वा अपां पुरीष मिति ।  
मुत्पत्त्य निष्कारोऽंशो लोके पुरीषशब्दवाच्यः; तद्वत् सिकतानीं  
मपि निष्कारत्वादपाम्पुरीषत्वम् ॥ ५९ ॥

“अपां त्वा पायसीति †† । “अन्नं वा इति । ‘पायः’ सारांशः,  
पेयस्य तत्त्वम्याद्यत्वेन तत्सारत्वादन्नं मपाम्पायः ॥ ६० ॥

“गायत्रेवेति ‡‡ । “गायत्रे त्वा छन्दसा सादयामीत्वादिभिः

\* वा० सं० १३. ५३. १० ।

† ते० सं० ६. २०. ११. ८ ।

‡ वा० सं० १३. ५३. ११ ।

§ वा० सं० १३. ५३. १२ ।

॥ पा० छ० ६. ३. ६६० ।

¶ वा० सं० १३. ५३. १३ ।

०० वा० सं० १३. ५३. १४ ।

†† वा० सं० १३. ५३. १५ ।

‡‡ का०, औ० छ० १०. ३. ३ ।

पञ्चभिर्मन्त्रैः \* उत्तरस्यां दिशि हृन्द्स्या उपदध्यात् । गायत्रे-  
त्वादिवु स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः । स्पष्टार्थं मन्यत् ॥ ६१ ॥

अथारा मपस्याना मङ्गुल्यात्मकत्वं माह — “ता एता अङ्गु-  
लय इति । “ता अस्याङ्गुलिभ्योऽध्यस्त्रवन्”-इत्युक्तत्वात् † ‘ताः’  
अपस्याः ‘अङ्गुलयः’ इत्यर्थः । उक्तं मेवाङ्गुल्यात्मकत्वं सुपपाद-  
यति — “ताः सर्वत उपदधातीत्यादिना । तच्च ‘नानोपद-  
धातीति , पृथक्-पृथगुपदधाति , उपधानमन्वाः पृथक्-पृथग्  
भवेयुरित्यर्थः । “सक्तदिति । पञ्चानां पञ्चानां सक्तत् सादन-  
मन्त्रः ; न तु उपधानमन्त्रवत् प्रतीष्टक मित्यर्थः । एवं च  
सति तदिष्टकानां स्वरूपं , समानसम्बन्धं करोति । ‘तस्मात्’  
अङ्गुलयः पञ्च ‘समानबन्धनाः’ एकस्मिन्नेव हस्ते पञ्च-पञ्च  
सम्बध्यन्त इत्यर्थः ॥ ६२ ॥ २ [५. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचितं माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमोऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हासं निवारयन् ।

पुमर्थाङ्गुरो देयाद् विद्यातीर्थमङ्गुलरः ॥ ५ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूर्वधौ स्वर्णगर्भम् ,  
 सप्तम्वीन् \* पञ्चसीरीं†-स्त्रिदशतस्तताधेनुसौवर्णभूमौः ।  
 रत्नीन् रत्नवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः ‡ सिङ्गणार्यौ § ,  
 व्याघ्रोद्विष्वक्चक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटश्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजम्बा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
 कार्पासोयं कृपावान् गुडकृत मज्जो ॥ राजतं राजपूष्यः ।  
 प्राण्योत्थं प्राण्यजम्बा ¶ लवणज मन्थः शार्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाब्जो रत्नरूपं गिरि मज्जत मुदा पात्रसात्सिङ्गणार्यः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्णप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः \*\* ॥

\* 'पञ्चम्वीन्'-इति ठ-पाठः । † 'सप्तसीरीं'-इति ठ-पाठः ।

‡ 'सायणः' स्यात् ?

§ स्यात् 'सिङ्गणार्यौ' ?

¶ 'मज्जो'-इति ठ-पाठः । \*\* 'प्राण्युद्विष्वक्'-इति ठ-पाठः ।

\*\* इत उत्तर मिह क-पुस्तके, "कलिकासङ्ख्या ७५"-इति, ख-पुस्तके-  
 "लवणजं" नास्ति, ग-घ-पुस्तकयोः "कलिकासङ्ख्या १००"-इति । तत्र  
 १ ब्रा० ३८ क०, २ ब्रा० ६१ क० । तदानीं सङ्कलनयास्मिन् प्रपाठके  
 १०० कलिकाः सन्त्यहन्ते ।

॥ इति इस्तिचटं नाम सप्तमं काण्डं \* समाप्तम् ॥

---

\* अथ सप्तमे काण्डे ब्राह्मणवचना द्वादश । तत्र प्रथमे प्रपाठके ४, द्वितीये ४७, तृतीये २, चतुर्थे २ । ० एतद् ब्राह्मणेषु कविकाः १६८ । तत्र प्रथमे प्रपाठके १०८, द्वितीये १०५, तृतीये ८५, चतुर्थे १०० । तदेतद्वर्गवृत्तयनजन काण्डे १९ ब्राह्मणानि भूतानि, तत्र च १६८ कविकाः चलीति चिह्नम् ।

